

मतादर्श

समाज विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

प्रधान संपादक
डा. बी. के. पाण्डेय
संपादक
शैलेन्द्र सेंगर

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी
दिल्ली-110089

वर्ष : 1 अंक : 3 □ अगस्त 2009

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डा. गिरीश मिश्र

प्रधान संपादक

डा. बी. के. पाण्डेय

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादन सहयोग

डॉ. आर. एन. कुंअर

डॉ. बामेश्वर सिंह

डॉ. विवेकानन्द शुक्ला

डॉ. रवीन्द्रनाथ राय

प्रो. राम अयोध्या सिंह

डॉ. नवल किशोर प्रसाद सिंह

डॉ. एम. के. पी. सिंह

राम लोचन सिंह

प्रबंध संपादक

डॉ. पी. आर. गौतम

समन्वय संपादक

डॉ. राघवेन्द्र किशोर

साज-सज्जा

मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

351, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-43015270, 64683387

e-mail : mekhalaparakashan@yahoo.com

मूल्य : रूपये 150.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

शिक्षा की भारतीय अवधारणा

प्राचीन भारतीय शिक्षा के संदर्भ के लिए सामान्यतः जो शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं, उनमें 'ज्ञान', 'विद्या' और 'शिक्षा' प्रमुख हैं। अरबी-फारसी में शायद 'इल्म', 'तालीम' और 'हुनर' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के अभिप्राय, संदर्भ और निहितार्थों में सूचना और कौशल, सत्य और न्याय, विज्ञान और नैतिकता, धर्म और चरित्र जैसी अवधारणाएं समाहित हैं। कुल मिलाकर कला और संस्कृति का एक व्यापक फलक इस तरह शिक्षा की परिधि में आ जाता है। शिक्षा की आधुनिक अवधारणा इस तुलना में अपेक्षाकृत सीमित और कई मामलों में तो संकीर्ण प्रतीत होती है।

प्राचीन काल में शिक्षा का प्रसार अत्यंत सीमित रहा, यह सर्वविदित तथ्य है। फिर भी शिक्षा की प्राचीन भारतीय अवधारणा आश्चर्यजनक रूप से समाज के बीच आज भी प्रचलित है। यह भी उल्लेखनीय है कि समाज शिक्षा के 'आधुनिक रूप' को संकीर्ण मानता है और संशय की दृष्टि से देखता है। यहां समाज से हमारा अभिप्राय व्यापक जन-समाज से है, जिसमें बहुसंख्य निरक्षर या कम पढ़े-लिखे तबके भी शामिल हैं जबकि आधुनिक शिक्षितवर्ग शिक्षा के आधुनिक अर्थ को वरीयता देता है और प्राचीन अवधारणा को व्यवहारिक नहीं पाता। यह अलग बात है कि यही शिक्षित वर्ग आधुनिक शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष में द्वैत देखता है और आधे-अधूरे रूप में ही शिक्षा को आत्मसात करता है, जबकि जनसाधारण 'शिक्षितों' की अहमन्यता और एकांगी आचरण से अक्सर संतुष्ट रहता है।

इस विचार के पीछे कुछ बातें रही हैं, जिन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है- ज्ञान को भारतीय जनसाधारण ऊंचा स्थान देता रहा है। इसके लिए सम्प्रदायों के बीच के संघर्ष देखे जा सकते हैं, जहां कोई सम्प्रदाय विशेष अपने धर्म में ज्ञान का उच्च स्तर साबित करने का प्रयास करता है। यहां धर्म की तरह ज्ञान को भी मुक्ति के साधन के रूप में देखा गया है। हालांकि ज्ञान की कई सारणियां अंततः पुनः धर्म के रहस्यलोक में खो जाती रही हैं।

व्यक्ति का चरित्र और उसका आचरण ही उसके शिक्षित होने का सबसे बड़ा साक्ष्य माना गया है। इस संदर्भ में विभाजित व्यक्तित्व सदैव गरिमा रहित और संशय से देखे गये हैं। व्यक्ति के आचरण का मापदंड सत्य और न्याय के प्रति उसका व्यवहार और रवैया रहा है।

सूचना की तुलना में अनुभव को वरीयता दी गई है। सूचना अपनी प्रामाणिकता अनुभव अथवा व्यवहार से पाती रही है। सूचना और अनुभव का संगत संयोग 'विद्या' का रूप लेता रहा है।

विज्ञान और तकनीक की संगति सामाजिक सापेक्षता और नैतिक पहलुओं से आँकी जाती रही है। बेशक इसके पीछे पाप और पुण्य की अवधारणा भी काम करती रही है।

लोक-ज्ञान शिक्षा से पृथक नहीं माना गया। इसकी व्यावहारिकता इसे 'विद्या' (कौशलबद्ध और तार्किकता) 'ज्ञान' का दर्जा दिलाता है।

संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों को भी महत्वपूर्ण दर्जा प्राप्त रहा है। शिक्षा और संस्कृति के संबंध बहुत प्रगाढ़ रहे हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षा का हर पक्ष 'संस्कृति' में मान्य था, लेकिन संस्कृति का हर पक्ष 'शिक्षा' है— यह जरूरी नहीं था। शिक्षा को सदैव सर्वोच्च, गरिमापूर्ण और गंभीर हैसियत मिलती रही, उसे कभी भी द्वितीयक या मनोरंजक वस्तु नहीं माना गया।

शिक्षा की प्रकृति इतनी भिन्न है कि इस उपक्रम से संबद्ध पेशेवर लोगों अर्थात् शिक्षकों से भी भिन्न अपेक्षाएं रखी गई हैं। 'गुरु' विषयक धारणाएं इसका प्रमाण हैं।

ऐसी ही अपेक्षाएं लगभग ज्ञान के भिन्न अनुशासनों में सक्रिय विशेषज्ञों, जैसे वैद्य, पशु चिकित्सक, मौसम वैज्ञानिक, औषधि, जादूगर के बारे में जानकारी रखने वालों से रही है, हालांकि उन्हें समाज में उतनी मानद हैसियत प्राप्त नहीं रही है।

शिक्षा के प्रवाहमान और जीवित स्वरूप को एक प्रक्रिया के रूप में मान्यता ज्यादा रही है। 'आंखिन देखी' अनुभव आधारित और 'कागद लेखी' : लिखित ही प्रमाण, विधाओं के मध्य द्वंद्व और सहयोजन की प्रक्रिया भी चलती रही है। शिक्षा में अंतर्निहित शक्ति और संभावनाओं को देखते इस पर एकाधिकार करने और वर्चस्व स्थापना में इसे इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियों का जनसाधारण ने सदैव प्रतिकार किया है। शिक्षा से स्वतंत्रता और मुक्ति की अवधारणाएं भी गहरे संबद्ध रही हैं।

बी. के. पाण्डेय

इस अंक में

इतिहास

- प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से स्वतंत्रता प्राप्ति तक मुस्लिम राजनीति की दशा एवं दिशा: एक अवलोकन: मो० इरशाद खॉ 9
- भारतीय इतिहास में राजा राममोहन राय की नारीवादी अवधारणा: पाकीजा वानों 12
- रोहतास किले का ऐतिहासिक महत्व : प्रमोद कुमार 15
- वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन: विश्लेषणात्मक अध्ययन (ई. पू. 1500-600 ई.पू.): संजय कुमार एवं अनिल कुमार मिश्रा 17
- मध्य बिहार के दलित नक्सलवादी: एक अवलोकन : शेखर कुमार 21
- सोवियत रूस पर जर्मनी के आक्रमण के बाद : कुमारी स्मृति चन्द्र 24
- मध्यकालीन भारतीय युद्ध प्रणाली—एक ऐतिहासिक समीक्षा : नन्द किशोर राम 26
- 1857 की क्रांति में कुंवर सिंह की भूमिका : पवन कुमार 29
- प्राचीन भारतीय फसल उगाही के लिए कृषि विधि और उपकरणों का अनुशीलन : डॉ० सुरेन्द्र कुमार 31
- वैदिक समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएं : राजकुमार प्रसाद 36
- सविनय अवज्ञा आन्दोलन में बिहार की महिलाओं का योगदान : महेश कुमार 40
- 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन और बिहार: अंजना कुमारी 43

राजनीति विज्ञान

- भारत में न्यायिक सक्रियता: एक समीक्षा : एहसान अहमद 46
- महिला सशक्तिकरण: प्रयास एवं चुनौतियाँ : डॉ. मनोज कुमार 49
- नक्सलवाद और मानवाधिकार : मुन्ना कुमार राम 53
- राजनीतिक दलों में लोकतांत्रिक व्यवस्था: एक विवेचन : डॉ. शाहजाद अहमद अंसारी 57
- समकालीन विश्व में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता: एक समीक्षात्मक अध्ययन : सुशील कुमार मंडल 60
- महिला सशक्तिकरण—दशा और दिशा : डॉ. अरविन्द कुमार, 62
- आधुनिक राज्य के विकास के चरण : डॉ. पंकज कुमार 65
- प्रभुसत्ता की अवधारणा : अखलाख अहमद 67
- भारतीय राजनीति में महिलाओं की बदलती भूमिका: एक विश्लेषण : डॉ० इकबाल इमाम 71

समाज शास्त्र

- “कन्या भ्रूण हत्या” एक समीक्षात्मक अध्ययन : कुमारी नूतन 74
- वर्तमान समय में पंचायतों के बदलते स्वरूप: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. अफरोज एकबाल 78
- साम्प्रदायिकता: उद्भव एवं विकास--एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण :
डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल एवं गजनफर आलम 81
- ग्रामीण सामाजिक विकास में पंचायतीराज की भूमिका: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण : मो. इरशाद अली 87
- भारतीय समाज में बालिकाओं का शोषण तथा भेदभाव : डा० रंजना एवं डा० लालेश्वर प्रसाद यादव 91
- भारत में महिला सशक्तिकरण: वायदे और क्रियान्वयन : सरिता कुमारी एवं डॉ० रूबी कुमारी 95
- बाल अपराध की प्रकृति : डॉ. अनुपम गौतम 99
- समाजीकरण की प्रकृति : रणवीर कुमार 102

भूगोल

- भारतीय कृषि: समस्या एवं संभावनाएँ : डॉ. अर्चना 104

गृह विज्ञान

- दहेज प्रथा: भारतीय परिवार व्यवस्था की एक समस्या : डा. पुष्पा कुमारी 107

शिक्षा

- पटना जिला के ग्रामीण क्षेत्रों में अध्ययनशील छात्र-छात्राओं के स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन :
राजेश वर्मा एवं रीता कुमारी 109

हिन्दी साहित्य

- राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दी की भूमिका : डॉ. रश्मि कुमारी 112
- विद्यापति की रचनाएं कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका की ऐतिहासिकता : मृत्युंजय कुमार सिंह 114
- भारत की भाषा समस्या और उसके संभावित समाधान : अनिल कुमार झा 117
- भूमंडलीकरण की चुनौतियां: संचार माध्यम और हिंदी का संदर्भ : पंकज कुमार तिवारी 120

दर्शन शास्त्र

- बी. जी. तिलक की दृष्टि में गीता-रहस्य : शैलेन्द्र कुमार सिंह 123

लोक प्रशासन

- विकास प्रशासन की अवधारणा : राजीव रंजन वर्मा 125
- भारत में नगर स्वशासन : सुनील कुमार सिंह 128

पुस्तकालय विज्ञान

- राष्ट्रीयता के विकास में सूचना विज्ञान की भूमिका : अर्चना प्रिया 133

POLITICAL SCIENCE

- E-Governance in India-Social and Legal Issues : Dr. Raghwendra Kishor 133

HISTORY

- Bhakti Cult as a socio-Religious Reform Movement : Moon Arif Rahman 136
- Formation of States (Mahajanpadas) in 600 BC : Pushpa Kumari 141
- Prehistoric Cultures in India : Dilip Kumar Yadav 143
- Arab Conquest of Sindh : Dr. Sunil Kumar 145
- Rise and Growth of Guptas : Kumar Sanjay Kishore 147
- Discovery, Chronology, Emergence and Geographical Spread of Harappan Civilization : Subodh Kumar Chaudhary 149
- Historical Sources of Mauryan Period : Shyam Kumar 151
- Post Mauryan Period : Dr. Jai Shankar Prasad 153
- The Greatness of Pala Empire : Pawan Kumar 155
- Rise of Tamil Bhakti Movement : Nand Kishor Ram 157
- The Glorious Sangam Literature : Rajiv Kumar 159
- The Evolution of Vaishnavism and Shaivism : Dr. Surendra Kumar Singh 162
- Post-gupta Kingdoms in North India : Ajit Kumar Singh 165
- Expansion of Aryans in India : Neeraj Kumar Tiwari 167
- Moksha in Jainism : Lakhindra Kumar 170

PSYCHOLOGY

- Theory of Multiple Intelligences : Manoranjan Rai 172

SOCIOLOGY

- Sociology of Conflict : Dr. Henna Tabassum 175

ECONOMICS

- **Higher Education & Sustainable Development : Dr. Chandrakant Singh** 177

COMMERCE

- **Global Recession : Opportunities and Challenges : A Theoretical Probe : Dr. Chandrama Singh** 180
- **Ethics in Small Business : A.R. Shafi** 184
- **Entrepreneurism During a Recession : Nitishwar Prasad** 186
- **Capital Management and Capital Budgeting : Fazal Ahmad** 188

MUSIC

- **Music : As an Art : Dr. Manisha Singh** 191

GEOGRAPHY

- **Narratives of Climate Change : Introduction : Md. Ehteshams Siddique** 193

EDUCATION

- **Non-formal Education : Md. Nurul Huda** 198

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से स्वतंत्रता प्राप्ति तक मुस्लिम राजनीति की दशा एवं दिशा: एक अवलोकन

मो० इरशाद खाँ

1857 का प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष भारतीय इतिहास का वह मोड़ था जहाँ अंग्रेजी सरकार को अपनी नीतियाँ बदलनी पड़ी। जबकि भारतीय जनमानस इस संघर्ष में मिली पराजय के सदमे से हताश-निराश नजर आता है। यह संग्राम भारतीय आजादी की लड़ाई में हिन्दू-मुस्लिम एकता की जबरदस्त मिसाल था। लेकिन इस संग्राम की विफलता ने इस एकता में दरारें पैदा कर दीं। अंग्रेजों को मिले व्यापक प्रतिरोध ने उन्हें यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के रहते उनकी सत्ता सुरक्षित नहीं है। 1857 के बाद अंग्रेजों ने कई कुटनीतिक कदम उठाते हुए साम्प्रदायिक विभेद उत्पन्न करने की नीति अपनायी। 1858 में कम्पनी की सत्ता ब्रिटिश संसद को हस्तांतरित कर दी गयी। साम्प्रदायिक विभेद की नीति की सफलता पर ब्रिटेन में भारतीय मामलों के 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' सर चार्ल्सवुड ने 3 मार्च 1862 को वायसराय लार्ड एलिंगन को एक पत्र में लिखा "हम हिन्दुओं व मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़ाकर अब तक सत्ता बचाये हुए हैं, हमें इसी नीति पर आगे चलना चाहिए।" इस संग्राम के बाद मुस्लिम नेतृत्व तीन धाराओं में बँट गया था। इनमें एक धारा उन मुसलमानों की थी जिन्होंने अंग्रेजों को अपराज्य मान लिया और उनके सहयोगी बन गये।

इनका उद्देश्य अपने लिए अधिकाधिक सरकारी सुविधाएँ प्राप्त करना था। ब्रिटिश सत्ता के सहयोगी इस धारा का नेतृत्व सैयद अहमद खाँ के अलावा नवाब, ताल्लुकदार, जमींदार और कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। 28 जुलाई 1859 को दिल्ली की जामा मस्जिद में हजारों मुसलमान विक्टोरिया को धन्यवाद देने एकत्रित हुए। मुसलमानों का यह वर्ग सैयद अहमद के अलीगढ़ आन्दोलन से जुड़ा था। सैयद अहमद खाँ शुरू में हिन्दु-मुस्लिम एकता व धर्मनिरपेक्षता के पक्षधर थे। 1883 में पटना में अपने भाषण में हिन्दु-मुस्लिम एकता पर बल देते हुए उर्दू को दोनों की साझी विरासत बताया। इसी भाषण में उन्होंने कहा था कि हिन्दुस्तान के निवासी चाहे हिन्दू, मुस्लिम, इसाई या सिख हों, वे एक राष्ट्र हैं। पंजाब में अपनी एक सभा में उन्होंने कहा कि "मेरी दृष्टि में हिन्दू शब्द किसी धर्म का द्योतक नहीं, वे सभी स्वयं को हिन्दू कहने के हकदार हैं जो हिन्दुस्तान में रहते हैं।"

सैयद अहमद खाँ की यह सदिच्छा अधिक दिनों तक नहीं चल सकी और जल्द ही वे अंग्रेजों की कुटनीति के शिकार हो गये। अलीगढ़ कॉलेज के अंग्रेज प्रिंसिपल थ्योडोर बेक के प्रभाव में आकर वे ब्रिटिश सत्ता के भक्त बन गये। तीस दिसम्बर 1893 को सैयद अहमद के घर हुए बैठक में 'मुहम्मदन एंग्लो-ओरिएंटल डिफेंस एसोसिएशन' का गठन किया गया। कई इतिहासकारों की मान्यता है कि यह संगठन सच्चे अर्थों में मुस्लिम लीग का पूर्वाधिकारी संगठन था।

दूसरी धारा का मुस्लिम नेतृत्व देवबंद स्कूल का था। इसमें ओलमा और धार्मिक नेता व मौलवी आदि शामिल थे। ये ब्रिटिश सरकार से समझौता करने के विरोधी थे और हर कीमत पर उन्हें देश से खदेड़ना चाहते थे। धार्मिक दिशा देने के उद्देश्य से 1867 में उलेमाओं ने सहारनपुर के देवबंद में एक मदरसा स्थापित किया था। देवबंद स्कूल के खास लोगों में मोहम्मद कासिम ननौतवी, अहमद गंगोही आदि मुख्य थे। 1885 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो गंगोही ने कांग्रेस का समर्थन करते हुए आजादी की पक्षधरता को व्यक्त किया। कुछ अन्य संगठन भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। इनमें 'जमीयतुल उलेमा' मुख्य था, जिसके प्रभाव के कारण अंग्रेजों के प्रोत्साहन पर गठित मुस्लिम लीग आरम्भ में आगे नहीं आ पायी। 1936 तक यही स्थिति रही, उसके बाद स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ। इसी तरह जमालुद्दीन अफगानी ने कलकत्ता में छात्रों को सम्बोधित करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। हैदराबाद में दिये अपने कई भाषणों में सैयद अहमद की आलोचना की। देवबंद और सैयद अहमद एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े थे। देवबंद कांग्रेस का समर्थक था जबकि सैयद अहमद ने कांग्रेस को हिन्दुओं का संगठन बताकर उसके विरुद्ध 'पैट्रियाटिक एसोसिएशन' की स्थापना की। मुस्लिम उलेमा ने पैट्रियाटिक एसोसिएशन के खिलाफ एक फतवा दिया जिसमें हिन्दुओं के साथ सहयोग के लिए मुसलमानों से अपील की गई। इस फतवे पर लगभग एक हजार मौलवियों के दस्तखत थे, इसे 'नुसरत अल अबरार' (खुदा की विजय) के शीर्षक से प्रकाशित किया गया और 1888 में इलाहाबाद की बैठक

में बाँटा गया। लेकिन यहाँ इस सच्चाई को ध्यान में रखना जरूरी है कि उलेमा वर्ग का अंग्रेजों के विरुद्ध कांग्रेस का साथ देना कोई देशभक्ति की निशानी के रूप में नहीं लेना चाहिए। वरन् वह इस कारण से था कि ब्रिटिश सत्ता की मुखालफत के किसी अवसर को वे हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। दरअसल, मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने मुस्लिम सत्ता के अवसान को मन से कभी स्वीकार नहीं किया। रशीद अहमद गंगोही ने शाह अब्दुल अजीज के फतवे का हवाला दिया था जिसमें भारत को 'दार-उल-हर्ब' घोषित किया गया था। इस तरह देवबंदी नेता अंग्रेजी सत्ता के विरोध की आग को सुलगाए रखना चाहते थे। वास्तव में ये नेता पुनरूत्थानवादी थे।

मुस्लिम नेतृत्व की एक तीसरी दिशा भी थी, वह भी राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं की। ये राष्ट्रीय जागरण में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के समय ऐसे राष्ट्रीयतावादी नेताओं को एक मंच मिला। कांग्रेस के 1887 के मद्रास अधिवेशन के लिए बदरुद्दीन तैयबजी अध्यक्ष चुने गये। लगभग उसी समय सैयद अहमद खाँ लखनऊ में (28 दिसम्बर, 1887) मुसलमानों की एक सभा को सम्बोधित कर रहे थे, जिसमें अवध के ताल्लुकदार, जमीनदार, वकील, व्यवसायी और सरकारी नौकर सभी तरह के लोग थे। वहाँ सैयद अहमद ने कहा कि कांग्रेस हिन्दूओं का संगठन है और हिन्दू और मुसलमान कभी भी एक नहीं हो सकते, ये दोनों भिन्न राष्ट्र हैं। कांग्रेस के आगामी अधिवेशनों में राष्ट्रवादी मुस्लिम प्रतिनिधियों की संख्या लगातार बढ़ती गयी। 1890 के छठे अधिवेशन में कुल डेलिगेट्स की संख्या 702 थी जबकि मुस्लिम डेलिगेट्स की संख्या 156 थी। कांग्रेस के स्थापना वर्ष में मुम्बई अधिवेशन में केवल दो मुसलमान डेलिगेट्स थे। 1857 के संघर्ष के बाद मुस्लिम राजनीति की ये तीन धाराएँ थी,

उनमें राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता अपेक्षाकृत अधिक उदार थे और उनकी देशभक्ति निर्विवाद थी। मुस्लिम जनता का एक बड़ा वर्ग इस धारा का समर्थक था।

मुस्लिम नेतृत्व के देवबंदी स्कूल का मकसद ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष की आग को सुलगाए रखना था। इसमें वे राष्ट्रवादी तत्वों की हिमायत करते थे, पर उनका असली मकसद पुनरूत्थानवादी था। पर जो भी अंदरूनी मकसद रहा हो सैयद अहमद और उनके गुट के दूसरे नेताओं-मोहसिन-उल-मुल्क, अब्दुल लतीफ खाँ, अमीर अली आदि से वे कहीं बेहतर थे।

जिस राजनीति के अगुआ सैयद अहमद खाँ थे, उस राजनीति की असल बागडोर ब्रिटिश हुक्मरानों के हाथ में थी। सर सैयद तो एक मोहरा भर थे। यह वर्ग अंग्रेजी सत्ता का समर्थक था। इसमें चूँकि नवाबों, ताल्लुकदारों और व्यवसायी और नौकरीपेशा लोग थे, इसलिए उनकी निगाह लेजिस्लेटिव काउंसिलों में सीटों, व्यवसायों अपेक्षाकृत उच्च नौकरियों और अन्य सरकारी सुविधाओं को प्राप्त करने पर थी। सर सैयद और उनके साथी अपने को आधुनिक सोच रखने वाले प्रगतिशील कहते थे, पर जहाँ तक उनके भाषणों, वक्तव्यों, लेखों और सोच का सवाल है, वे अंदर तक साम्प्रदायिक थे। इसे एक विडम्बना ही कहना चाहिए कि जिन धार्मिक नेताओं को फिरकापरस्त होना चाहिए था वे आधुनिक और प्रगतिशील कहे जाने वाले नेताओं से कहीं अधिक प्रगतिशील थे, भले ही यह प्रगतिशीलता इतिहास की प्रतिकूल परिस्थिति से पैदा हुई थी। एक रोचक तथ्य यह भी सामने आया है कि बाद के नेता मोहम्मद अली जिन्ना की मुस्लिम राजनीति की शतरंजी बिसात सैयद अहमद खाँ द्वारा प्रदान किये गये सूत्रों से ही तैयार हुई थी। इसके कई उदाहरण देखे जा सकते हैं।

जैसे—'कांग्रेस हिन्दुओं का संगठन है', यह बात सबसे पहले सैयद अहमद ने ही कही, जिसे बाद में मुस्लिम लीग को बढ़ाने और उसे कांग्रेस के समकक्ष खड़ा करने के लिए जिन्ना ने अपनाया। दूसरा सूत्र यह था कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं। द्विराष्ट्र की इस अवधारणा को सैयद अहमद खाँ ने कई भाषणों व पत्रों में व्यक्त किया था। यही सिद्धांत आगे चलकर भारत के विभाजन और पाकिस्तान के गठन का आधार बना। तीसरा सूत्र भाषायी साम्प्रदायिकता का था। सैयद अहमद ने 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट' एवं अपने पत्रों—'खुतूते सर सैयद' में लिखा कि 'उर्दू मुस्लिम कौम की पहचान है।' ऐसा कहकर वे उर्दू को हिन्दुओं से पृथक् करके मुस्लिम बर्चस्व के दायरे में ला रहे थे। चौधरी रहमत अली, जिन्ना और मुस्लिम लीग के पाकिस्तान आंदोलन में यह भी मुख्य मुद्दा था।

यह बड़ी विचित्र बात है कि पाकिस्तान बनने के बाद पूर्वी पाकिस्तान पर उर्दू के थोपे जाने के कारण बहुसंख्यक बांग्ला भाषी पूर्वी पाकिस्तान 'स्वतंत्र राष्ट्र' बांग्लादेश बन गया। इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि पाकिस्तान बनने के कई वर्षों बाद और उर्दू को मुस्लिम अस्मिता से जोड़ने के बावजूद मातृभाषा के रूप में वहाँ उर्दू भाषियों की संख्या बहुत कम है। 1961 की जनगणना के अनुसार वहाँ पंजाबी भाषियों की संख्या सर्वाधिक छियासठ प्रतिशत से अधिक है। जबकि सिन्धी, पुश्तो, बलोच आदि भाषाएँ उर्दू से अधिक बोली जाती हैं। इनके अलावा भी सैयद अहमद खाँ ने ऐसी कई बातें कहीं जिनके आधार पर वह एक साम्प्रदायिकता नेता अधिक दिखायी देते हैं। सैयद अहमद और जिन्ना में काफी समानताएँ थीं—दोनों प्रारंभ में धर्मनिरपेक्षता के समर्थक थे, परन्तु अपनी महत्वाकांक्षाओं के सागर में डूबकर

साम्प्रदायिक और अंगरेजों के हितैषी हो गये। जिन्ना वास्तविक अर्थों में सैयद अहमद खां के उत्तराधिकारी सिद्ध हुए, जिन्होंने भारत के विभाजन की न केवल परिस्थितियाँ बनायी, बल्कि विभाजन के सूत्रधार रहे।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 1857 का पहला स्वतंत्रता संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम एकता का अपूर्व उदाहरण होते हुए भी सांप्रदायिक सौहार्द की दिशा में बहुत आगे नहीं जा सका। हिन्दू-मुस्लिम एकता के खतरों को भांपते हुए अंग्रेजों ने इस एकता और सौहार्द की जड़ों को खोदना शुरू किया। दुर्भाग्यवश अंग्रेजों के बिछाये सियासी शतरंज की बिसात पर ऐसे मोहरे मिलते चले गये, जिससे उन्हें साम्राज्यवादी शह-मात के खेल में भारतीयों को मात देने में सफलता मिल गयी। सर सैयद अहमद और जिन्ना दो ऐसे मोहरे थे जो अंग्रेजों की फांस में एक बार आ गये तो फिर उससे बाहर निकल नहीं पाये। हालाँकि सीमित

अर्थों में राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दू प्रतीकों व त्योहारों से जोड़ने (गणपति पूजा व शिवाजी महोत्सव) के कारण भी सैयद अहमद व जिन्ना जैसे नेताओं को राष्ट्रीय आन्दोलन से विरक्ति हुई होगी। फिर भी जिन उद्देश्यों से पाकिस्तान का गठन हुआ वे असफल हो गये। पूर्वी पाकिस्तान टूट गया। मौजूदा पाकिस्तान पंजाब, सिंध व बलुचिस्तान की तिकड़ी के बीच झूल रहा है। जबकि भारत में इंडोनेशिया के बाद विश्व के मुसलमानों की दूसरी सबसे बड़ी आबादी रहती है, जिसकी राजनीति की दिशा, दशा और आधार पूर्णतः राष्ट्रवादी और मुख्यधारा की राजनीति है।

सन्दर्भ ग्रन्थ:-

1. इंडिया न्यूज, साप्ताहिक, 18 मई 2007, नई दिल्ली।
2. 'हिन्दुस्तानी मुसलमानों का जंगे आजादी में हिस्सा', सम्पादक सैयद इब्राहिम फिक्री, जामिया नगर, दिल्ली, 1999।

3. The Hindu, Friday, June 6, 2008, हरिश खरे का सम्पादकीय आलेख, The Indian Muslim And Their Linkage।
4. The Hindu, Wednesday, June 11, 2008, प्रवीण स्वामी का सम्पादकीय आलेख, The Soul of Islam in India।
5. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, नई दिल्ली, 1996, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
6. सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1992।
7. बी०एल० गोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली।
8. S.N. Sen, Eighteen fifty seven, Delhi, 1957
9. Rudranghsu Mukharjee, Awadh in Revolt 1857-58, Delhi, 1984
10. Bipin Chandra, Communalism in Modern India, New Delhi, 1987

यू०जी०सी० (नेट), इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

मुंशी प्रेमचन्द साहित्य

निर्मला	125.00	प्रतिज्ञा	125.00
अहंकार	150.00	सेवासदन	200.00
सद्गति	100.00	गबन	200.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	150.00	कफन	200.00
न्याय	100.00	गोदान	250.00
चांदी की डिबिया	100.00	वरदान	125.00
कलम, तलवार और त्याग	125.00	प्रेमाश्रम	300.00
चुनी हुई कहानियां	200.00	कर्मभूमि	225.00
नारी जीवन की कहानियां	200.00	रंगभूमि	350.00
होली का उपहार	150.00	मानसरोवर (भाग-1)	200.00
मानसरोवर (भाग 1 से 8)	1600.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053; फोन : 9811710900

भारतीय इतिहास में राजा राममोहन राय की नारीवादी अवधारणा

पाकीजा वानों

परिचय

राजा राममोहन राय आधुनिक भारत में जागरण के प्रमुखतम व्यक्ति थे। बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तथा मानव की गरिमा तथा सामाजिक समानता के सिद्धांतों को आधार बनाकर वे सामाजिक सुधार की दिशा में पहल करने वाले पहले व्यक्ति थे। इसीलिए उन्हें आधुनिक भारत का अग्रदूत कहा जाता है। अपने बड़े भाई की पत्नी को सती होते देख कर राजा राममोहन राय ने प्रतिज्ञा की कि इस घृणित प्रथा को बंद कराकर ही रहेंगे। वह अक्सर सती होने की घटना सुनते ही श्मशान भूमि पर जाते और लोगों को ऐसा करने से रोकने की कोशिश करते उन्होंने सरकार के पास सती-प्रथा के खिलाफ आवेदन पत्र ही नहीं भेजे बल्कि लेखों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपना संघर्ष जारी रखा। राजा राममोहन राय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सती-प्रथा न तो मानवीय है और न ही शास्त्र सम्मत है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य यह है, कि भारतीय इतिहास में राजा राममोहन राय ने महिलाओं को किस प्रकार से सुरक्षा दिया तथा उनके आत्मरक्षा हेतु उन्होंने क्या प्रयास किया? इस पर प्रकाश डाला गया है। दूसरी ओर उस समय की सबसे महत्वपूर्ण समस्या महिलाओं का उद्धार करना था। जिसमें राजा राममोहन राय कहाँ तक सफल हो सके इसको भी दर्शाया गया है। स्त्री-शिक्षा, कुरीतियों, महिलाओं का प्रतिनिधित्व, विधवा-विवाह आदि जैसी समस्याओं को राजा राममोहन राय ने किस प्रकार हल किया इस पर प्रकाश डाला गया है।

विश्लेषण

राजा राममोहन राय अपने देशवासियों में उस समय अविरत हुए जब उनके चारों ओर का वातावरण उन्हें पूर्ण रूप से अस्वीकार करता था। फिर भी वह ऐसे व्यक्ति सिद्ध हुए जिसकी हमारे इतिहास को गहन अंधकार में प्रतीक्षा थी। वस्तुतः श्री राय हिंदू धर्म को अंधविश्वास और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त कराने वाले धार्मिक पुर्णजागरण के अग्रदूत थे। महिलाओं के उत्थान में उनकी

भूमिका विशेष रूप से सराहनीय रही, जिसके लिए हमारा देश सदैव उनका ऋणी रहेगा। श्री राजा राममोहन राय ने सन 1829 ई. में जिस ब्रह्म-समाज नामक संस्था की स्थापना की थी उसका उद्देश्य धार्मिक अंधविश्वासों व सामाजिक रूढ़िवाद के दुष्चक्र में फंसे हुए भारतीय समाज को मुक्ति दिलाना था। रूढ़िग्रस्त तत्कालीन भारतीय समाज में नारी स्थिति अत्यंत दयनीय थी। सती-प्रथा, बाल-विवाह, कन्यावध, और विधवा पुनर्विवाह-निषेध, जैसी कुप्रथाओं ने उन्हें वस्तुतः समाज में दोगले दर्जे का नागरिक बना दिया था। पारिवारिक सम्पत्ति में उनका कोई हिस्सा नहीं था। वे न तो भली-भाँती शिक्षित थीं और न ही बेपर्दा होकर बाहर निकल सकती थीं। उनका दायरा घर की चारदीवारी तक सीमित था।

राजा राममोहन राय की सुधारवादी उत्कंठा इस रूढ़िग्रस्त सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहती थी। पर तत्कालीन भारतीय समाज इसके लिए तैयार नहीं था। भारतीय स्त्रियाँ एक स्वतंत्र माहौल में जी सकें, इस उद्देश्य से उन्होंने एक तरफ उनकी दयनीय सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक गतिशीलता को अवरूद्ध करने वाली समस्याओं एवं चुनौतियों यथा सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह आदि का विरोध किया। तो दूसरी तरफ विधवा-पुनर्विवाह संपत्ति में स्त्रियों के उत्तराधिकार स्त्री-शिक्षा आदि के पक्ष में प्रबल तर्क भी प्रस्तुत किए। वस्तुतः वे भारतीय नारी को आर्थिक व सामाजिक दोनों ही पक्षों से सशक्त करना चाहते थे। 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज के सम्मुख सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या महिलाओं का उद्धार करना था। राजा राममोहन राय इस बात से अवगत थे कि महिलाएं भारतीय समाज एवं जनसंख्या के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः जब तक महिलाएं पिछड़ी शोषित रहेगी तब तक संपूर्ण समाज की प्रगति व विकास संभव नहीं है। महिलाओं की स्थिति में सुधार ही सामाजिक परिवर्तन का मापदंड है, और यह सुधार महिलाओं के सम्मुख सामाजिक कुरीतियों को दमन करने से ही हो सकती है। राजा राममोहन राय द्वारा किए गए किसी भी सुधारात्मक कार्य का कट्टरपंथी विरोध करते थे। उन्होंने दो स्तरों पर सुधार कार्य करने का निश्चय किया। प्रथम यह कि विविध माध्यमों से ऐसे सुधारों के लिए आम जनता को मानसिक

रूप से तैयार किया जाए। दूसरे इस कार्य में अंग्रेजों की सहायता ली जाए। क्योंकि वे न केवल कानून बना सकते हैं। बल्कि उसके पालन कराने की पर्याप्त क्षमता भी रखते हैं।

भारतीय पूनर्जागरण व राष्ट्रवाद के प्रवर्तक राजा राममोहन राय को स्त्री स्वतंत्रता के अग्रदूत की उपाधि दी गई है। उन्होंने स्त्री-पुरुष समानाधिकार पर बल दिया, वे इस बात से सहमत नहीं थे कि स्त्रियों का ज्ञान पुरुषों के अपेक्षा सीमित होता है। इसके विपरीत उनका यह विचार था कि यदि महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर उपलब्ध कराए जाए तो वे किसी भी क्षेत्र में कम नहीं हैं। सदियों से उन्हें पढ़ने में रूकड़ और शिक्षा के अधिकार से वंचित कर उनके ज्ञान को सीमित व संकुचित कहना अनुचित व अन्यायपूर्ण है। स्त्री-शिक्षा पर बल देते हुए श्री राय ने प्राचीन भारत की महिलाओं से प्रेरणा लेने पर बल दिया है। उन्होंने वैदिक काल की लीलावती, गार्गी, अपाला, धोषा जैसी विदुषी महिलाओं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भारतीय महिलाओं को इस ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। उनका यह विचार था, कि स्त्रियों को शिक्षा का पूर्ण अधिकार दिया जाना आवश्यक है। जिससे उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का बड़ा ही सुंदर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनका यह मानना था कि ऐसा नहीं है, हिंदू विधवाएं किसी धार्मिक पूर्वाग्रह या पुरानी मान्यताओं से प्रभावित होकर अपने मृत पति की चिता पर अपनी आहूति दे देती हो। बल्कि वे अक्सर अपने ही बीच रहने वाली विधवाओं को उनके जीवन में तुच्छता और घोर अपमान सहते देखती, जिनके कारण वे पति की मृत्यु के बाद अपने जीवन और अस्तित्व के प्रति सशंकित व भयभीत हो जाती। इस असहाय अवस्था के

प्रभाव में जब वे उन्हें भविष्य में (स्वर्ग लोक में) पुरस्कार प्राप्त होने का लालच दिया जाता, वे स्वभावतः इस जघन्य अपराध को करने के लिए प्रेरित हो जाती हैं। यह राजा राममोहन राय के ही प्रयासों का परिणाम था कि लार्ड विलियम बेंटिक ने कानून बनाकर सती-प्रथा पर रोक लगा दी। 1832 में प्रीवी काउंसिल ने रूढ़िवादी हिंदुओं द्वारा प्रस्तुत अपील खारिज कर, सती-प्रथा निषेध कानून पर अंतिम रूप से मुहर लगा दी। सती-प्रथा के अलावा राजा राममोहन राय ने महिलाओं के उत्थान के लिए और भी कई कदम उठाए। उन्होंने बहुविवाह और बंगाल क्षेत्र में प्रचलित कुलीन-प्रथा, कन्या-विक्रय आदि कुरीतियों के विरुद्ध आत्मीय सभा की बैठकों में और अपनी पत्र-पत्रिकाओं में लेखों द्वारा जनता के विचारों और भावनाओं को मोड़ने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी।

इतना ही नहीं, श्री राय का यह पूरा प्रयास रहा कि भारतीय नारी को सम्पत्ति का अधिकार मिल सके, जिससे वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर सके। इसके लिए उन्होंने उत्तराधिकार कानून में सुधार हेतु आंदोलन चलाने का बीड़ा उठाया। प्रचलित कानून के अनुसार नारी को अपने पति और पिता की संपत्ति में कोई अधिकार नहीं था। राजा राममोहन राय ने प्रचलित स्मृति शास्त्रों की सहायता से प्रमाणित किया कि स्त्री को पुरुष के समान ही सम्पत्तिक उत्तराधिकार प्राप्त होना चाहिए। उनका मानना था कि नारी को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित करना ही सामाजिक बुराइयों की जड़ है। उन्होंने जनता के बीच इस अन्याय के विरुद्ध जागृति फैलाने की कोशिश की। तत्कालीन समाज में बाल-विवाह, बेमेल-विवाह आदि कारणों से विधवाओं की एक बड़ी संख्या थी, उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी। यह राजा राममोहन राय के प्रयासों का ही फल था कि 1856 में

विधवा पुनर्विवाह को कानूनी स्वीकृति मिली।

श्री राजा राममोहन राय ने स्पष्ट कहा कि आधुनिक कानून के अनुसार विधा माताओं और सौतेली माताओं दोनों को ही पति की संपत्ति के बंटवारे में कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसी कानून का सहारा लेकर हिंदुओं में बहु-विवाह की प्रथा चली क्योंकि पुरुषों को पता था कि उन्हें, अपनी संपत्ति का कोई भाग नहीं देना होगा। आगे चलकर ब्रह्म-समाज के ही सदस्य ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह को सामाजिक मान्यता दिलाने में सफलता प्राप्त की। श्री राय का अपने सुधारात्मक कार्यों के लिए लोगों से जितना सहयोग मिला, उससे कहीं अधिक विरोध का सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए सती-दाह पर कानून रोक लगने पर रूढ़िवादी हिंदुओं में भारी रोष फैल गया। बंगाल ही नहीं, सारे देश में इसकी गूंज फैली। उनको और उनके साथियों को समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। उनके विरुद्ध हत्या का ङाडयंत्र रचा गया, किंतु वे निडर होकर अपने स्वाभाविक कार्य-कलाप में लगे रहे।

राजा राममोहन राय ने निचले स्तर के ब्राह्मणों और कुछ कायस्थों में प्रचलित कुलीन प्रथा और कन्या-विक्रय जैसी प्रचलित सामाजिक कलंक के विरुद्ध भी आंदोलन चलाया। उन्होंने बहुविवाह का सख्त विरोध किया। इस विषय में उनका विचार था कि सरकारी अनुमति के बिना किसी को एक पत्नी के जीवित रहते दूसरे विवाह की अनुमति न दी जाए। इस विषय में उन्होंने मनुसंहिता और याज्ञवल्क्य से उद्धृत करके अपने तर्क की पुष्टि करते हुए दिखाया कि बहुविवाह प्रथा हिंदू शास्त्रों के विरुद्ध है। इसलिए राजा राममोहन राय का यह सुझाव था कि मजिस्ट्रेट या सरकारी अफसर को कानूनी अधिकार दिया जाए कि वे आवेदन पत्र के आधार पर केवल प्रमाणित होने पर ही दूसरे विवाह की अनुमति दें। इस प्रकार

नारी जाति को दुर्गति से राहत मिलेगी और आत्महत्याओं की संख्या में भी कमी आएगी। एक प्रखर पत्रकार के रूप में भी राजा राममोहन राय ने स्त्री-उत्थान के लिए आवाज उठाई। नारीवादी सोच के तहत राजा राममोहन राय का यह मानना था कि महिलाओं की स्थिति में तब तक कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक उनकी शिक्षा समग्र तरीके से न हो। उन्होंने आधुनिक पश्चिमी शिक्षा को सभी प्रकार की सामाजिक संकीर्णताओं के विरुद्ध एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया। श्री राय का मानना था कि शिक्षा ही वक्त की सबसे बड़ी आवश्यकता है और इसका प्रारंभ महिलाओं और समाज के सबसे निचले वर्ग से करना चाहिए।

निष्कर्ष:-

यद्यपि आज भारत में नारी-स्थिति में सुधार हेतु अनेकानेक कानून बन तो गए हैं फिर भी रूपकंवर, कुट्टुबाई जैसी महिलाएं

सती हो रही है और सती-स्थल पर फूल माला आदि को चढ़ाया जा रहा है। आज भी भारतीय नारी दहेज की आग में झोंकी जा रही है, कन्या शिक्षा के संकुचित दायरे को अपनाया जा रहा है और अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया जा रहा है। यौन शोषण, जैसी घृणित घटनाओं ने महिलाओं को एक ऐसे दलित वर्ग के रूप में लाकर खड़ा कर दिया है जहां वे अपने ही अस्तित्व के प्रति सशक्ति हो गई हैं। परिणामस्वरूप कन्या-वध जैसी घटनाएं दिनों दिन बढ़ती चली जा रही हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में राजा राममोहन राय की नारीवादी धारणा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी उनके जीवन काल में थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष-विपिन चन्द्र, नई दिल्ली 2003।
2. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आंदोलन-वी. एल. ग़ोवर एस. चांद एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली 2001।

3. आधुनिक भारत सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-1999।
4. द इण्डियन मियूटीनी एण्ड द ब्रिटिश इमैनिजेशन-गौतम चक्रवर्ती. फाउंडेशन बुक्स, नई दिल्ली-2006।
5. भारत का इतिहास-रोमिला थापर।
6. कल्चर एण्ड कंजम्पशन, फिक्सन, दी रीडिंग पब्लिक एण्ड दी ब्रिटिश नॉवेल इन कोलोनियल इंडिया-प्रिया जोशी।
7. मोडर्न इंडियन हिस्ट्री-वी. डी. महाजन।
8. कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मोडर्न इंडिया एम. मेनन।
9. हिस्ट्री एण्ड हुयूमेन रिलेशन-1951 एच. वटरफिल्ड।
10. आधुनिक भारत-एल. पी. शर्मा।
11. भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-ए. के. मित्तल।
12. दि इंडियन मॉडरेट्स एण्ड दि ब्रिटिश राज-वी. आर. नंदा।
13. इंडियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफॉर्म-प्रिंस्टन, (1964)-सी. एच. हाइमथथ।

शोधार्थी (इतिहास विभाग),
वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा।

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

रोहतास किले का ऐतिहासिक महत्व

प्रमोद कुमार

रोहतास किला कैमूर की पहाड़ी श्रृंखला पर बना भव्य भवन है। रोहतास किले आधुनिक बिहार के रोहतास जिले में अवस्थित है। सासाराम से 24 मील दक्षिण और डेहरी-आन-सोन के करीब 30 मील की दूरी पर स्थित है। अकबरपुर नामक गाँव से रोहतास किले पर जाने का रास्ता है।

रोहतास किले का बिहार के राजनीति में विशेष स्थान रखता है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक इस किले ने राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रोहतास किले का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने से पता चलता है कि इसके साक्ष्य पुराणों से ही मिलने शुरू हो जाते हैं। पुराणों में वर्णित रोहतासपुर नाम का वर्णन है जाँ रोहतासगढ़ से अत्यंत साम्य रखता है।¹

अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहतास से जोड़ा जाता है। कुछ इतिहासकारों ने इस संबंध में मान्यता प्रदान की है।² पुराणों में विशेषकर स्कन्द पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, पद्मपुराण, देवी भागवत, हातेकेश्वर महात्म्य, महाभारत और ऐतरेय ब्राह्मण में कैमूर की पहाड़ी माना गया है जिसका नामाकरण भविष्य में रोहतास पड़ा होगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रोहतास किले का साक्ष्य प्राचीन काल से ही मिलने लगा।

महाभारत के अध्ययन से ऐसा मालूम पड़ता है कि उस अवधि में रोहित वन स्वतंत्र था और यहाँ के वीर के कौरवों की सेना की शोभा बढ़ाई थी जबकि करुण और काशी जो रोहित वन के पास के जनपद थे पाण्डवों के सहयोगी थे।³

बौद्ध और जैन ग्रंथों में रोहतास किले का वर्णन नहीं मिलता है। इस किले का इतिहास बहुत दिनों के लिए धुंधला पड़ जाता है क्योंकि बौद्ध काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इस क्षेत्र के बौद्ध और जैन मंदिरों और स्तंभों के अभाव के कारण इस किले की इतिहास की जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

रोहतास किले के निर्माण के संबंध में अनेक पौराणिक के अतिरिक्त एक लोक कथा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक भर (भर्ग) राजा शोणभद्र के समीप रोहतासगढ़ से रीवा तक राज्य करता था। उसी ने इस किले का निर्माण करवाया था जो तीन राजपूत भाइयों द्वारा मारा गया। उसका राज्य तीन भागों में बाँट दिया गया।⁴ एक अन्य जनश्रुति के अनुसार आर्यों के इस प्रदेश में आने के पूर्व यह चेरों राजा के अधीन था जो सवार (सवाई या

सूइर्स) के द्वारा पराजित हुआ। किन्तु सावर वंश का शाहाबाद जिला में कहीं पता नहीं चलता है।⁶ अर्राँवों का कथन है कि एक समय वे रोहतास से पटना तक छाये हुए थे। उन्हें क्षत्रियों ने पराजित किया और रोहतास किले से निष्कासित कर दिया।⁷

चार अभिलेखों के आधार पर खरवारों ने रोहतास किले के वास्तविक अधिकारी अपने आप को बताया है।

फुलवार घाट के पास शिलालेख से जानकारी प्राप्त होता है कि जपला का प्रधान बहुत प्रभावशाली शासक था। उसने एक सड़क का निर्माण किया। सासाराम शहर से डेढ़ मील पूरब ताराचण्डी गुफा के पास एक शिलालेख मिला है तुतला भवानी के पास एक और शिलालेख है जो तिलौथ स्टेशन के समीप है। उड़ीसा और छोटानागपुर के पठार के प्रदेश में खरवार वंश ने शासन स्थापित किया। उसकी वंश के राजा प्रताप धवन ने रोहतास किले में स्वतंत्र शासन की स्थापना किया और शाहाबाद का दक्षिण भाग उसके अधीन था। सोनघाटी के जंगली प्रदेश का प्रबल राजा था। छोटानागपुर और पलामू तथा रोहतास के घने जंगलों को आदिवासी बनवासी अपने शासन के अधीन रखा। रोहतास किले के पश्चिमी द्वार पर लाल दरवाजा के पास चौथा लेख प्राप्त हुआ।

इन चारों अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतापधवल खरवार वंश का राजा था। प्रो० किलहोर्नर ने इस बात की पुष्टि की है कि वह खरवारा राजा था।⁸

शेरशाह के छल नीति के कारण रोहतास किले पर उसने अधिकार कर लिया। यहाँ से अपना राजनीतिक गतिविधियाँ प्रारंभ किया। तारीख-ए-शेरशाही के अनुसार⁹ जब शेरशाह सहसराम का शासक बना तो उस समय वह भोजपुरी जवानों के बल पर हुमायूँ की सेना को गहरी चोटे दे रहा था। शेरशाह ने रोहतास किले पर आक्रमण कर अपने अधिकार में लेना था। उसने सुन था कि वहाँ अपार धन है। मुगलों की सेना से युद्ध शुरू था, शेरशाह मुगल सेना को हरा नहीं सकता था क्योंकि मुगल सेना के पास पर्याप्त साधन थे। रोहतास घनाघोर जंगलों के कारण रोहतास का हिन्दू राजा आक्रमण से बचा हुआ था। शेरशाह ने कपट नीति अपनाते हुए राजदूत को हिन्दू राजा के पास भेजकर निवेदन कराया कि चुनार उसके हाथ से निकल गया है। शेरशाह युद्ध बन्द नहीं करना चाहता था क्योंकि मुगल रोहतास किले को अपने अधिकार में ले लेंगे। शेरशाह ने घोषणा कराया कि वह बंगाल की ओर जा रहा है। शेरशाह के खजाने, बाल बच्चों तथा हरम के स्त्रियों को शरण दे।

हिन्दू शासक ने शेरशाह की बात में आ गया और एक हजार डोलियाँ रवाना हुईं। डोलियों में अफगान सैनिक थे जो रोहतास किले में प्रवेश करते ही आक्रमण कर दिये। आसानी से हिन्दू राजा और रानी को मौत के घाट उतार कर अपने अधिकार में ले लिये।

रोहतास किले का ही श्रेय था शेरशाह दिल्ली के तख्त का मालिक बन बैठा क्योंकि उसकी विजय में किले का खजाना ही एकमात्र सहायक सिद्ध हुआ।¹⁰

अकबर के शासन काल में पूर्वी प्रदेश का गवर्नर मानसिंह को नियुक्त किया गया। रोहतास किले का उल्लेख आइने अकबरी में मिलता है। अकबर के शासनकाल में रोहतास सरकार का निर्माण हुआ। मालगुजारी से बड़ी मात्रा में धन प्राप्त हुआ। 1658 ई० में सूजा खाँ के शासनकाल में रोहतास सरकार को दो भाग में विभाजित कर दिया गया। एक का नाम रोहतास और दूसरे का नाम भोजपुर पड़ा। शाहजहाँ के काल में रोहतास के गवर्नर ने शाहजहाँ के परिवार की रक्षा की थी। जहाँगीर के शासनकाल में एक किलेदार की मृत्यु हो गई उसके उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष हो गया। इनमें से एक फूटकर दिल्ली पहुँच गया और जहाँगीर के सामने अपनी सिफारिश किया। जहाँगीर ने उसे किलेदार नियुक्त किया। अकबरपुर से छः मील दक्षिण दारा शिकोह ने दारा नगर बसाया। वह भी बहुत दिनों तक रोहतास में रहा। औरंगजेब के शासनकाल में उसने रोहतास में मन्दिर को तोड़वा दिया उस जगह पर मस्जिद बनवाई।

बक्सर युद्ध के बाद शाहाबाद पर जिसमें रोहतास भी शामिल था अंग्रेजों का अधिकार हो गया। कुछ रूपयों के लालच में रोहतास के दीवान ने अंग्रेजों को सौंप दिया। टेकारी से आये कर्नल गोडाई ने किले पर अधिकार कर लिया।¹¹

1857 की क्रांति में रोहतास किला ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1857 के संग्राम में रोहतास किला स्वतंत्र हो गया। जब मेजर विंसेन्ट आयर ने आरा शहर पर अधिकार कर लिया तो कुँवर सिंह नोखा होते हुए रोहतास पहुँचे। कैमूर की पहाड़ी पर अपना अड्डा बनाकर युद्ध करने का निर्णय लिये। कुँवर सिंह को वहाँ की प्रजा का सहयोग प्राप्त हुआ। हिन्दू और मुस्लिम के बीच एकता स्थापित हुआ। कुँवर सिंह की राजधानी जगदीशपुर से रोहतास हो गई।

1857 के स्वतंत्रता आन्दोलन में कुँवर सिंह के दिवंगत होने के बाद उनके भाई अमर सिंह के नेतृत्व में कुँवर सिंह की फौज ने रोहतास किले में पनाह लेकर अपना आन्दोलन चलाया। 62वाँ स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर रोहतास जिले के प्रशासन ने राष्ट्रीय तिरंगा फहराया गया।

संदर्भ ग्रंथ -

1. विद्यालंकार जचयंद्र, बिहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन, लहेरियासराय, 1940, पृ०32
2. आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया: न्यू इम्पीरियल सरिज भाग 21, पृ० 16-176
3. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध 9,7/1-27
4. महाभारत अद्योग पर्व, 115/ 20-21 और 67
5. सिंह जगन्नाथ, रोहतासगढ़, इलाहाबाद, 1966, पृ० 26
6. वही।
7. वही
8. एपीग्राफिक इंडिका, भाग 4, पृ० 311
9. सरवानी अब्बास खान, तारीख-ए-शेरशाही (संपादक जान डाउसन) पृ० 73-78
10. सिंह जगन्नाथ, पूर्वोद्धृत, पृ० 29
11. चौधरी राय, डिस्ट्रीक्ट गजेटियर आफ शाहाबाद, पृ० 346

स्नातकोत्तर-इतिहास, यू.जी.सी.
नेट, शोध प्रज्ञ -छात्र, नालन्दा खुला
विश्वविद्यालय, पटना।

प्रबंध, रहन-सहन एवं अभिप्रेरण साहित्य

धन प्राप्ति के अनुपम सूत्र	सी. रंजन 200.00
स्वयं को पहचानें	ओरिसन स्वेट मार्डेन 150.00
भाग्य स्वयं बनाएं	स्वेट मार्डेन 150.00
गृह व्यवस्था	अमर रस्तोगी 200.00
वास्तु एवं सुख संपदा	सी. रंजन 200.00
फेंगशुई से सुख वैभव	सी. रंजन 200.00
क्रय शक्ति प्रबन्ध	सुमन शर्मा 150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन: विश्लेषणात्मक अध्ययन (ई. पू. 1500-600 ई.पू.)

संजय कुमार एवं अनिल कुमार मिश्रा

Abstract

सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हम सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम वैदिक काल के नाम से जानते हैं। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी आर्य सभ्यता का नाम भी दिया जाता है। वैदिक साहित्य का अर्थ उस विपुल साहित्य से है, जिसके अन्तर्गत चारों वेदों ऋक्, साम, यजु एवं अथर्व की संहिताएँ अर्थात् मंत्र खंड ही नहीं अपितु गद्य एवं दार्शनिक खंड अर्थात् विभिन्न ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषद् भी आते हैं। हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बड़ा श्रोत वैदिक साहित्य है। यह माना जाता है, कि वेदों का कोई रचयिता नहीं था। अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभूति ऋषियों को हुई थी, जिसको उन्होंने शब्दों में लिख लिया था। वैदिक साहित्य के आधार इस काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार थी, उसकी जानकारी प्राप्त होती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में यह दर्शाया गया है कि वैदिक युग के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति क्या थी। दूसरी ओर वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित भारत पर प्रकाश डाला गया है और अंत में यह भी दर्शाया गया है कि वैदिक युग में विभिन्न आचार्यों की क्या भूमिका थी।

परिचय:

वैदिक युग (1500 ई. पू. से 600 ई. पू.) भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग है। हमारे वर्तमान संस्कृति की शुरुआत इसी युग से होती है और हमारी बहुत सारी परम्पराएँ भी इसी युग से प्रारम्भ होती हैं। वैदिक साहित्य के आधार पर हम इस युग को दो भागों में बाँटते हैं। - (i) ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता और (ii) उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता। ऋग्वैदिक सभ्यता का काल 1500 ई. पू. से 1000 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में मुख्यतः ऋग्वेद की रचना हुई। उत्तर वैदिक काल 1000 ई. पू. से 600 ई. पू. के बीच माना जाता है और इस काल में तीन वेदों-यजुर्वेद,

अथर्ववेद और सामवेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रंथों एवं उपनिषद् की रचना हुई। ऋग्वैदिक काल में जहाँ एक ओर राज्य संस्थान का विकास नहीं हुआ था, समाज का स्वरूप कबीलाई किस्म का था, कृषि से अधिक महत्वपूर्ण पशुपालन था तथा धर्म में सरलता थी, वहीं दूसरी ओर उत्तर वैदिक काल में राज्य संस्थान का विकास हुआ, वर्ण विभाजित समाज का गठन हुआ, कृषि की महत्ता बढ़ी एवं धार्मिक क्षेत्र में कर्मकाण्ड की जटिलता उत्पन्न हुई।

अध्ययन उद्देश्य:

प्रस्तुत अध्ययन 'वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन: विश्लेषणात्मक अध्ययन' को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है:-

- भारत शब्द का आशय किस भौगोलिक क्षेत्र से है।
- वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी।
- वैदिक कालीन सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था कैसी थी।
- वैदिक कालीन राजनीतिक जीवन किस प्रकार की थी।
- वैदिक काल एवं उत्तर-वैदिक काल में तुलनात्मक अध्ययन।
- वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की विशेषताओं को आज के संदर्भ में प्रतिबिम्बित करना।
- वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की कमियों पर प्रकाश डालना। आदि।

अध्ययन पद्धति:

- प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक श्रोतों के तहत विभिन्न पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से संबंधित विभिन्न मानक पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं एवं आलेखों का सहारा लिया गया है।
- प्रस्तुत शोध-अध्ययन में प्रमुख इतिहासविद् से इस विषय पर परिचर्चा की गयी है तथा उससे प्राप्त तथ्यों को प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

विश्लेषण: -

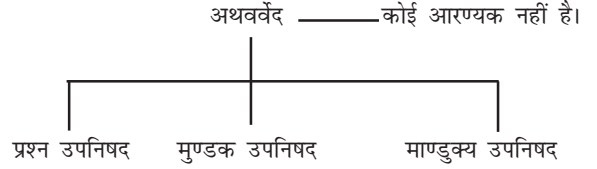
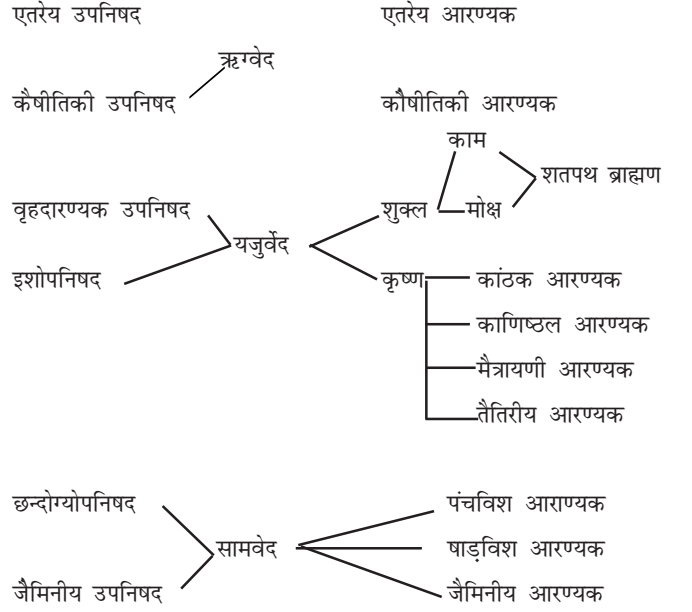
सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हमें सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम "वैदिक काल" के नाम से जानते हैं। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी "आर्य सभ्यता" का नाम भी दिया जाता है। वैदिक सभ्यता का निर्माण आर्यों ने किया। इन आर्यों के मूल निवास स्थान का प्रश्न विवादास्पद है। अभी तक इस विषय में कोई सर्वस्वीकृत धारणा नहीं है। इतिहास, भाषा विज्ञान नस्ल, पुरातत्व संबंधी खोजों आदि के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने भारत, मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि को आर्यों का मूल निवास स्थान बताया है। ऋग्वेद में जिस भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन है उसे सप्त सिन्धु कहते हैं। इसमें सिन्धु नदी तथा उसकी पश्चिमी सहायक नदियों एवं सरस्वती आदि बहती थी। सहायक नदियों में गोमती, क्रमु (कुरम), कुंभा (काबुल), सुवास्तु, यदु, सतुद्री इत्यादि का उल्लेख है। ऋग्वेद में गंगा और यमुना की भी चर्चा है, किन्तु इनका उल्लेख प्रायः नग्न्य है। उत्तर-वैदिक काल में भौगोलिक क्षितिज का विस्तार हो गया था और उस समय सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र गंगा-यमुना का दोआब तथा कुरू-पंचाल जनपद का क्षेत्र बन गया था। कुछ पूर्वी क्षेत्रों जैसे कि कोशल काशी विदेह इत्यादि की भी चर्चा उत्तर-वैदिक साहित्य में मिलती है।

वैदिक साहित्य:-

हमारी सभ्यता संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बड़ा श्रोत वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ चार हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद का अर्थ है ज्ञान। यह माना जाता है कि वेदों का कोई रचयिता नहीं था, अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभूति ऋषियों को हुई थी, जिसको उन्होंने शब्दों में लिख लिया था। भारतीय विद्वानों का मत है कि इन संहिताओं में जो मंत्र क्रिया गया है, उनकी अनुभूति ऋषियों को स्वयं ईश्वर से हुई थी, परंतु जिन शब्दों में प्राप्त ज्ञान को व्यक्त किया गया वे अवश्य आर्यों ने अपने प्रारंभ के जीवन में किस प्रकार समाज का विकास किया (धर्म, दर्शन ज्ञान, विज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्रों में क्या प्रगति की इस सब की जानकारी हमें ऋग्वेद से मिलती है। सांस्कृतिक दृष्टि से ऋग्वेद का बड़ा महत्व है। इस ग्रंथ से उस समय के लोगों के आचार विचार, रहन-सहन, नीति, सदाचार तथा सामाजिक जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म, और उपासना ये तीन सीढियाँ हैं। यजुर्वेद में यज्ञीय कर्मकाण्ड और विधि-विधान का उल्लेख है। मानव मात्र के कल्याण का रहस्य यजुर्वेद के मंत्रों में निहित है। सामवेद में यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले मंत्रों का

संग्रह है। इसमें कुल 1549 ऋचायें हैं जिनमें 78 ही नई हैं, शेष ऋग्वेद से ली गई हैं। वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से अथर्ववेद को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अथर्ववेद में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, स्तुति, औषधि आदि अनेक विषयों का समावेश है।

वैदिक कालिन साहित्य:-



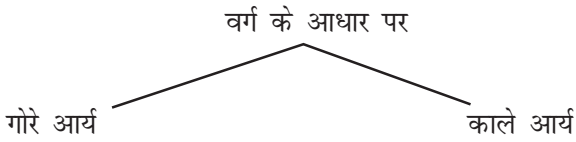
वैदिक काल (सामाजिक जीवन):-

प्रारंभ आर्य लोग तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे-योद्धा, पुरोहित एवं सर्व-साधारण बाद में शुद्र मिलाकर इनकी संख्या चार हो गई। आर्य भारत आने के पहले से ही वर्ण व्यवस्था से परिचित थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य किसी जाति विशेष से नहीं जुड़ा था। परिवार का ही कोई वरिष्ठ पुरुष देवताओं की प्रार्थना के लिए नियत होता था। परिवार समाज की प्रमुख इकाई थी परिवार का मुखिया पिता होता था। अतः पितृसत्तात्मक परिवार की अवधारणा थी। व्यक्ति की पहचान कुल या गोत्र से होती थी। अपने जन के प्रति लोगों की असीम आस्था होती थी। आर्य परिवार में पुत्र जन्म का स्वागत किया जाता था, परन्तु समाज में नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। धार्मिक कृत्यों, सामाजिक उत्सवों एवं समारोहों में तथा सभा और समिति में वे भाग ले सकती थीं। घोषा, लोपामुद्रा आदि उस काल की विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने ऋग्वेद की मंत्र रचना में अपना योगदान दिया था।

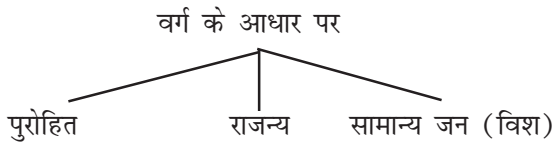
वाल-विवाह का चलन नहीं था तथा अपना वर चुनने का स्त्रियों को अधिकार था। दहेज और वधू-मूल्य दोनों प्रथाएँ प्रचलित थी। विधवा विवाह पर प्रतिबंध नहीं था। पर्दा का चलन तथा सतीप्रथा की कोई चर्चा नहीं मिलती है। कुल मिलाकर इस काल के नारी की स्थिति अत्यंत संतोषजनक थी। उत्तर-वैदिक युग में ही आर्यों ने अपने जीवन को आश्रमों में विभक्त किया ये चार थे। ब्राह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमों का मूलाधार था। प्रारंभिक आर्यों के धार्मिक विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर केन्द्रित थे अतः प्राखृतिक धटनाओं के लिए उन्होंने अलग-अलग देवताओं की कल्पना की। इस तरह वे अनेक देवताओं और देवियों की उपासना करने लगे।

सामाजिक विभाजन:-

1 प्रथम विभाजन -



2 द्वितीय विभाजन-



अन्त में चार वर्ग आए (जावालपनिपद् 10वे मण्डल के 90वाँ पुरुष सुक्त में)

1. ब्राह्मण, 2. क्षत्रीय, 3. वैश्य, 4. शूद्र ।

वैदिक काल (आर्थिक जीवन):-

ऋग्वैदिक काल में कृषि एवं पशुपालन जीवन के महत्वपूर्ण आधार थे। गाय, बैल, धोड़े, खच्चर, भेड़, कुत्ते आदि पालतू जानवर थे। ऋग्वेद के मंत्रों में जौ और 'धोड़ों' को धन कहा गया है, और इस धन के लिए बार-बार प्रार्थना की गई है। ऋग्वैदिक आर्य पशुपालक मात्र नहीं थे, उन्हें खेती कि भी जानकारी थी। वर्षा से सिंचाई तों होती थी, कुओं और नदी नालों से भी सिंचाई के प्रमाण मिले हैं। वे लोग खाद के महत्व से भी परिचित थे।

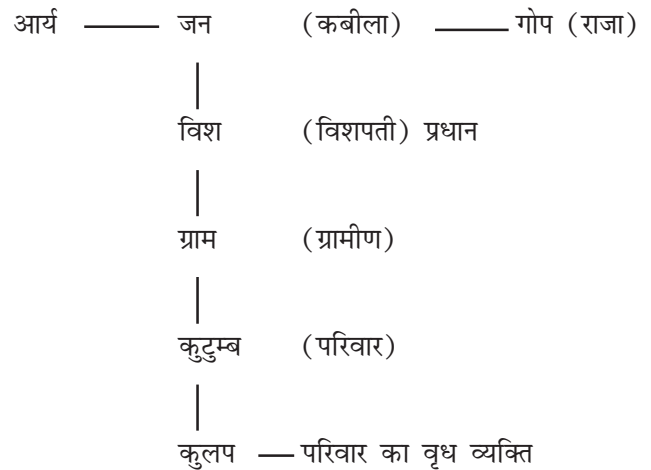
उत्तर-वैदिक काल में आर्यों के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। आर्थिक विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करनेवाले तत्वों में लोहे का प्रयोग इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। लोहा, ताँबा और काँसा से अधिक कठोर धातु है इसलिए लोहे के हथियार और औजारों की उपयोगिता अधिक थी। श्रम करना गलत नहीं समझा जाता था। प्राचीन आख्यानों में इस बात की चर्चा है कि राजा जनक ने खुद हल चलाया था।

ऋग्वेद में केवल एक ही अनाज जौ और गेहूँ की चर्चा है। परन्तु उत्तर-वैदिक साहित्य में अनाज के अधिक किस्मों का उल्लेख है। इस समय तक आर्य चावल, गेहूँ और जौ उपजाने लगे थे। यजुर्वेद में शिल्पों और घंधों की एक लम्बी सूची दी गई है। इसमें लोहार, बढई, बुनकर, चर्मकार, रंगसाज, कुम्हार आदि के नामों का उल्लेख है। ताँबा, काँसा और लोहा के वर्तन बनाए जाते थे। 'शतमान' और 'निष्क' संभवतः निश्चित मानवाली मुद्राओं के रूप में प्रचलित थे।

वैदिक काल (राजनीतिक जीवन):-

ऋग्वैदिक कालीन कबीलाई राज्यों का स्वरूप राजतंत्र के तर्ज पर ढल रहा था, परन्तु उनके राज्य का विस्तार क्षेत्र बहुत कम था। अलग-अलग आर्य कबीलों के अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य थे। उनके राज्य को राष्ट्र कहा जाता था। राष्ट्र अथवा जन के प्रमुख को राजन कहा जाता था। राजन का पद कुलागत हो चुका था, परन्तु उसकी स्थिति परवर्ती राजा की स्थिति से भिन्न थी, उसके अधिकार असीमित नहीं थे, आर्यों की दो जनतांत्रिक संस्थाएँ, सभा एवं समिति राजा की शक्ति को नियंत्रित करती थी। सभा की सदस्यता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होती थी। समिति सारे जन की सामान्य परिषद् थी। समिति का काफी महत्व था, इसके बैठकों में राजा स्वयं उपस्थित होते थे। समिति में राजा का निर्वाचन और पुर्ननिर्वाचन हो सकता था। महिलाएँ भी सभा और समिति में भाग ले सकती थीं।

राजनैतिक स्थिति:-



विदथ — सभा — समिति — ऋग्वैदिक संस्थाएँ।

सभा + समिति — उत्तर-वैदिक काल।

उत्तर-वैदिक काल में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इस काल में प्रादेशिक राज्यों का विकास होता है, पहले राजन अपने जन के प्रमुख और शासक थे, किसी भू-प्रदेश के स्वामी नहीं थे। उत्तर-वैदिक काल में जन का विकास जनपद में हो गया। राजा का कुलागत अधिकार अब दृढ़ हो गया। विदथ, सभा, समिति आदि का महत्व उत्तर-वैदिक काल में घट गया। इन संस्थाओं में धीरे-धीरे अभिजात्य वर्ग का प्रभाव बढ़ गया, फिर भी इन संस्थाओं का अस्तित्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ था।

निष्कर्ष:-

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोंपरांत हम कह सकते हैं कि वैदिक कालीन साहित्य के अध्ययनोपरांत हमें सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक जीवन का सांगोपांग वर्णन देखने को मिलता है। दूसरी ओर ऋग्वैदिक काल के सामाजिक व्यवस्था अत्यंत ही महत्वपूर्ण एवं विशेषताओं से भरी हुई थी। आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन उत्तरोत्तर सुधार की दिशा में अग्रसर थी। यदि हम वैदिक कालीन सम्पूर्ण व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालें तो यह बात स्पष्ट हो जाता है, कि वैदिक युग भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण युग है। हमारे वर्तमान संस्कृति एवं सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की शुरुआत इसी युग से होती है। अतः इस युग को संस्कृतिक एवं सामाजिक, जीवन का प्रारंभिक विशेष युग कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. A History of India, volum one Pengum books Great Britain, 1981-Romila Thapar.
2. Ancient India an introductory outline, Peoples publishing house, New Delhi July -1990-D.N Jha.
3. The Gazitteer of India (History and culture) volume II Publication

Division. Government of the India New Delhi -1988.

4. The Age of the Imperial unit – R.C. Majumdar.
5. The History and culture of the Indian people (the vedic age) - R.C.Majumdar.
6. History of Ancient India –R.S. Tripathi.
7. Indian Historical Review – R.S. Sharma.
8. प्राचीन भारत (कथा -11)-एन. सी. ई. आर .टी.
9. प्राचीन भारत का इतिहास-द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली।
10. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास -डा. शिवस्वरूप सहाय।
11. अदभूत भारत-ए. एल. बाशम।
12. प्राचीन भारत का इतिहास -डा. सत्यनारायण।
13. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति:- के. सी. श्रीवास्तव।
14. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास:- डा. जयशंकर मिश्रा।

15. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था -डा. ओम प्रकाश प्रसाद।
16. ऋग्वेद, 10/61/10/62, वही ऋग्वेद 3/4/8-11
17. ऋग्वेद, 1/164/45-चत्वारि वाक्परिमिता पदनितानि विदुब्राह्मण मनीषिणः वदन्ति।
18. अथर्ववेद, 5/18 , 5/19।
19. शतपथ ब्रह्मण, 4/3/9-यौ वै ज्ञातो* स ऋषिः
20. शतपथ ब्रह्मण, 2/2/26, 2/4/3/14 वही 2/3/4/4

संजय कुमार

एम. ए. (A.I&A.S), मगध विश्वविद्यालय (बोध गया), नेट (यू. जी. सी.) नई दिल्ली।, शोधार्थी, पटना विश्वविद्यालय पटना।

अनिल कुमार मिश्रा

एम. ए. (Ancient Indian History and Archaeology) एवं शोधार्थी, पटना विश्वविद्यालय पटना।

उपन्यास

राधारानी

आनन्दमठ

शिकारी

यामा, भाग-1

फर्ज

महानायिका

गरीबी जुर्म नहीं

दर्द भरा दिल

चन्द्रकांता संतति

स्वामी

काशीनाथ

बर्फीली आंधी

यामा, भाग-2

आहुति

द गेट वे ऑफ इंडिया

कमाई की जगह

चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

मध्य बिहार के दलित नक्सलवादी: एक अवलोकन

शेखर कुमार

आत्मसम्मान और आर्थिक शोषण के विरुद्ध दलितों की वर्ग संघर्ष आधारित राजनीतिक गोलबन्दी का प्रयोग आजादी के बाद से बदस्तूर जारी है। नक्सलवादियों के विमर्श में खेत मजदूर देहाती सर्वहारा के रूप में उभरता है। चूँकि अधिकतर दलित खेत मजदूर हैं इसलिए वे इस सर्वहारा वर्ग का निर्माण करते हैं। प्रश्न यह है कि दलित नक्सलवादी राजनीति में क्यों आते हैं, अपनी सामाजिक आर्थिक स्थिति सुधारने में इसके कारण उन्हें किस हद तक लाभ मिलता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद को उन्होंने किस हद तक आत्मसात किया है। उनके संघर्ष में इज्जत की लड़ाई का आयाम कितना है, और नक्सलवादी नेतृत्व ने जाति के प्रश्न के साथ क्या सुलूक किया है।

मध्य बिहार में दलितों और नक्सलवादी आन्दोलन के बीच समन्वय की बात होते ही एक दलित खेतिहर मजदूर परिवार में जन्में नक्सली कार्यकर्ता और गीतकार मनोज का दर्द गीतों के माध्यम से फिजा में गुँजने लगता है:

खून है अगर बदन में कोई पानी नहीं
तो गुलामी कोई जिन्दगानी नहीं
न कोई शोषक, न कोई शोषित,
सब समान हो जाएँ
न कोई ऊँचा, न कोई नीचा, सब मेहनत कर खाएँ
क्या बनती है ऐसी नयी कहानी नहीं ?
गुलामी कोई जिन्दगानी नहीं।

दलित नक्सली कार्यकर्ता तथा गीतकार के गीतों में दर्द होता है और आँखों में नये समाज का सपना। उसकी ढोलक की थाप आज भी फिजाओं में गुँजती है और आज भी शिद्दत-भरी आवाज में गाते समय उसकी गर्दन की नसें फूल जाती हैं। 1995-96 में मध्य बिहार के एक गाँव से दूसरे में जाते हुए हर जगह गुलामी के खिलाफ बगावत और इज्जत के साथ-साथ आजादी के ख्याल का यही संयोग देखने को मिला।¹ मध्य बिहार में नक्सलवादी आन्दोलन गरीबों की पार्टी के रूप में जाना जाता है और मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियाँ द्विज जातियों और सम्पन्न वर्ग की प्रतिनिधि मानी जाती हैं।² निम्नलिखित लेख में नक्सली आन्दोलन में दलितों की भूमिका के कुछ पहलुओं को बताया गया है।

गाँव के स्तर पर दलित जनता नक्सलवादी आन्दोलन का मुख्य जनाधार है। आन्दोलन के अधिकतर कार्यकर्ता और समर्थक इन्हीं समुदायों से आते हैं। नक्सलवादी आन्दोलन और ऐसे ही अन्य आन्दोलनों को आमतौर पर जनता का आन्दोलन कहा जाता है। इसी कारण जनता की राजनीति के रूप में नक्सलवादी आन्दोलन को विकसित करना जरूरी है। इसीलिए आन्दोलन के भागीदारों को

केवल समर्थक के रूप में न देखकर ऐसे सक्रिय अभिनेता और चिन्तकों के रूप में देखना होगा जो अंततः आन्दोलन की रूप-रेखा निर्धारित करते हैं। केवल इसी समझ के तहत हमें पता लग सकता है कि आन्दोलन के ये दलित भागीदार कौन हैं। वे क्या सोचते हैं। ऐसा सोचने की वजह क्या है और आन्दोलन से उनकी भागीदारी के कारण क्या हैं।

बिहार देश का सबसे बड़ा देहाती प्रान्त है। इसकी जनसंख्या की 87 प्रतिशत गाँवों में बसता है।³ बिहार की आबादी का 55 फीसदी हिस्सा या तो भूमिहीन है या कमोवेश भूमिहीन है।⁴ 1991 की जनगणना के अनुसार बिहार की कुल आबादी का 14.7 फीसद अंश अनुसूचित जाति अर्थात् दलित जातियों से संबंधित था।⁵ ये दलित भूमिहीन या लगभग भूमिहीन की श्रेणी में आते हैं। हालाँकि बिहार का प्रत्येक भूमिहीन दलित नहीं है लेकिन यह सच है कि सभी दलित भूमिहीन जरूर हैं। इसी चलते बिहार के दलित किसान आन्दोलन के माध्यम से राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन की राजनीति करनेवाले नक्सलवादी संगठनों के लिए भूमिहीन मजदूर अर्थात् ग्रामीण सर्वहारा का पर्याय बन जाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टियों, समाजवादी संगठनों और गैर पार्टी जुझारू संगठनों ने किसान आन्दोलन संबंधी अपनी अलग-अलग नीतियों के अनुरूप विभिन्न वर्गों के किसानों को एकजुट करने, उन्हें अपनी विचारधारा में परिणत करने और परिणामस्वरूप उनका राजनीतिकरण करने की कोशिशें की हैं। लेकिन भूमिहीन मजदूरों के रूप में दलितों को संगठित करने की जिम्मेदारी केवल नक्सलवादियों ने ही उठायी है।

बिहार में 1948 में ही सबसे पहले भूमि सुधार के इरादे से जमींदारी उन्मूलन कानून पारित हुआ परन्तु इसका दलित खेतिहर कामगारों को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि इस कानून में भूमि के पुनर्वितरण का प्रावधान नहीं था। वह तो केवल बँटाईदारों को मालिकाना हक देने तक सीमित था। जमींदार भूमि सुधारों के इस तरीके को भी स्वीकारने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए उन्होंने अपने प्रति सरकारी हमदर्दी का फायदा उठाकर 1952 तक इस कानून को कानून के पचड़े में फँसाए रखा और बड़े पैमाने पर बँटाईदारों को उनकी काशत से बेदखल करने का अभूतपूर्व सिलसिला चलाया। इस तरह भूमिहीनों की संख्या बढ़ती चली गयी। निश्चित था कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बिहार भूमि सुधार कानून की पुष्टि कर दिये जाने तक जमींदारों ने अपने हित सुरक्षित कर लिए थे, इसलिए आजादी के बाद के दशकों में भी सामंती भूमि संबंध बिहार के ग्रामीण समाज का मुख्य रूप बने रहे।⁶

जब न्यायालय द्वारा पारित आधे-अधूरे भूमि सुधारों का बँटाईदारों को ही लाभ नहीं मिल पाया तो पहले से भूमिहीन दलितों की स्थिति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। भारत के लोकतांत्रिक देश बनने के बाद भी वे अमानवीय जीवन स्थितियों

और सामाजिक उत्पीड़न का सामना करते रहने के लिए अभिशप्त रहे। इन सामाजिक-आर्थिक मजबूरियों के चलते अनेकों जुझारू आन्दोलन निकले जिनके फलस्वरूप खेतिहर मजदूर पूर्व जमींदारों अथवा उनके कारिंदों या जमींदारी उन्मूलन के बाद उभरे नये जमींदारों के साथ टकराव की स्थिति में आये। इस प्रक्रिया में दलित भूमिहीन अन्य जातियों के भूमिहीनों के साथ एकताबद्ध हुए और उन्होंने अपने वर्गीय हितों की सिद्धि के लिए गरीब मध्यम किसानों से एकता के प्रयास किये।⁷

जी. ए. ग्रियर्सन की पुस्तक 'बिहार पीजेंट लाइफ, 1885' से पता चलता है कि बेगार और मनमाने टैक्सों की वसूली के जरिये बिहार के सामंती जमींदारों ने किस तरह श्रम अनुबंधों के पूरे चरित्र को ही शोषणकारी बना डाला था। आजादी के पहले तक बिहार में अस्थायी खेतिहर मजदूर को ईस्ट-इंडिया कंपनी के जमाने से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलती थी। स्वतंत्रता के उपरांत सत्तर के दशक तक बिहार के खेत मजदूरों के मेहनताने में या तो कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई या फिर कुछ इलाकों में उसमें कमी ही आई। अस्सी के दशक में इसमें कुछ बढ़ोत्तरी तो हुई लेकिन आज भी बिहार में वास्तविक खेत मजदूरी काफी निम्न स्तर पर है।

वैसे तो नब्बे के दशक की शुरुआत में खेत मजदूरों को चार किलो धान, आधा किलो सत्तू अथवा चूड़ा (चिवड़ा) मिलना चाहिए था लेकिन वास्तव में अधिकतर इलाकों में उन्हें सिर्फ दो-ढाई किलो मोटा अनाज ही दिया जाता था। यह स्थिति उन इलाकों में ज्यादा खराब थी जहाँ खेतिहर मजदूरों के बीच कोई राजनीतिक संगठन सक्रिय नहीं था। चमारों और मुसहरों की पशुओं की तरह एक छोटी सी खुखाल में रहना पड़ता था। वे ज्यादा से ज्यादा तीन से पाँच रूपये रोज कमाते थे और जानवरों को खिलाई जानेवाली खेसारी से अपना पेट भरते थे। इस भोजन के चलते उन्हें चर्मरोग और गठिया जैसी बीमारियाँ हो जाती थीं।

बिहार में दलित खेत मजदूर बड़े पैमाने पर बँधुआ प्रथा की जंजीरों में बँधे रहे हैं। लेकिन मध्य बिहार में यह बँधुआ प्रथा

पुश्त-दर-पुश्त चलनेवाली वह पारंपरिक बँधुआ प्रथा नहीं है जो बिहार के कई अन्य इलाकों में अथवा देश के दूसरे प्रदेशों में देखी जाती है। मध्य बिहार में एक निश्चित अवधि के लिए खेतिहर मजदूर काम करने के अनुबंध पर आधारित मजदूरी को बँधुआ की श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसे मजदूरों को हलवाहा कहा जाता है और उनका मुख्य काम वक्त पर खेत जोतना होता है। अस्थायी आधार पर लगाए गए मजदूरों को छुट्टा मजदूर कहा जाता है। हलवाहे को मिलने वाली मजदूरी हरवाही और छुट्टों की मिलनेवाला मेहनताना रोज अथवा रोजीना के नाम से जाना जाता है। हलवाहों और छुट्टों को इस मजदूरी के भुगतान के लिए भी अक्सर लम्बा इंतजार करना पड़ता था। कभी दो दिन बाद तो कभी दो हफ्ते, महिने दो महिने बाद मजदूरी मिलती थी।

दलित खेत मजदूरों की आर्थिक शोषण के साथ-साथ क्रूरतम सामंती उत्पीड़न का शिकार भी होना पड़ रहा था। सीधे तन कर चलना, साफ धोती पहनना, और जमींदार के सामने खटिया पर बैठना नामुमकिन था। 20वीं सदी की शुरुआत में ही शाहाबाद के इलाके (आज के भोजपुर और रोहतास जिले) में सामंतों ने 'डोला प्रथा' चला रखी थी जिसके तहत गरीब मजदूरों की नयी बहू को पहली रात जमींदार के साथ गुजारनी पड़ती थी। मजदूर महिलाओं के साथ राजपूत और भूमिहार जमींदारों, उनके सेवकों और लठैतों द्वारा बलात्कार करना आम बात थी। नीची जाति की इन औरतों के इस यौन शोषण ने खेतिहर मजदूरों के आन्दोलनों में इज्जत की लड़ाई का आयाम जोड़ा। खेतिहर मजदूरों को आत्मसम्मान और गरिमा के प्रश्न पर कई तरह शिकायतें थीं। मालिक वर्ग द्वारा कभी उनका नाम लेकर नहीं बुलाया जाता। वह उन्हें 'अरे' कहकर संबोधित करता था और नाम अगर लेता भी था तो उसमें 'वा' लगा देता था, जैसे लखन का लखनवा। नाम के साथ गालियों की बौछार भी सुननी पड़ती थी। इस तरह खेतिहर मजदूर एक नामहीन और अस्तित्वहीन रूप में जीवित रहने के लिए मजबूर था। छुआछूत की प्रथा भी दबे-छिपे रूपों में जारी थी।

आजादी के बाद खेतिहर प्रश्न को सर्वोदय, गाँधीवादी समाजवाद और साम्यवादियों ने अपने-अपने तरीके से हल करने की कोशिश की। भूदान आन्दोलन सर्वोदयी धारा का, बोधगया का छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी का आन्दोलन गाँधीवादी-सामजवादी धारा का और नक्सलवादी आन्दोलन मार्क्सवादी धारा का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। 1967 के अकाल में सबसे ज्यादा क्षति भूमिहीन मजदूरों को हुई। नक्सलवादियों ने सहजानंद की इच्छा को अपनाकर किसान सभा की विरासत को अपना लिया। उनके रूप में दलित-खेत-मजदूरों को पहली बार आशवासन मिला कि उनके द्वारा चलाए गये किसान आन्दोलन पर उन्हीं के हितों की प्रधानता को कायम करनेवाला नेतृत्व स्थापित किया जाएगा।

देश के अन्य हिस्सों की तरह मध्य बिहार के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर भी 1967 के वसंत में पश्चिम बंगाल के तराई इलाके के आदिवासियों में हुए नक्सलवादी आन्दोलन का असर पड़ा था।⁸ नक्सलवादी के नमूने पर बिहार के कई इलाकों में किसानों के विद्रोह संगठित किए गए। बिहार में नक्सलवादी आन्दोलन का विकास दो चरणों में हुआ। 1967 से 1977 की अवधि में आन्दोलन शुरूआती दौर से निकल कर कई तरह के उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए आपातकाल के दमन का सामना करते हुए नये चरण में पहुँचा। आपातकाल के दौरान नक्सलवादियों गतिविधियाँ सुस्त रही लेकिन 1977 के बाद आन्दोलन ने सफलतापूर्वक अपना पुनर्गठन कर लिया। 1996 में बिहार में 17 नक्सलवादी संगठन क्रियाशील थे।⁹ यह आन्दोलन सांगठनिक रूप से इस क्षेत्र में तीन महत्वपूर्ण संगठनों की उपस्थिति का पर्याय रहा है। ये संगठन हैं- विनोद मिश्र के नेतृत्ववाली भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) जो अपने मुखपत्र 'लिबरेशन' कमिटी जो अपने मुखपत्र 'पार्टी यूनिटी' के नाम से जाना गया और माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र (एम.सी.सी.) जिसने शुरुआत से खुद को भाकपा (माले) के गठन से अलग रखा था।

लिबरेशन ने सबसे पहले भोजपुर में कार्य करना आरंभ किया फिर पटना, जहानाबाद, नालंदा, गया तथा औरंगाबाद में

अपने संगठन का विस्तार किया। इस संगठन ने 70 के दशक में मध्य बिहार में सघन सशस्त्र संघर्ष चलाया और भूमिहीन गरीब किसानों को (जिनमें ज्यादातर दलित थे) अपने प्रभाव में लेते हुए चीनी क्रांति के नमूने पर पटना, भोजपुर, गया, नालन्दा आदि में लाल आधार इलाका और किसान योद्धाओं को 'लाल सेना' बनाने की परियोजना पर काम करना शुरू किया ताकि इस क्षेत्र को मुक्त क्षेत्र में बदला जा सके और फिर यहीं से शहरों को लेकर देश में नक्सलवादी क्रांति सम्पन्न की जा सके। किसानों की गोलबंदी के लिए लिबरेशन ने बिहार प्रदेश किसान सभा को पुनर्जीवित किया जिसे 1928 में स्वामी सहजानंद सरस्वती ने स्थापित किया था। यह संगठन बहुत तेजी से भूमिहीन और गरीब किसानों में लोकप्रिय हुआ था। किसान सभा द्वारा भूमिहीनों को वर्ग-संघर्ष में उतारने के साथ-साथ राष्ट्रीय राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए इस संगठन ने 1982 में इंडियन पीपुल्स फ्रंट (आई.पी.एफ.) का गठन किया जिसके माध्यम से बिहार में भूमिहीनों के संघर्ष को राष्ट्रीय मंच पर पेश किया जा सका। बाद में 1995 में इस पार्टी ने आई.पी.एफ. को भंग कर दिया और खुद ही भूमिगत से खुली राजनीति में आ गयी। लोकसभा और विधानसभा में चुनाव लड़नेवाली इस पार्टी का दावा राष्ट्रीय स्तर पर क्रांति करने की परियोजना चलाने का है लेकिन व्यवहार में इसका आधार मध्य बिहार के दलितों की बहुसंख्यावाले भूमिहीन गरीब किसान ही हैं। अपने शुरूआती दौर में दलित समर्थन के कारण इस संगठन को 'चमार पार्टी' के नाम से भी जाना जाता था।

माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र मध्य बिहार के नक्सलवादी इतिहास का सबसे कट्टरपंथी चेहरा है। पूरी तरह से प्रतिबंधित यह संगठन 20 अक्टूबर 1967 को अमूल्य सेन, कन्हाई चटर्जी और चन्द्रशेखर दास द्वारा स्थापित किया गया था। मध्य बिहार में एम.सी.सी. का सबसे मजबूत आधार गया में है। एम. सी.सी. ने ऊँची जाति के जमींदारों की गुंडा वाहिनियों द्वारा किये नीची जाति के गरीब किसानों के सामुहिक नरसंहार का जवाब ऊँची जाति वालों के वैसे ही नरसंहार

के माध्यम से दिया है। इस तरह यह संगठन निचली जातियों को वर्ग-चेतना से लैस करने के दावे के बावजूद उन्हें जाति युद्ध की आग में झोंकने के लिए आलोचना का शिकार हुआ है। एम.सी.सी. की जन-अदालतों में 'जन-शत्रुओं' को जघन्य और बर्बर किस्म की सजाएँ दी जाती हैं।

दलितों के लिए नक्सलवाद ने मध्य बिहार में इज्जत की लड़ाई छेड़ कर बेहद अहम सामाजिक स्वतंत्रता के अनिवार्य पहलुओं की उपलब्धि की है। निचली जातियों की औरतों के साथ बलात्कार की घटनाओं में काफी कमी आयी है। अब किसी दलित को मनमाने तरीके से नहीं मारा-पीटा जा सकता। दलित अपनी मेहनत किसी भी जमींदार को न बेचने के लिए स्वतंत्र है। साफ कपड़े पहनना, खटिया पर बैठने, जमींदार की दखलंदाजी के बिना अपने मेहमानों की आवभगत करने के अधिकार ने उनके सामाजिक जीवन को काफी हद तक बेहतर किया है।

नक्सलवाद के कारण मध्य बिहार के दलित खेत मजदूरों की तरफ सारे देश का ध्यान गया है। वे एक ऐसी समूह के रूप में उभरे हैं जो अपने हक और आत्मसम्मान के लिए मारने और मरने के लिए तैयार हैं। मध्य बिहार के दलित नक्सलवाद के दिशा-निर्देशन में ग्रामीण सत्ता की संरचना को बदलना चाहते हैं। नक्सलवाद से पहले वे नहीं जानते थे कि वोट डालने का अधिकार क्या है। लेकिन अब ऐसा नहीं है। जमींदारों का वर्चस्व खत्म होने के कारण वे अपनी मर्जी के उम्मीदवार को वोट दे पाते हैं। जिन इलाकों में पार्टी यूनियन या एम.सी.सी. चुनाव बहिष्कार की राजनीति करते हैं, वहाँ भी बूथ कब्जे या बूथ लूटने की घटनाएँ कम हुई हैं।

निष्कर्षतः नक्सलवाद ने निर्विवाद रूप से मध्य बिहार के मजदूरों और दलितों का सबलीकरण किया है। हालाँकि सबलीकरण की प्रक्रिया अभी काफी दिन चलाये जाने की जरूरत है पर यह मानना पड़ेगा कि इस आन्दोलन के कारण दलितों का आत्मविश्वास उल्लेखनीय रूप से बढ़ा है। आर्थिक रूप से उनकी हालत सुधरी है, सामाजिक रूप से वे जमींदारों के दमन को चुनौती देने में सफल हुए हैं और राजनीतिक

रूप से इस आन्दोलन ने उन्हें एक ताकत में बदल दिया है। इस परिवर्तन ने स्थानीय और क्षेत्रीय रूप से सत्ता के समीकरणों को प्रभावित किया है और अब इस इलाके में दलितों को कमजोर समझने की भूल कोई नहीं कर सकता।

संदर्भ ग्रन्थ और टिप्पणियाँ:-

1. 'बेला भाटिया' द्वारा पाँच जिलों-भोजपुर, पटना, गया, औरंगाबाद और जहानाबाद के 51 गाँवों का दौरा करने के बाद उसकी रिपोर्ट पर आधारित।
2. मध्य बिहार के दलित खुद को हरिजन कहते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि वे अपने उत्पीड़न के प्रति सचेत नहीं हैं बल्कि शायद इसलिए कि बिहार के दलितों में न महाराष्ट्र जैसा कोई आन्दोलन चला और न ही किसी आन्दोलन में अम्बेडकर की शिक्षाओं को केन्द्र बनाया गया।
3. 1981 की जनगणना के आँकड़े, सेंस एटलस (बिहार), शृंखला 4, भाग 13, डायरेक्टर ऑफ सेंसस एप्लीकेशन, बिहार।
4. एच.आर. शर्मा 'डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ लेंड होल्डिंग्स इन रूरल इंडिया 1953-54 से 1981-82 तक', इकॉनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 26, पृष्ठ 8-12 25, मार्च।
5. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया 1993, एजुकेशन फॉर आल: दि इंडियन सीन, नई दिल्ली, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग।
6. बिहार में जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार के लिए देखें- अरविंद नारायण दास, एग्रेरियन अनरेस्ट एंड सोशियो-इकॉनामिक चेंज इन बिहार, 1900-80, मनोहर, दिल्ली, 1983, गवर्नमेंट ऑफ बिहार, कोई तारीख नहीं, मेमोरेंडम ऑन लेंड टेन्योर सिस्टम इन बिहार एंड मेजर्स टेकिन इन दि स्टेट फॉर एबोलीशन ऑफ जमींदार पटना, राजस्व विभाग और बी. एन. युगांधर और के. गोपाल अय्यर (सं.), लेंड रिफार्म्स इन इंडिया: बिहार- इस्टीमेट्स इन कंस्ट्रिक्ट्स (खंड-1), सेज, नई दिल्ली।
7. सुमंत बनर्जी, इंडियाज सिमरिंग रिवोल्यूशन: दि नक्सलाइट अपराइजिंग, सिलेक्ट बुक सर्विस सिंडीकेट, नई दिल्ली।
8. आदिवासियों में ज्यादातर संथाल थे और दिलचस्पी की बात यह है कि उनमें से ज्यादातर बिहार से उत्तर बंगाल गये थे।
9. 1996 के बाद से परिस्थिति में कई उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं जिनमें पार्टी यूनियन और आंध्र के पीपुल्स वार गुट का आपसी विलय उल्लेखनीय है।

यूजीसी, आर.जे.एन.एफ.एस.,
शोधार्थी, इतिहास विभाग, पटना
विश्वविद्यालय, पटना

सोवियत रूस पर जर्मनी के आक्रमण के बाद

कुमारी स्मृति चन्द्र

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बीस वर्ष पश्चात् ही दूसरा विध्वंसकारी महायुद्ध आरंभ हुआ। पेरिस के शांति सम्मेलन की समाप्ति पर महाशक्तियों के प्रतिनिधियों ने आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में पुरानी त्रुटियों को दोहराया नहीं जायेगा और कोई भी राष्ट्र पाश्चिम शक्ति का स्थान ग्रहण नहीं करेगा, किन्तु ये सभी आशाएं पूर्णतः मिथ्या प्रमाणित हुईं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जो घटना-चक्र चला, वह विश्व को दूसरे महायुद्ध की ओर ले गया। जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूल करने की कठोर नीति, विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, जापानी साम्राज्यवादी नीति, मुसोलिनी की साम्राज्यवादी लिप्सा और जर्मनी में हिटलर की तानाशाही शक्ति का विकास आदि घटनाओं ने 1919 में स्थापित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को क्षति पहुंचाई। इंग्लैण्ड ने तुष्टिकरण की नीति अपना कर आक्रामक राज्यों को अधिक प्रोत्साहित किया फलतः अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भयावह हो गयी। 1936 के बाद तो युद्ध के बादल सर्वत्र मंडराने लगे और अंत में 1 सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हो गया। परंतु जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो युद्ध ने नया मोड़ ले लिया।

22 जून, 1941 को हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया। वह 190 डिवीजन लेकर प्रायः दो हजार लंबे मोर्चे पर दुनिया के प्रथम समाजवादी देश पर बाज की तरह टूट पड़ा। यह सपना लेकर कि वह सर्वहारा के इस प्रथम राज्य को, विश्वक्रांति के गढ़ को चंद हफ्तों के अंदर नष्ट कर देगा। हिटलर के इस आक्रमण के तुरंत बाद ही उसी दिन ब्रिटेन के नए प्रधानमंत्री चर्चिल ने ब्रिटिश-सोवियत मैत्री की घोषणा की। इन दोनों घटनाओं के साथ ही उस दिन युद्ध के चरित्र में सुनिश्चित परिवर्तन हो गया। जो युद्ध उस दिन तक यूरोपीय युद्ध था, वह विश्व युद्ध बन गया, जो साम्राज्यवादी सरकारों के बीच था वह अब फासिज्म के विरुद्ध जनयुद्ध बन गया। क्या युद्ध के चरित्र में यह परिवर्तन एक दिन में और सिर्फ सोवियत संघ के युद्ध में प्रवेश करने से आ गया? नहीं। इस परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत पहले से आरंभ हो गई थी। 22 जून, 1941 की घटनाओं ने उसमें सिर्फ गुणात्मक परिवर्तन कर दिया। दुनिया की प्रगतिशील और क्रांतिकारी शक्तियों ने फासिज्म और युद्ध के खतरे के विरुद्ध चेतावनी बहुत पहले से दी थी। उन्होंने बताया था कि जर्मन फासिस्ट युद्ध के प्रमुख प्ररोचक हैं और 'यूरोप में जर्मन साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व के लिए' कोशिश कर रहे हैं। वे 'फ्रांस के खिलाफ प्रतिरोध का, चेकोस्लोवाकिया के अंग भंग का, आस्ट्रिया को अपने में मिला लेने का युद्ध' चलाने की तैयारी कर रहे हैं। उनका लक्ष्य 'विश्व के बंटवारे के लिए विश्व युद्ध है।' इस विश्वयुद्ध को रोकने के लिए उन्होंने फासिस्ट विरोधी जनमोर्चा बनाने का नारा दिया था।

इसी नारे के अनुसार फ्रांस में फासिज्म और युद्ध के खिलाफ कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों और रेडिकलों का संयुक्त मोर्चा बना और

1936 में जनमोर्चा की सरकार बनी थी। स्पेन में भी जनमोर्चे की सरकार 1936 में बनी। चीन में 1937 में साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मोर्चा बना। ब्रिटेन और प्रगतिशील शक्तियों को एकबद्ध करने की कोशिश हुई थी। सोवियत संघ ने पूंजीवादी जनतंत्र के देश फ्रांस और ब्रिटेन के साथ फासिज्म और युद्ध के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाने की बार-बार कोशिश की लेकिन इन दोनों देशों के शासक इसके लिए राजी न हुए। फासिज्म के खिलाफ लड़ने की जगह उन्होंने उसे संतुष्ट करने और उसके आक्रमण को सोवियत संघ की तरफ मोड़ने की कोशिश की। इसी उद्देश्य से म्युनिख में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चेंबरलेन और फ्रांस के प्रधानमंत्री दलादिये ने हिटलर और मुसोलिनी के साथ समझौता किया और चेकोस्लोवाकिया की बलि दे दी। फासिस्टों की भूख इसी से शांत न हुई। उन्होंने ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यों के मित्रों को ही हजम करना आरंभ कर दिया। हिटलर ने 1 सितंबर, 1939 को जब ब्रिटेन के साम्राज्यों के दोस्त पोलैंड पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन और फ्रांस के शासकों ने 3 सितंबर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, लेकिन युद्ध के बाद छः महीने तक न तो पोलैंड की रक्षा के लिए और न जर्मन फासिस्टों के आक्रमण को रोकने के लिए कोई कदम उठाया। वे दबाव डालकर हिटलर को सोवियत संघ पर आक्रमण के लिए राजी करना चाहते थे लेकिन फासिस्ट पहले ब्रिटेन, फ्रांस वगैरह के उपनिवेशों और अर्धउपनिवेशों को छीनकर तब सोवियत संघ पर आक्रमण करना चाहते थे। अतः युद्ध ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैंड के बीच ही सीमित रहा। युद्ध का यह दौर साम्राज्यवादी युद्ध का दौर था।

लेकिन डेढ़ दो साल के अंदर यूरोप के नक्शे में बड़े परिवर्तन हो गए। फासिस्टों ने बेल्जियम, हॉलैंड, डेनमार्क, नार्वे पर ही नहीं, फ्रांस पर भी अधिकार कर लिया। ब्रिटेन बुरी तरह पिट रहा था। हजार-हजार जर्मन विमान उस पर बमबारी कर रहे थे। उसे रोकने में वह असमर्थ था। चारों तरफ समुद्र किसी तरह उसकी रक्षा कर रहा था। इन देशों के फासिस्टपरस्त नेता या तो फासिस्टों के साथ मिल गए या बुरी तरह बदनाम हो गए। बल्कान और यूरोप के अन्य देशों में भी हुआ। फासिस्टों का मुकाबला करने के लिए इन देशों के लोग आगे बढ़े। कम्युनिस्टों ने प्रायः इन सभी देशों में पहल कर फासिस्टों के विरुद्ध छापाकार युद्ध संगठित किया।

इन पुराने साम्राज्यवादी देशों में युद्ध का चरित्र किस तरह बदल गया, इसका एक उदाहरण फ्रांस है। युद्ध के आरंभ के समय यहां का प्रधानमंत्री दलादिये था। युद्ध आरंभ होते ही इसने कम्युनिस्ट पार्टी को गैर कानूनी कर दिया था, उसके सदस्यों को संसद से निकाल दिया था और कितनों को गिरफ्तार कर लिया था। फ्रांस की हार और पेटां तथा लवाल के नेतृत्व में फासिस्टपरस्त विशी सरकार की स्थापना के बाद फासिस्टों के विरुद्ध फ्रांस का मुक्ति संग्राम संगठित करने का श्रेय सबसे ज्यादा वहां की गैर कानूनी

कम्युनिस्ट पार्टी का था। उसके पीछे विशी की पुलिस और नात्सियों का गुप्तचर विभाग गैस्टैपो हाथ धोकर पड़े थे, लेकिन इन सबको चुनौती देते हुए फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी ने जुलाई, 1940 में फ्रांसीसी जनता के नाम जर्मन फासिस्टों का मुकाबला करने की ऐतिहासिक अपील निकाली थी।

हमारे जैसा महान राष्ट्र कभी गुलामों का राष्ट्र न बनेगा। फ्रांस, जिसका भूतकाल गौरवमय रहा है, थूककर चाटने वालों के गिरोह के सामने, जो कोई भी गंदा काम करने को तैयार है, कभी घुटने न टेकेगा। राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति की आशाएं जनता पर ही टिकी हैं। और मजदूर वर्ग को ही, जो लड़ने और आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत है, जो साहस और विश्वास से भरपूर है, केन्द्र बनाकर स्वतंत्रता और स्वाधीनता का मोर्चा बनाया जा सकता है।¹³

फ्रांस का युद्ध फ्रांसीसी साम्राजियों और जर्मन फासिस्टों के बीच न था। वह अब फासिस्टों के विरुद्ध फ्रांस के देश भक्तों का संग्राम था और इस संग्राम में फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी सबसे आगे थी। इस मुक्ति संग्राम में उसके 75,000 सदस्य मारे गए थे, वह शहीदों की पार्टी बन गई थी।

इसी तरह की हालत यूरोप के दूसरे पुराने साम्राज्यवादी देशों में हुई थी। बेल्जियम, हॉलैण्ड, डेनमार्क वगैरह के साम्राज्यवादी या तो भाग खड़े हुए थे या हिटलर के सेवक बन गए थे। यहां भी कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में फासिस्टों के खिलाफ नई किस्म का मोर्चा लग गया था। यूरोप के अन्य देशों में भी, जिन पर फासिस्टों ने कब्जा किया था, कम्युनिस्टों और अन्य देशभक्तों ने छापामार युद्ध शुरू कर दिया था। इस छापामार युद्ध ने खासकर युगोस्लाविया और ग्रीस में बड़ा जोर पकड़ा।

ब्रिटेन में भी परिवर्तन हुए थे। मई, 1940 में नात्सियों को रियासत पर रियासत देने वाले चेबरलेन को प्रधानमंत्री का पद छोड़ना पड़ा और उसे चर्चिल ने संभाला। यह परिवर्तन बहुत ही उपयुक्त समय पर हुआ था क्योंकि फ्रांस के पतन के बाद हिटलर को आशा थी कि चेबरलेन की सरकार घुटने टेक देगी। प्रधानमंत्री के बदल जाने के बाद ब्रिटिश जनता के आंदोलन से चेबरलेन के सारे दोस्त मंत्रिमंडल से निकाल दिए गए। इस तरह देखा जाता है कि जून,

1941 के एक साल पहले ही से युद्ध का चरित्र बदलने लगा। फासिस्टों के विरुद्ध जनयुद्ध आरंभ हो गया था। युद्ध में सोवियत संघ के प्रवेश से उसका फासिस्ट विरोधी और मुक्तिकामी रूप निखर आया। 7 दिसंबर 1941 को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण से संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान भी युद्ध में आए। युद्ध अब पूरी तरह विश्वयुद्ध हो गया। सारा एशिया अब युद्ध में खिंच आया था। यूरोप, अफ्रीका, एशिया और विभिन्न महादेशों में युद्ध चल रहा था।

जापानी फासिस्ट बिजली की रफ्तार से आगे बढ़े। उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया के उपनिवेशों को ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका से छीन लिया। साम्राज्य शासक भाग खड़े हुए तो वहां के देशभक्तों ने नया मोर्चा संभाला। बर्मा, मलाया और इंडोनेशिया में छापामार युद्ध चल पड़ा। युद्ध के चरित्र के परिवर्तन का जो रूप ब्रिटिश, सोवियत-चीन की संयुक्त राष्ट्रों की मैत्री में दीख पड़ा।

सोवियत संघ के युद्ध में प्रवेश से युद्ध के चरित्र में परिवर्तन की बात को फासिज्म और साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ने वाले सभी लोगों ने स्वीकार किया लेकिन दुनिया के दक्षिणपंथी समाजवादियों और त्रात्स्कीपंथियों ने इस परिवर्तन को स्वीकार न किया। मार्क की बात है कि यूरोप में इनमें से बहुत ने अपने यहां के फासिस्टपरस्तों का समर्थन किया था। फ्रांस इसका उदाहरण है जहां पराजय के पश्चात फासिस्टपरस्त पेटां के हाथ सारी शक्ति सौंपने के लिए फ्रेंच सोशलिस्ट पार्टी के 186 संसद सदस्यों में से 110 ने अर्थात् अधिकांश ने वोट दिया था।

युद्ध के चरित्र में इस परिवर्तन को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं और कम्युनिस्टों ने जल्दी ही देख लिया। जवाहरलाल नेहरू ने दिसंबर, 1941 में घोषणा की: दुनिया की प्रगतिशील शक्तियां अब उस गुट के साथ हैं जिसका प्रतिनिधित्व रूस, अमेरिका और चीन करते हैं। इस परिवर्तन के संबंध में उस वक्त के कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने संस्मरणों में लिखा: लेकिन हम लोगों ने पूरी सजा नहीं काटी क्योंकि विश्व को ध्वस्त कर देने वाले महत्व की दो घटनाओं

ने जल्दी ही युद्ध का पूरा चरित्र बदल दिया। पहली घटना थी जून, 1941 में सोवियत रूस पर जर्मनी का हमला। छः महीने के अंदर जापान ने पर्ल हार्बर में संयुक्त राज्य अमेरिका पर हमला किया।¹⁴

कम्युनिस्टों ने युद्ध के चरित्र में परिवर्तन को स्वीकार करते हुए उसके नवीन रूप को जनयुद्ध कहा। युद्ध के प्रति बदले इसी रुख का परिणाम हुआ कि जेल में बंद सभी कांग्रेसी, कम्युनिस्टों और अन्य लोग रिहा कर दिए गए।

सबसे पहले दिसंबर, 1941 में जवाहरलाल नेहरू और आजाद रिहा किए गए। रिहा होते ही उन्होंने कलकत्ता में प्रेस कांग्रेस की। उनसे पत्र प्रतिनिधियों ने पूछा कि क्या कांग्रेस युद्ध के खतरे के बारे में अपनी नीति बदलने को तैयार है? इसके उत्तर में आजाद ने कहा कि यह ब्रिटिश सरकार के रुख पर निर्भर करता है। अगर सरकार अपना रुख बदलती है तो कांग्रेस भी बदलेगी। उनसे यह भी पूछा गया है कि अगर जापान ने भारत पर हमला किया तो भारतीय क्या करेंगे? इसका उत्तर खुद आजाद से सुनिए: मैंने एक मिनट की भी हिचक के बिना उत्तर दिया कि सब भारतीय देश की रक्षा के लिए तलवार हाथ में लेंगे। मैंने यह भी कहा। हम यह तभी कर सकते हैं जब हमारे हाथों की हथकड़ियां और पांवों की बेड़ियां काट ली जाएं। अगर हमारे हाथ पैर बंधे रहते तो हम कैसे लड़ सकते हैं।¹⁵

संदर्भ

1. जैन एवं माथुर-विश्व का इतिहास, पृष्ठ संख्या 785 ।
2. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस (1935) में युद्ध के खतरे पर तो गलियती द्वारा पेश किया गया प्रस्ताव; विलियम जेड. फास्टर: हिस्ट्री ऑफ दि थ्री इंटरनेशनल, (इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क 1955), पृष्ठ संख्या 392 ।
3. रजनी पाम दत्त: दि इंटरनेशनल, (लारेंस एंड विराटि, लंदन 1964), पृष्ठ संख्या 271 ।
4. रजनी पाम दत्त: इंडिया टुडे, पृष्ठ संख्या 556 ।
5. अबुल कलाम आजाद: इंडिया विंस फ्रीडम, पृष्ठ संख्या 38 ।
6. वही, पृष्ठ संख्या 39-40 ।

जदुआ, हाजीपुर (वैशाली)

मध्यकालीन भारतीय युद्ध प्रणाली—एक ऐतिहासिक समीक्षा

नन्द किशोर राम

प्राचीन काल में भारतीय सैनिक व्यवस्था काफी सुसंगठित थी। राज्य की ओर से एक स्थायी सेना रखी जाती थी और उसकी देखरेख के लिए काफी खर्च किया जाता था। प्राचीन काल में चन्द्रगुप्त मौर्य के पास लगभग 6 लाख पैदल, 30 हजार अश्वरोही 900 हाथी एवं 8 हजार सैनिक रथ थे। संपूर्ण साम्राज्य की सेना को 30 समितियों में बांटा गया था और प्रत्येक समिति छोटी-छोटी छः उपसमितियों में विभाजित की और प्रत्येक उपसमितियों में पांच सदस्य होते थे।¹

ऐसा कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था लंबे समय तक चलती रही होगी लेकिन ऐसा सोचना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि मध्ययुग के प्रारंभ होते ही प्राचीन कालीन सैनिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और राजपूत काल में इसका स्थान तक जातीय संगठन ने ले लिया। मध्यकाल में देश कई छोटे-छोटे प्रांतों में बंट गया जिसके कारण कोई शासक अब बड़ी-बड़ी सेनाएं नहीं रख पाते थे जिसके कारण देश की सैनिक शक्ति कमजोर होती गई जिससे यह प्रतीत होता है कि स्थायी सेना का स्थान सामंतों के छोटी-छोटी सैनिक टुकड़ियों ने ले लिया।

तुर्कों के शासन काल में सैन्य संगठन एवं उसकी युद्ध प्रणाली में काफी सुधार देखने को मिलता है। मुसलमान आक्रमणकारी और सुल्तान मुख्य रूप से प्रतिभाशाली सैनिक होते और उनके अधिक घुड़सवार एवं तीरंदाज होते थे। अपने घोड़े एवं अस्त्र-शस्त्र के कारण ही वे भारतीय सैनिकों से श्रेष्ठ प्रतीत होते थे तुर्क घोड़े की काठी ऊंची, लंबी और संकरी कड़ी तथा पतली लंबी टांगे होती थी जो निर्जन रेगिस्तान में 650 मील का सफर सिर्फ 5 घंटा में पूरा कर लेते हैं।²

तुर्क सैनिकों की शारीरिक शक्ति और सहनशीलता उनके घोड़े से कम नहीं होती थी। इसके संबंध में सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि तुर्क अपने अश्वरोही सेना के वेग और शक्तिशाली आक्रमण के लिए इतने विख्यात थे कि किसी भी गति की सुसज्जित, सुनियंत्रित तीव्रगामी, अश्वरोही सेना के लिए साधारणतया एशियाई मुहावरे 'तुर्कसवार' का प्रयोग किया जाने लगा था।³

मुसलमान आक्रमणकारियों के पास दो टुकड़ों का धनुष होता था और ये टुकड़े घोड़े के बंद से जुड़े थे। इन धनुष से 80 से 100 कदम की दूरी तक आघात किया जा सकता था। ये तीर "तलवार, लंबे ढालों, और लंबे बरछों को सरलता से भेद देते थे।" तुर्क

अमीर एवं अश्वरोही जिरहबख्तर पहने रहते थे और तीर-कमान तथा बरछों से लड़ते थे। उनके पास लंबी तेज तलवार भी रहती थी।⁴

दिल्ली के सुल्तानों ने न केवल सैनिक संगठन में ही बल्कि राजनीति में भी बहुत उन्नति की थी। वे नयी युद्ध प्रणाली को मध्य एशिया और अफगानिस्तान से अपने प्रदेशों में लाये थे इस युद्ध प्रणाली में अश्वरोही तीरंदाजी को हल्के सैनिकों की तरह शत्रुओं को परेशान करने और तीरों की वर्षा से उनके सैनिकों के अव्यवस्थित कर देने के लिए प्रयोग किया जाता था, फिर शत्रु सेना पर जिरहबख्तर से सुसज्जित अश्वरोही सेना से आक्रमण कर दिया जाता था। सुल्तानों की सेना पांच दस्तों में बांट दी जाती थी दायां भाग, मध्य, बायां भाग, हरावल और सुरक्षित भाग इनको अर्द्ध-चन्द्राकार खड़ा किया जाता था। ये दस्ता न तो एक दूसरे से सटते थे। और नहीं सामने से हमला ही करते थे, बल्कि उनके अश्वरोही तीरंदाजी बड़े-बड़े दस्ते चारों तरफ घूम-घूम कर भारतीय सेना पर अपने तीरों की वर्षा करते थे। दूसरी ओर साधारणतया भारतीय सेना एक लंबी पंक्ति में खड़ी की जाती थी और परंपरागत तीन दायें, मध्य और बायें भागों में बांट दिया जाता था। उसके पास न तो हरावली दस्ता होता था और नहीं सुरक्षित सैन्य दल। मुसलमान सेना का तरीका यह था कि वह धीरे-धीरे चुप-चाप घूम-घूम कर राजपूत दस्तों को घेर लेती थी, और फिर युद्धरत भारतीय सैनिकों पर पीछे से आक्रमण कर देती थी जब भारतीय सेना अस्त-व्यस्त हो जाती थी तब तुर्क अश्वरोही सेना तीरों से भयंकर वर्षा शुरू कर देते थे, और उनके अर्द्ध-चन्द्राकार व्यूह के सिर भारतीय सेना के पीछे मिल जाते थे।⁵

मध्ययुग के प्रारंभिक काल में मुसलमानों ने किलों पर घेरे डालने में अधिक वैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया था। वे लोग एक विशेष प्रकार के लकड़ी के यंत्र बनाते थे और किले के भीतर धीरे से लोगों पर बड़े भारी-भारी पत्थर के गोला फेका करते थे। ये तीर ढेला फेकने के यंत्र मिंजनिक अर्राड, गारगय और सगे मगरबी कहलाते थे वे किले दीवारों पर चढ़ने के लिए 'पाशीब' नामक ठोस पत्थर ढोको से दीवार सी भी बनाते थे।⁶

राजपूतों को अपने खड्ग लघ्वता पर अभिमान था और युद्ध से अपनी रण-कुशलता तथा शौर्य प्रदर्शन की प्रतियोगिता भी समझते थे लेकिन अरबी और तुर्क सैनिक जीतने के दृष्टिकोण से

युद्ध लड़ा करते थे और युद्ध में सभी साधनों को उचित समझते थे।⁷

हिन्दू सैनिक निर्बलता का लाभ उठाना अनुचित समझते थे जबकि अरब और सिन्ध सैनिक ढोंगी और चालबाजी में निपुण थे। हिन्दू सेना का ध्यान बांटने के लिए तुर्कों के दल भारतीय नगरों पर जा टूटते थे और प्रदेशों को तलवार और आग की भेट चढ़ा देते थे। वे साधारण प्रजा को त्रस्त और अशांत करने के लिए ऐसा करते थे। इसके अलावा वे कट्टर धर्मान्धता से प्रेरित होते थे और वे मानते थे कि संसार में बुतपरस्ती को मिटाकर उसे इस्लाम के लिए सुरक्षित बना देने के लिए खुदा ने उन्हें ही चुना है। इन विश्वासों ने ही उन्हें युद्ध क्षेत्र में और अधिक प्रेरणा दी।⁸

इससे पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा कही गई बातें चरितार्थ होती हैं कि “युद्ध एक प्रकार का धोखा” (हल-हर्ब खादा) है।⁹

मुगलकालीन सैन्य संगठन

सल्तनत और मुगलकाल के बीच के काल में युद्ध विज्ञान में बड़ी क्रांति सी आ गई थी। इसका प्रारंभ कुछ हद तक यूरोप में हुआ था। बन्दूकों और तोपों ने गिरहबख्तर धारण किये हुए योद्धाओं की श्रेष्ठता को समाप्त कर दिया। ये योद्धा मध्ययुग के प्रारंभ में मध्य एशिया और भारत में छाये हुए थे। सन् 1453 में कान्स्टैटन टिनोपल की विजय के पश्चात् तुर्क यूरोपीय शक्ति बन गये थे। इसलिए एशिया में तुर्कों ने ही सर्वप्रथम इस युद्ध प्रणाली को अपनाया जो कि सामंत, योद्धाओं की सेना के विरुद्ध सर्वत्र एक सी सफल हुई थी। 16वीं शताब्दी में संपूर्ण एशिया में तुर्कों के सभी युद्ध के तरीके पसंद किये जाने लगे थे। तुर्कों ने ही सर्वप्रथम एशिया में तोपों की ओर 15वीं शताब्दी में फ्रांसीसी और इटालियन सेनाओं की नकल कर पैदल का प्रयोग किया था। अपनी सेना में सनप जंजीरों से बांधी मालगाड़ी (अराबा) को रखकर शत्रुओं के अश्वरोही सेना को आक्रमण के समय

रोकने का एक अनोखे तरीके का अविष्कार किया था। इससे प्रतीत होता है कि तुर्कों ने गाड़ियों की सहायता से रक्षात्मक आड़ बनाने का यह तरीका बेहेमियन जनरल जॉन जिस्का से लिया था। जिस्का ने इस तरीके का प्रयोग 1420 में आस्ट्रियन अश्वरोही सेना के विरुद्ध किया था। उसका यह प्रयोग उसी के साथ समाप्त हो गया था, क्योंकि 15वीं शताब्दी में किसी और यूरोपीय युद्ध में हमें गाड़ियों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता है।

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने भारत में आने से पूर्व तुर्क, उपबेज, मंगोल और अफगान में युद्ध किया और ये सभी युद्ध ‘रूमी’ युद्ध प्रणाली पर आधारित था। भारत में बारूद और तोपों का प्रयोग करने वाला प्रथम शासक बाबर ही था। उसने इसका प्रयोग विशेषकर पानीपत और खनवा के युद्ध में किया था। आतिशबाजी की चीजें जैसे गोला बारूद, आग हवाई-बाण आदि से भारतीय सैनिक परिचित थे। लेकिन ये अस्त्र-शस्त्र नहीं थे और न ही युद्ध में लगे सैनिकों के लिए उपयोगी थे। बाबर हल्की-हल्की युद्ध की तोपों और बंदूकें लाया था जिन्हें उठाकर पीठ पर लादा जा सकता था इन सभी प्रयोग ने भारतीय युद्ध प्रणाली के विकास में एक नवीन युग का सूत्रपात किया।¹⁰

बाबर ने पानीपत और खानवा दोनों युद्ध में अपनी सेना को इस प्रकार व्यवस्थित किया कि उसके आग्नेय अस्त्रों ने एक सुरक्षित गढ़ (लंगर) का रूप ले लिया। पानीपत के मैदान में उसने अपने सैनिकों को पानीपत के गांव के पूर्व की ओर इस प्रकार खड़ा किया कि उसका मुंह दक्षिण की ओर हो। सेना के अग्र भाग की रक्षा के लिए 700 पहियेदार गाड़ियों की कतार (लंगर) उसके सामने जमा कर दी। इसमें हर दो पहिये कच्चे चमड़े के तस्मों में से एक दूसरे से बंधे हुए थे। बंधी गाड़ियों के बीच ढीय में 60-70 गज तक की जगह खुली छोड़ दी जाती थी, ताकि इसके ढीय

से 100 अश्वरोही निकल कर हमला कर सकें। उसने हर दो तोपों के बीच में खिसकने वाला 6-7 तूरा बनवाये जिससे की तोपची सुरक्षित रहे। इन तूराओं के पीछे दायीं ओर उस्ताद अली और बायीं ओर मुस्तफा के नेतृत्व में तोपें जमा दी गईं। तोपों के पीछे हरावली दस्ता खड़ा किया गया। इस दस्ते के पीछे सेना का मध्य भाग (गुल) बाबर के कमान में था। इस मध्य भाग को दायें मध्य और बायें मध्य में बांट दिया गया था, और बाबर इन दोनों के बीच अपने घोड़े पर जमा हुआ था, उसकी सेना का दायीं भाग (बरंगदार) पानीपत के गांव से लगा होने के कारण सुरक्षित था, बायें भाग की सुरक्षा के लिए खाइयां खोद दी गई थीं और कटे हुए पेड़ों की अबातियां बना दी गई थीं इन व्यूह रचना के एकदम दायें और बायें सिर पर घेरा डालकर घूम-घूम कर आक्रमण करने वाले दस्ते (तुलुगमा) नियुक्त किये गये थे। इन पर तुलुगमा दस्ता से चुना गया तुर्क अश्वरोही सैनिक थे जिनका मुख्य काम शत्रुओं के पार्श्व दस्ता को विचलित कर, घूमकर पीछे से आक्रमण कर देना था। बाबर के इस व्यूह रचना से थोड़ा हटकर, सबसे पीछे, चुने हुए सवारों का सुरक्षित दल था।¹¹

खनवा के युद्ध में भी लगभग बाबर ने यही युद्धनीति को अपनाया था केवल अन्तर इतना ही था कि पानीपत के युद्ध में गाड़ियों की कतार से 700 गाड़ियां थीं जबकि खनवा के युद्ध में यह लोहे के जंजीरों से जकड़ दिया गया था। पानीपत की लड़ाई में तोपचियों की सुरक्षा के लिए तूरा बनाया गया था जबकि खनवा की लड़ाई में पहियेदार लकड़ी की तीन टांग वाली वाहन बनाई गई थी। जिसको खिसकाने के लिए तख्ते गले होते थे इस प्रकार के वैज्ञानिक युद्ध के तरीके से बाबर को खनवा युद्ध में विजयी मिली।¹²

अकबर ने “पहियेदार गाड़ियों पर जमीं तोपों, हाथ की बन्दूकों की नाल लंबी बनवाकर और दीवार में दुफंगी लकड़ी पर

लगी या हाथी अथवा ऊंट की काटी पर ठुकी गजनाल और भुतरनाल से इस सैन्य व्यवस्था को और अधिक उन्नत बना दिया।¹³

अकबर में दो और नयी बातें थी वे ये थी कि वह बहुत ही महत्वपूर्ण सैन्य अभियान में मौसम की कतई परवाह नहीं करता था और भारी औपचारिकता और साज-सज्जा को ताक पर रख देता था। अगर वे मई-जून के तपे दिनों में या जुलाई अगस्त की वर्षा और बाढ़ के बीच भी सैन्य अभियान में निकल पड़ता था। इससे उनके विरोधी चकित हो जाते थे, क्योंकि वे सोचते थे कि वर्षा में महीनों में सैनिक अभियान ही नहीं सकता सेनाएं दशहरे के पश्चात् मार्ग सूखने लगते हैं तभी निकल सकती हैं अकबर ने अब्दुल्ला खां और उजवेग के विरुद्ध मालवा पर जुलाई अगस्त 1564 में चढ़ाई किया था। इसी प्रकार अगस्त सितम्बर 1573 में दुतगति से दुबारा गुजरात पर जा टूटा था और जून अगस्त 1574 में पटना पर चढ़ाई की थी। इन सभी से उपरोक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।¹⁴

भारतीय शासकों द्वारा मुगलकालीन युद्ध प्रणाली अपनाना

16वीं शताब्दी में समकालीन भारतीय सैनिकों ने मुगल की उपर्युक्त युद्ध प्रणाली का अनुसरण किया। शेरशाह ने इस मुगल कालीन युद्ध प्रणाली को अपनाया किन्तु गुजरात के शासक बहादुरशाह मुगल कालीन युद्ध प्रणाली अपनाते में अधिक सफल रहे। उन्होंने सुप्रसिद्ध सेना की रुमीखां के अंतर्गत एक शक्तिशाली तोपखाना तैयार करवाया और इस नयी युद्ध प्रणाली के श्रेष्ठता के फलस्वरूप उसने मालवा एवं सिन्ध पर विजय पायी लेकिन हुमायूं पर युद्ध प्रणाली लागू नहीं हो सकी क्योंकि हुमायूं मुगल युद्ध प्रणाली में अधिक दक्ष था।

किलेबंदी में सुधार

सैन्य प्रणाली में सुधार के साथ-साथ किलों की सुरक्षा के तरीकों और व्यवस्थाओं में भी बड़ी उन्नति हुई। यह तोपों के नवीन

प्रयोग एवं सभ्यता के विकास के फलस्वरूप ही संभव हो पाया। अब किलों की सुरक्षा के लिए लंबी-लंबी बड़ी-बड़ी तोप लगा दी जाती थी। उनके कार्य सुनिश्चित कर दिए जाते थे। इनके नायकों के ऊपर प्रधान नायक होता था जो किलों के अलग-अलग फाटकों, दीवारों और फसीलों की देखभाल और सुरक्षा का कार्य अपने सहयोगियों के बीच बांट देता था तोपखाना अधीक्षक के नियमानुसार शाही किले के भीतर रखा जाता था और वह उसकी सुरक्षा के लिए जिम्मेदार होता था।

किलों का वैज्ञानिक घेरा

उपरोक्त परिवर्तन के साथ ही किले पर घेरा डालने के तरीके में भी परिवर्तन हुआ। शत्रु के किलों को पूर्ण रूप से घेर लिया जाता था और गढ़ की दीवारों को ध्वस्त करने तथा शत्रु मोर्चा को तोड़ने के लिए सब ओर तोप जमा दिया जाता था। दुर्ग के प्राचीर के नीचे सुरंग खोदकर उसमें बारूद रख दिया जाता था, और फिर उसे उड़ा दिया जाता था। सुरंग उड़ाने के साथ ही तोपों के बड़े-बड़े गोले बरसा दिए जाते थे जिससे किलों की सुरक्षा व्यवस्था ही नष्ट हो जाये और भीतर के लोगों के हृदय दहल उठे। किलों के जड़ के पास तीर गिरने की दूरी तक दो समान्तर दीवारों की 'सबात' (ढका हुआ मार्ग) बना ली जाती थी। सवात के छत से किलों के भीतर के लोगों एवं सुरक्षा केंद्रों पर भारी तोपों से गोलीबारी की जाती थी। ये सब बातें घेरा डालने वालों की ओर से विशेषकर सुरंग खोदने वालों की बचत करती थी। अकबर ने चित्तौड़ में 1667-68 ई० में इस प्रणाली का प्रयोग किया था। इस घेरा को प्रारंभ करने से पूर्ण उस क्षेत्र की भूमि का निरीक्षण किया जाता था। इसके वैज्ञानिक घेरों में 30-30 मन के पत्थर के गोलों का प्रयोग किया जाता था।¹⁵

अंत में हम कह सकते हैं कि मुगल कालीन युद्ध प्रणाली अत्यंत ही सुनियोजित एवं सुसंगठित होती थी प्रत्येक शासक

सुरक्षा की तरफ अपना पूरा ध्यान आकृष्ट बनाने का हर-संभव प्रयास करता रहा। अकबर के उत्तराधिकारी के शासनकाल में मुगल सैन्य संगठन में कुछ ढीलापन अवश्य आ गया था लेकिन उसको संभालने का हर संभव प्रयास किया गया था। 18वीं शताब्दी के अंत तक मुगलकालीन युद्ध प्रणाली एवं सैन्य संगठन पुरानी पड़ गयी थी और पश्चिमी सैन्य एवं युद्ध प्रणाली के इस देश में प्रवेश के कारण मुगल कालीन सैन्य एवं युद्ध प्रणाली बिखर गई।

1. दि एज ऑफ ईम्पीरियल यूनिटी पृष्ठ संख्या 64-65 ।
2. कैम्ब्रिज मिडिकल हिस्ट्री भाग 1 पृष्ठ संख्या 331 ।
3. हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड रिविवासरिय अंक 7 मार्च 1954
4. सरकार कृत मिलिटरी हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृष्ठ संख्या 27-28 ।
5. लेखकृत "काजेज आव दि फाल ऑफ दि हिन्दू स्टेट्स इन अर्ली मिडिल एज" विक्रम यूनिवर्सिटी जनरल भाग 1 नं० 4 पृष्ठ संख्या 1 ।
6. बरानी पृष्ठ संख्या 272, 298, 299 खजान उल फतूह (हबीबकृत अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ संख्या 48
7. सरकार कृत मिलिटरी हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ संख्या 35 ।
8. सरकार पृष्ठ संख्या 26 ।
9. मिलिटरी हिस्ट्री आव इण्डिया पृष्ठ संख्या 35 ।
10. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव-मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ संख्या 11, 12, 13 ।
11. बाबरनामा (बेवरिजकृत अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ संख्या 334, 335, 568 ।
12. लेखकृत मुगल एम्पायर (तृतीय सं०) पृष्ठ संख्या 19, 28, 29 ।
13. सरकारकृत-मिलिटरी हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृष्ठ संख्या 55 ।
14. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव-मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ संख्या 14 ।
15. वही-पृष्ठ संख्या 14, 15 ।

शोधकर्ता (यू. जी. सी. नेट),
इतिहास विभाग बी. आर. ए.,
बी. यू. मुजफ्फरपुर

1857 की क्रांति में कुंवर सिंह की भूमिका

पवन कुमार

अंग्रेजी साम्राज्य विस्तार ने भारतीयों के लिए कई प्रकार की असुविधाओं और असंतोष को जन्म दिया। अंग्रेजों ने भारत में सदियों से चली आ रही परंपराओं और रीति-रिवाजों को नष्ट करना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं उन्होंने प्रशासनिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी परिवर्तन लाना शुरू कर दिया। इन परिवर्तनों से भारतीय जनता असंतुष्ट हो गई। लोगों का यह असंतोष 1857 की क्रांति के रूप में सामने आया। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इस क्रांति का नेतृत्व अलग-अलग व्यक्तियों ने किया तथा बिहार में इस क्रांति का नेतृत्व मुख्य रूप से जगदीशपुर के जमींदार कुंवर सिंह ने किया।

पटना के जिलाधीश ने दिसंबर 1857 में कुंवर सिंह के बारे में कहा था। 'मुझे खबर मिली है कि इस षड्यंत्र में शाहाबाद के शक्तिशाली जमींदार बाबू कुंवर सिंह की मिली भगत है। वह पटना आए थे और रहुत अली के संपर्क में थे।' शाहाबाद के प्रभारी जिलाधिकारी एल्फिस्टन जैक्सन ने 23 जनवरी, 1846 ई० को बंगाल सरकार को लिखा, "बाबू कुंवर सिंह इस जिला के सबसे प्रभावशाली जमींदार हैं, तथा लोगों के बीच में काफी लोकप्रिय हैं। पटना के षड्यंत्रकारियों के साथ उनकी मिलीभगत है। मुहर लगे उनके कुछ पत्र इसके गवाह हैं।"

25 जुलाई, 1857 को दानापुर फौजी छावनी की तीन टुकड़ियों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 26 जुलाई को विद्रोही सैनिक शाहाबाद के बाबू कुंवर सिंह के नेतृत्व में आ गए। अपने गढ़ जगदीशपुर में उन्होंने अस्त्र-शस्त्र का एक कारखाना खोल रखा था तथा 20,000 सैनिकों के छह महीने के लिए रसद का प्रबंध कर रखा था।

कुंवर सिंह के मुख्य अनुयायी उनके भाई अमर सिंह और रीत नारायण, उनके भतीजे निशान सिंह और जयकृष्ण सिंह, शाहाबाद के चार जमींदार (नरहर सिंह, जोहन सिंह, ठाकुर दयाल सिंह, विशेषवर सिंह) एक मुस्लिम वकील और एक युवा मुसलमान थे। दानापुर के बागी फौजी 27 जुलाई (सोमवार) को आरा पहुंचे। उनको लेकर कुंवर सिंह ने आरा में अंग्रेजों को घेर लिया। तत्कालीन जिलाधिकारी मि० एच० सी० बेक तथा अन्य यूरोपीयों ने 26 जुलाई की संध्या में ही रेलवे कंपनी के जिला अभियंता मि० बॉयल के दो मंजिले भवन में शरण ले रखी थी। लगभग 500 यूरोपीय और सिख दानापुर से कप्तान डनवर के नेतृत्व में आरा पहुंचे। 30 जुलाई को इन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसी दिन

जनरल लॉयड ने सेनाध्यक्ष को तार भेज कर सूचित किया, "खेद के साथ सूचित करना पड़ता है कि आरा अभियान के परिणाम बड़े विपत्तिजनक रहे हैं। इसके लिए 37 रेजीमेंट के दिवंगत कप्तान डनवर का अकुशल नेतृत्व और कुप्रबंधन जिम्मेदार है।" 31 जुलाई, 1857 ई० को कैप्टन आर० पी० हैरिसन ने सहयोगी सेनाध्यक्ष को लिखा, 'अंधकार की वजह से विद्रोहियों को बहुत कम नुकसान हुआ। हमारी फौज काफी थक गई थी और गोली नहीं चला पा रही थी। स्थानीय लोग हमारे विरुद्ध हो गए थे।' 2 अगस्त, 1857 ई० को मेजर जनरल लॉयड ने पुनः सेनाध्यक्ष को खबर की, "आरा में कुंवर सिंह और बागियों का सामना करने के लिए अपर्याप्त फौज है। कुंवर सिंह ने बहुत बड़ी सेना इकट्ठी कर ली है। वह पटना पर भी आक्रमण करने के लिए सोच रहे हैं लेकिन उनके असली इरादे मालूम नहीं हैं। सोन नदी की सभी नावें उनके कब्जे में हैं।"

इस संकटमय स्थिति में मेजर आयर, जो इलाहाबाद जा रहा था, अंग्रेजों का मुक्तिदाता बन गया। वह आरा की ओर मुड़ गया और 3 अगस्त को बीबीगंज में कुंवर सिंह की सेना को पराजित किया तथा आरा में अंग्रेजी सेना को मुक्त किया। बाद में और इमारतों एवं यहां तक कि मंदिरों को भी ध्वस्त कर दिया। किंतु अंग्रेजी सेना के इस उत्पात से कुंवर सिंह तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने दूर-दराज के इलाकों में अपनी गतिविधियों का विस्तार किया।

कुंवर सिंह की गतिविधियों से प्रभावित होकर छोटानागपुर, संधाल परगना तथा बिहार के अन्य भागों के नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कार्रवाइयां तेज कर दीं। वस्तुतः वे इन नेताओं के संपर्क में थे तथा छोटानागपुर, शाहाबाद, पटना, भागलपुर और तिरहुत के विद्रोहों में उनकी सलिप्तता थी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि कुंवर सिंह बिहार के बाहर भी सक्रिय थे। वे रीवा, ग्वालियर, लखनऊ और आजमगढ़ के क्रांतिकारी नेताओं के साथ मिले हुए थे। अगस्त 1857 ई० में बिहार छोड़ने के बाद वे अनेक जगहों में स्थानीय नेताओं के साथ मिलकर अंग्रेजों को नाकों चना चबाते रहे। इसमें उन्हें आम लोगों का भी सहयोग प्राप्त था। इस संयुक्त कार्रवाई की चर्चा करते हुए एक समकालीन अंग्रेज सैनिक अधिकारी ने लिखा, "संकट आ गया। पहले तो यह बिल्कुल सैनिक गदर था, किंतु शीघ्र ही इसका स्वरूप बदल गया, और एक राष्ट्रीय विद्रोह हो गया। बिहार, बनारस, आजमगढ़,

गोरखपुर, मेरठ, आगरा, रोहिलखंड और अवध में हमारा शासन हिल गया और सभी ने हमारे विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।”

1857 ई० में कुंवर सिंह ने रीवा में प्रवेश करने का प्रयास किया किंतु वहां के स्थानीय राजा के अंग्रेज अधिकारी लेफ्टीनेंट ओसबर्न ने उनका विरोध किया। तब वे बांद्रा चले गये। बांद्रा से वे और उनके सहधर्मी निशान सिंह कालपी आए। ग्वालियर फौज के साथ मिलकर उन्होंने कानपुर में युद्ध किया। इस युद्ध में नाना साहिब और उनके मित्रों को पराजय का मुंह देखना पड़ा। इस युद्ध में अपनी पराजय न मानते हुए कुंवर सिंह लखनऊ की ओर चल पड़े। यहां अवध के शाह ने उनका बड़ा सम्मान किया तथा एक फरमान जारी कर आजमगढ़ का जिला और बारह हजार रुपये नकद दिए। 17 मार्च, 1858 ई० को कुंवर सिंह अतरौलिया (आजमगढ़ से 25 मील दूर) में अपनी विजय वाहिनी सेना से मिले। कर्नल मीलमैन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने उन पर आक्रमण किया, किंतु उसकी ही पराजय हो गई। मीलमैन ने आजमगढ़ पर कब्जा कर लिया। कर्नल डेम्स के अधीर अंग्रेजी सेना ने आजमगढ़ पर हमला किया, लेकिन उसे भी पराजय का मुंह देखना पड़ा। आजमगढ़ कुंवर सिंह के नियंत्रण में रहा।

अंग्रेज बड़े पेसोपेध में पड़ गए। वे समझ नहीं पाए कि आखिर कुंवर सिंह कौन-सा करिश्माई व्यक्तित्व हैं। छापामार युद्ध-प्रणाली में सिद्धहस्त होने के कारण वे अंग्रेजों का होश उड़ा देते थे। साहस, वीरता और निर्भीकता के वे प्रतीक थे। अवसर को पहचानने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग के तुरंत ही स्थिति की गंभीरता को समझा। उसने मार्क कीर और सर एडवर्ड लुगार्ड को कुंवर सिंह पर दबाव डालने और आजमगढ़ को मुक्त करने के लिए भेजा। इसकी

खबर सुनते ही अंग्रेजों को चकमा देकर कुंवर सिंह गाजीपुर की ओर बढ़ गए। उस समय उनकी योजना गंगा पार कर जगदीशपुर पर पुनः अधिकार करने की थी। गाजीपुर में उन्हें कुछ जमींदारों तथा आम लोगों का भी सहयोग और सहायता मिली।

21 अप्रैल, 1858 ई० को कुंवर सिंह ने ब्रिगेडियर डगलस के अधीन अंग्रेजी सेना का साहसपूर्वक सामना किया। युद्ध में वे घायल हो गए और एक हाथ भी उन्हें खोना पड़ा। उसी रात वे शिवपुर घाट में गंगा पार कर गए। एक समकालीन दस्तावेज में वर्णित है, “गंगा के दाहिने किनारे ग्रामीणों ने बागियों की मदद की।” 23 अप्रैल को कुंवर सिंह जगदीशपुर पहुंच गए। इसी दिन कैप्टेन ली ग्रैंड के अधीन एक अंग्रेजी सेना जगदीशपुर पहुंची जिसे पराजय का मुंह देखना पड़ा और काफी नुकसान उठाना पड़ा। विजेताओं ने उनकी बंदूकें छीन लीं। कुंवर सिंह के विरुद्ध भेजे गए ढाई सौ या तीन सौ सैनिकों में केवल 25 या 3 यूरोपीय, 30 या 35 सिख और 7 अधिकारी ही आरा लौट पाए। 23 अप्रैल को आज भी विजय दिवस के रूप में मनाया जाता है। विजय दिवस के तीन दिनों

के उपरांत ही अमर्त्य वीर कुंवर सिंह का देहावसान हो गया। वीर कुंवर सिंह के निधनोपरांत भी आजादी के दीवानों ने जंग जारी रखी। इनमें अमर सिंह, हरकिसन सिंह, जोधन सिंह, अली करीम तथा अन्य लोग शामिल थे। उनकी गतिविधियों से महीनों भर कंपनी के अधिकारी परेशान रहे। उनमें से कुछ ने जगदीशपुर में समानांतर सरकार की स्थापना कर ली। अमर सिंह जंग को जारी रखते इधर-उधर घूमते रहे। जब नाना साहिब नेपाल आ गए तो वह नाना के सैनिकों का नेतृत्व करने के लिए तराई क्षेत्र में आ गए। किंतु दिसंबर 1859 ई० में उन्हें पकड़ लिया तथा गोरखपुर जेल में बंद कर दिया गया। वहीं 5 फरवरी 1860 ई० को उनका देहांत हो गया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कौलेश्वर राय-बिहार का इतिहास
2. 4 जुलाई 2007 को दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित विभिन्न लेख
3. विपिन चन्द्र-भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
4. एम० एस० जैन-आधुनिक भारत का इतिहास
5. प्रभात कुमार सिंह-बिहार का अध्ययन

शोधार्थी, जय प्रकाश
विश्वविद्यालय, छपरा

जीवन वृत्त

महान देश रत्न (टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल)
चिरमस्त्रीय महान वैज्ञानिक
यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम
कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल
मदर टेरेसा

चिरमस्त्रीय महान लेखक
चिरमस्त्रीय महान व्यक्तित्व
निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व
सरदार वल्लभ भाई पटेल

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

प्राचीन भारतीय फसल उगाही के लिए कृषि विधि और उपकरणों का अनुशीलन

डॉ० सुरेन्द्र कुमार

अन्न की महत्ता

प्राचीन सभ्यता मुख्य रूप से कृषि पर आधारित थी। इसी कारण लोगों में भूमि के प्रति अपनी जानकारी बढ़ाने का कारण बड़े पैमाने पर अन्न उत्पादन करने की उनकी इच्छा थी। अतः सभ्यता का विकास कृषि के विकास के साथ जुड़ा हुआ था। इसी कारण वैदिक साहित्य में हम जगह-जगह अन्न की महिमा का वर्णन पाते हैं।

वैदिक साहित्य में अन्न के बारे में बहुत अच्छी अभिव्यक्तियाँ हैं, जो प्रमाणित करती हैं कि तत्कालीन लोगों का मुख्य पेशा कृषि था एवं कृषि के विकास के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते थे। ऐसा कहा गया है कि पृथ्वी एवं मनुष्य की रचना के पश्चात् अन्न की रचना ईश्वर ने की।¹ तैत्तिरीयोपनिषद् ने तो लिखा है कि अन्न ही ब्रह्म है।² “पृथ्वी के सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्न में ही लय होते हैं।”³ ये कथन तत्कालीन लोगों के भरण-पोषण में अन्न की अपरिहार्यता की ओर संकेत करता है। अथर्ववेद के अनुसार तो पृथ्वी का गुणगान ही इसकी अन्नापादन क्षमता के कारण किया जाता है।⁴ अन्नों का स्वामी होना प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा सूचक था, क्योंकि अन्नों का स्वामी चारों दिशाओं को जीतने में समर्थ था। तैत्तिरीयोपनिषद्⁵ के अनुसार अन्नवान् व्यक्ति संतान, पशु और कीर्ति से युक्त महान् बनता है। राजाओं के भी अन्न से संपन्न होने की कामना की गई है। इसका मतलब है कि अन्नवान होना सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक था। इस संदर्भ में ऋग्वेद, के दशम मंडल का यह उद्धरण महत्वपूर्ण है कि अन्न से परिपूर्ण घर देखने में सुंदर लगता है।⁶ यजुर्वेद में अन्न के गुणों की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि अन्न भूख मिटाने वाला, प्रजनन समर्थ, पालन करने वाला, शरीर को तेजस्वी बनाने वाला, इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में समर्थ कराने वाला, जीवन का अस्तित्व कराने वाला, शरीर को तेजस्वी बनाने वाला, इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में समर्थ कराने वाला, जीवन का अस्तित्व कराने वाला, शरीर को बढ़ाने वाला, देह में गति देने वाला⁷ आदि है। यजुर्वेद में ही अन्न को पृथ्वी का श्रेष्ठ पदार्थ कहा गया है। तथ्य इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि अन्न और प्रकारांतर से कृषि तत्कालीन लोगों के जीवन का एक अपरिहार्य अंग थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्यकाल में लोग अधिकाधिक अन्न प्राप्ति की ओर काफी सचेष्ट थे। अन्न की प्राप्ति विभिन्न फसलों के माध्यम से ही हो सकती है। वैदिक साहित्य में विभिन्न फसलों के विषय में भी हमें पर्याप्त जानकारी मिलती है।

वैदिक साहित्य में दो प्रकार के फसलों की चर्चा है। पहले प्रकार की फसलें वे थी, जिनके लिए सिलसिलेवार खेती की जाती थी। इन्हें ग्राम्य अन्न भी कहा जाता था। दूसरे प्रकार की फसलें वे थी, जो बिना खेती के उत्पन्न होती थी। ये वन में उत्पन्न होती थी। इन्हें वन में उत्पन्न अन्न (अरण्य अन्न) कहा जाता था। आलोच्य काल में जिन फसलों की खेती सिलसिलेवार ढंग से की जाती थी वे निम्नलिखित हैं—

यव: पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को फसल के रूप में सबसे पहली जानकारी यव या जौ की हुई। जौ की फसल को उपजाना अन्य फसलों की खेती की अपेक्षा सरल है। इसकी खेती के लिए बहुत वर्षा या नमी युक्त वातावरण की जरूरत नहीं है। इसकी सबसे अच्छी उपज ऐसी जलवायु वाले क्षेत्रों में होती है, जो शुष्क एवं शीतोष्ण होते हैं, किंतु सिंचाई के लिए जहां जल उपलब्ध रहता है,⁹ जौ की फसल जल्द पक कर तैयार हो जाती है।¹⁰ सिन्धु सभ्यता के लोग प्रारंभिक आर्य सिन्धु तथा पंजाब के क्षेत्रों में रहते थे, जहां की जलवायु अपेक्षाकृत शुष्क थी तथा जहां विभिन्न नदियों द्वारा सिंचाई के लिए हमेशा पानी उपलब्ध रहता था। अतः यह जौ तथा इसकी जाति की अन्य फसलों के उत्पादन की दृष्टि से आदर्श था। इस कारण इस क्षेत्र के आरंभिक लोगों ने सर्वप्रथम जौ की खेती शुरू की। सिन्धु सभ्यता के लोगों को जौ की जानकारी थी।¹¹ इसका प्रमाण हमें मोहनजोदड़ो से प्राप्त जौ के दानों के अवशेष से मिलता है। डी० पी० अग्रवाल के अनुसार पुरातात्विक उत्खनन में जौ के अवशेष सिन्धु सभ्यता स्थलों जैसे मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालीबंगा, चिरन्द के नवपाषाण युगीन स्तर एवं ताम्रशय युगीन इनाम गांव (पूना के निकट) तथा नवदाटोली (मध्य प्रदेश) में प्राप्त हुए हैं। वैदिक आर्यों को भी फसल के रूप में सबसे पहली जानकारी जौ की हुई।

वैदिक-साहित्य में कुछ ऐसे आख्यान हैं जिनसे भी पता चलता है कि आर्यों को सबसे पहले जौ की खेती की जानकारी मिली। ऋग्वेद में कहा गया है कि कृषि देवता अश्विनी कुमारों ने हल से जौ की खेती की। अथर्ववेद¹⁴ के अनुसार “मधुरस युक्त यव (मधुना संयुतं यवं) को देवताओं ने सरस्वती नदी के निकट मनुष्यों को दिया। उस समय इन्द्र ने हल पकड़ा और सुंदर दान वाले मरुगण कृषक बने।” शतपथ ब्राह्मण के अनुसार “यज्ञीय तत्त्व मनुष्य, अश्व, बैल, भेड़ा, बकरा से होता हुआ पृथ्वी में पहुंचा। इसके बाद भूमि को खोदा गया तो यज्ञीय तत्त्व जौ एवं चावल के रूप में मिला। आज भी भूमि को खोदने पर ही जौ प्राप्त

किया जाता है।” शतपथ ब्राह्मण की ही एक अन्य कथा के अनुसार इन्द्र के एक अंग से जौ बना। उपर्युक्त आख्यानों से स्पष्ट है कि तत्कालीन लोगों की जिन्दगी में शुरू से ही जौ का महत्वपूर्ण स्थान था। फसल के रूप में जौ की सबसे पहले खोज हुई तथा पूरे वैदिक काल में बड़े पैमाने पर इसकी खेती होती रही। अथर्ववेद¹⁵ में जौ से अभ्यर्थना की गयी है कि वह बड़ी मात्रा में उत्पन्न हो, क्योंकि जौ इसे खाने वाले को स्फूर्तिदायक बनाता है। इसी ग्रंथ में जौ की तुलना मधु से की गई है। चित्रित धूसर भांड सभ्यता के एक क्षेत्र अत्रजिखेरा के उत्खनन में जौ की प्राप्ति हुई है। इससे उत्तर वैदिक युग में भी जौ की लोकप्रियता प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार जौ की फसल ग्रीष्म ऋतु में तैयार होती थी।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि लोगों को फसल के रूप में न केवल सर्वप्रथम जौ की जानकारी हुई, बल्कि संपूर्ण आलोच्यकाल में जौ एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय फसल के रूप में बनी रही।

गेहूँ: गेहूँ आलोच्यकाल की एक मुख्य फसल थी। जिस तरह की शीतोष्ण एवं अपेक्षाकृत शुष्क जलवायु तथा सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी जौ की फसल के लिए चाहिए, वैसी ही जलवायु एवं स्थिति गेहूँ की फसल के लिए भी चाहिए। सिन्धु नदी के आस-पास का प्रदेश एवं पंजाब के इलाके की जलवायु लगभग इसी तरह की है। अतः सिन्धु सभ्यता तो बिल्कुल गेहूँ की उपज पर आधारित सभ्यता थी।¹⁶ हालांकि सिन्धु-सभ्यता के लोगों को अन्य फसलों की भी जानकारी प्राप्त थी, किंतु उनकी मुख्य फसल गेहूँ ही थी। पुरातात्विक उत्खनन में गेहूँ मोहनजोदड़ों, चन्हुदोरो, हड़प्पा आदि सैधव स्थलों (2200-2000 ई० पूर्व) तथा ताम्राश्मयुगीन (1500-1000 ई० पूर्व) स्थलों जैसे इनाम गाँव और नवदा-टोली से प्राप्त हुए हैं।

वैदिक साहित्य में गेहूँ की बड़े पैमाने पर चर्चा हमें प्राप्त होती है। हालांकि ऋग्वेद में कहीं भी गेहूँ की चर्चा नहीं है किंतु इस

आधार पर यह निष्कर्ष निकालना है कि ऋग्वैदिक लोगों को गेहूँ की जानकारी नहीं थी, एक अतिशयोक्तिपूर्ण बात होती। ऋग्वेद में गेहूँ की चर्चा इसलिए भी नहीं है क्योंकि यज्ञ में गेहूँ की कोई भूमिका नहीं थी। ऋग्वेद प्रार्थनाओं एवं यज्ञों का वर्णन करने के लिए लिखा गया था, फसलों की तालिका बनाने के लिए नहीं। फिर गेहूँ की जानकारी के संकेत हमें नव पाषाण युग से ही प्राप्त होते हैं।¹⁷ अतः ऋग्वैदिक लोगों को गेहूँ की कोई जानकारी नहीं थी, यह तथ्य मानने का कोई आधार नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण में गेहूँ की चर्चा बहुत मिलती है। इस ग्रंथ में गेहूँ के लिए निम्नलिखित शब्द आया है—

गोधूमः 5.2.1.6, 12.7.1.2, 18.9.3.22.

गोधूमान्ः 5.2.1.13.

गोधूमसक्तवः 12.2.1.5.

ऋग्वेद में गोधूम शब्द की अनुपस्थिति एवं शतपथ ब्राह्मण में इसका व्यापक प्रयोग यह साबित करता है कि ऋग्वेद काल में गेहूँ की खेती उतनी लोकप्रिय नहीं थी, जितनी परवर्ती वैदिक काल में हो गयी।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारत में बहुत प्राचीन काल से ही गेहूँ की फसल की जानकारी थी। सिन्धु-सभ्यता में गेहूँ का व्यापक पैमाने पर उपयोग होता था। वैदिक सभ्यता के अंतर्गत ऋग्वैदिक आर्यों के बीच गेहूँ ज्यादा लोकप्रिय प्रतीत नहीं होता है। किंतु उत्तरवैदिक काल में गेहूँ एक अत्यंत लोकप्रिय अन्न बन चुका था।

धान: आलोच्यकाल की तीसरी मुख्य फसल धान की थी। नवपाषाण युग से ही चावल के उपजाये जाने का साक्ष्य पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त हुआ है। चोपनीमांगे से मिलने वाले चावल की तिथि, स्तरीकरण की दृष्टि से 9वीं-8वीं सहस्राब्दी ई० पूर्व निर्धारित की गयी है। इसी तरह कोलडिहवा¹⁸ महगड़ा से मिलने वाले चावल की तिथि, भौतिक अनुसंधानशाला, अहमदाबाद में कार्बन 14 प्रणाली के अनुसार किये गये परीक्षण के आधार पर 7वीं-6ठी

सहस्राब्दी ई० पूर्व स्वीकार की गयी है।¹⁹ सिन्धु-सभ्यता के लोगों द्वारा धान की फसल उपजाने के प्रमाण मिलते हैं।

बी० बी० लाल ने यह मत व्यक्त किया है कि संभवतः कालीबंगा के लोग धान फसल से अपरिचित थे। किंतु उनका यह कथन सही नहीं है। डी० पी० अग्रवाल को चावल के अवशेष लोथल एवं कालीबंगा से प्राप्त हुए हैं। चिरन्द एवं पियमपल्ली के नव पाषाणयुगीन स्थलों में चावल प्राप्त हुआ है। ताम्राश्म स्थलों में राजस्थान के अहर में चावल के अवशेष मिले हैं। एस० आर० राव के अनुसार भी रंगपुर एवं लोथल में चावल के अवशेष मिले हैं। उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रकट होता है कि चावल की खेती भारत में नवपाषाण युग से ही शुरू हो गयी थी। साथ ही सैधव क्षेत्र में इसकी खेती की जानकारी लोगों की थी।

ऋग्वेद में धान की फसल की कोई चर्चा नहीं है। हालांकि ऋग्वेद में धाना और धान्य²⁰ शब्द आये हैं, किंतु उसका अर्थ सामान्य अन्नों के संदर्भ में किया गया है, चावल के अर्थ में विशेष रूप से नहीं। इसका यह निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है कि लोगों को चावल की जानकारी ही नहीं थी। हां, यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में बहुत अल्प मात्रा में धान की खेती होती थी, इसी कारण इस काल में धाना शब्द धान के लिए विशेष रूप से रूढ़ न होकर सामान्य अन्नों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सिन्धु सभ्यता के लोगों एवं ऋग्वैदिक लोगों के बीच धान की फसल कम लोकप्रिय इसलिए थी, क्योंकि सिन्धु नदी के आसपास के क्षेत्र तथा पंजाब के क्षेत्र की जलवायु शुष्क एवं शीतोष्ण है तथा धान के लिए अनुपयुक्त है। धान की फसल नयी तथा अधिक वर्षायुक्त जलवायु में खूब होती है। सिन्धु क्षेत्र एवं पंजाब की अपेक्षा भारत के पूर्व का क्षेत्र अधिक वर्षा युक्त होता जाता है। उत्तर वैदिक लोगों के निवास का यही क्षेत्र है, अतः इसके बीच धान की फसल खूब लोकप्रिय थी। अथर्ववेद में तो धान की तुलना मधु से की गयी है। परवर्ती वैदिक साहित्य में धान या चावल की खूब चर्चा है। तैत्तिरीय संहिता में व्रीहि को शरदकाल

में पकने वाला बताया गया है। इसके लिए वैदिक साहित्य में मुख्य रूप से दो शब्द मिलते हैं—व्रीहि तथा तण्डुल कुछ चावल काले होते थे कुछ उजले तथा कुछ काफी बड़े (मथव्रीहि) होते थे। तैत्तिरीय संहिता में भूसी निकाली हुई एवंबिना भूसी निकाली हुई चावल की चर्चा है। कुछ चावल की फसल शीघ्रता से बढ़ने वाली (आशु) होती थी। और संभवतः यही चावल 'पष्टिक' (साठ दिनों में पकने वाला) कहलाती थी।²¹ इस पष्टि या आधुनिक काल में जिसे 'साठी' कहते हैं, निम्न किस्म का चावल है, किंतु हिन्दू त्यौहारों में आज भी इसकी प्राचीनता के कारण इसी का व्यवहार होता है, उच्च किस्म के चावलों का नहीं। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि सबसे पहले लोगों को चावल के इस आदिम किस्म की ही जानकारी थी तथा पष्टिक चावल, का आदिम किस्म है, जिससे चलकर उच्च किस्मों का विकास हुआ। अंत्रजिखेरा में चित्रित धूसरभांड सभ्यता के अवशेषों में चावल के दाने भी प्राप्त हुए हैं।²²

उपर्युक्त तथ्यों से प्रकट होता है कि आलोच्य काल में धान की फसल की लोगों को अच्छी जानकारी थी। सिन्धु सभ्यता एवं ऋग्वैदिक सभ्यता के लोग अनुकूल जलवायु नहीं रहने के कारण फसल की खेती का बड़े पैमाने पर विकास नहीं कर सके। किंतु उत्तर वैदिक काल के लोगों का जो क्षेत्र था, उसकी जलवायु धान की फसल के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। अतः उत्तर वैदिक काल में हम धान की फसल की खेती के संकेत पाते हैं।

आलोच्यकालीन स्रोतों में कृषि-प्रविधि एवं कृषि औजारों के अस्तित्व की जानकारी मिलती है। कृषि प्रविधि के अंतर्गत ऋतु-ज्ञान, सिंचाई, उर्वरक फसल उपजाने से संबंधित विभिन्न कृषि कर्म जैसे, जोताई, बोआई, कटाई आदि तथा अन्नों का रख-रखाव एवं कृषि औजार के अंतर्गत हल, कुदाल, हसिया, खुरपी आदि औजार आते हैं।

ऋतु विज्ञान: ऋतुओं का ज्ञान सैंधवों को था या नहीं, इसका कोई लिखित साक्ष्य तो नहीं है हालांकि वहां की भौतिक समृद्धि उन्नत कृषि-प्रविधि एवं अतिरिक्त कृषि

उत्पादन²³ के चिह्नों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनको कृषि पंचांग का ज्ञान था।

मानव के पालन-पोषण के साधनों के उपार्जित किये जाने में ऋतुओं की महत्ता के स्पष्ट स्वीकारे जाने का संकेत ऋग्वेद के इस कथन में मिलता है कि ऋतुएं संसार का पालन करती हैं। इस क्रम में अथर्ववेद ने स्पष्ट रूप से कृषि का आधार स्वीकारते हुए यह स्पष्ट किया है कि दिन मास तथा वर्ष की उत्पत्ति 'ओदन' से हुई है।²⁴ ओदन का अर्थ दूध के साथ पके हुए अन्न हैं। वैदिक साहित्य से हमें ऋतुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलती है। ऋग्वैदिक काल में ऋतुओं में परिवर्तन के क्रम में सूर्य की स्थिति की भूमिका लोगों को स्पष्ट हो गयी थी। इसी ग्रंथ में सूर्य को ऋतुओं का नियमनकर्ता भी कहा गया है। इस ज्ञान का प्रभाव कृषि प्रविधि पर पड़ा होगा।

उत्तर वैदिक काल में ऋतु ज्ञान और भी विस्तृत हुआ। जहां ऋग्वेद में शरद वसंत (भावः) तथा वर्षा (प्रा-वृष) का उल्लेख है।²⁵ वहां उत्तरवैदिक काल में शरद वसन्त तथा वर्षा के साथ-साथ ग्रीष्म, हेमन्त तथा शिशिर का वर्णन है।²⁶

सामान्य रूप से ऋतुओं की अवधि दो महीनों की मानी जाती थी। शरद में इस ऊर्ज नामक दो वैदिक मास होते थे जिनका आधुनिक समीकरण अश्विन-कार्तिक (सितंबर-अक्टूबर तथा अक्टूबर-नवंबर) है। उसी तरह वसंत में मधु और माधव नामक वैदिक मास सम्मिलित थे जिनका आधुनिक समीकरण चैत्र-बैसाख (मध्य अप्रैल तथा मध्य अप्रैल से मध्य मई) है। वर्षा ऋतु में नभस और नभस्य की गिनती होती थी जिसमें श्रावण और भाद्र पर जुलाई-अगस्त तथा अगस्त-सितम्बर थे। ग्रीष्म में शुक्र और शुचि नायक वैदिक मास आते थे, जिसमें ज्येष्ठ-अषाढ़ (मध्य मई से मध्य जुलाई) का समय निहित है। हेमन्त में सहस और सहस्य वैदिक मास गिने जाते थे, जिसमें आधुनिक मार्गशीर्ष और पौष या नवम्बर-दिसंबर तथा दिसंबर-जनवरी वर्णित होते हैं। उसी भांति शिशिर में ताप और तपस्य नामक वैदिक

मास थे²⁷, जिसके लिए आधुनिक माघ-फाल्गुन या जनवरी-फरवरी तथा फरवरी-मार्च की चर्चा होती है।

इतना ही नहीं, ऋतुओं के साथ वैदिक युग में वर्ष, अधिमास एवं नक्षत्र की जानकारी भी लोगों को मिल चुकी थी। इस समय बारह महीनों का एक वर्ष तथा तीस दिनों का एक महीना होने की प्रथा स्थापित हो गई थी। साधारण लोग एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक या एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक एक मास मानते थे। लेकिन तत्कालीन विद्वत वर्ग चान्द्र वर्ष के सही दिनों के ज्ञान के कारण एक चन्द्र वर्ष को $29.5 \times 12 = 345$ दिनों का मानता था। वस्तुतः पृथ्वी को सूर्य की परिक्रमा करने में लगे 365.25 दिन को सौर वर्ष कहते हैं। ऋतुओं के पृथ्वी की गति से संबन्धित होने के कारण चन्द्र और सौर वर्ष में प्रचलित अंतर से ऋतुओं के भिन्न-भिन्न महीनों में होने से कृषि कर्म को उन्नत बनाने में नियमितता का अभाव हो जाता। अतः एक अधिक मास जोड़ कर इन दोनों प्रकार के वर्षों का सामंजस्य कर लिए जाने की प्रथा विद्यमान थी, जिसके कारण चन्द्र वर्ष में प्रतिवर्ष बारह दिन जोड़कर (354+12=366 दिन) उसे सौर वर्ष के बराबर कर दिया जाता था। इन बारह दिनों का उल्लेख ऋग्वेद, वाजसनेयि संहिता, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में मिलता है। इस प्रकार इस अधिक मास के कारण चन्द्र वर्ष एवं सौर वर्ष का अंतर मिटा लिया जाता था तथा इस कारण ऋतुओं में भी नियमितता थी तथा वे नियम महीनों में ही होती थीं।

इन तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि ऋतुओं के नियत समय एवं उनकी प्रकृति की जानकारी ने तत्कालीन कृषि-प्रविधि को उन्नत करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। इससे न केवल भिन्न-भिन्न फसलों को अधिक उपयुक्त मौसम में उपजाना संभव हो सका बल्कि कृषकों को किसी विशेष ऋतु की फसलों को बोने से पूर्व खेतों की आवश्यक तैयारी कर लेने का अवसर भी मिलने लगा होगा।

सिंचाई के लिए प्रयुक्त कलाएं: नवपाषाण कालीन कृषकों को कृषि योग्य

भूमि में फसलों का उत्पादन बढ़ाने एवं बंजर भूमि को भी कृषि योग्य बनाने में क्रम में सिंचाई की उपयोगिता का ज्ञान था।²⁸ प्राचीन भारत में सिंचाई महत्वपूर्ण मानी जाती थी। वैदिक काल में खेतों के लिए जल प्राप्त करने के चार साधन बताये गये हैं जैसे वर्षा, नदी और कुआं। वर्षा एवं नदी सिंचाई के प्राकृतिक साधन हैं तो नहर एवं कुआं कृत्रिम साधन।

वर्षा: वर्षा का महत्व सिंचाई के साधन के रूप में अत्यंत प्रारंभिक काल से ही सर्व स्वीकृत था। सिंधु घाटी के नगरों में पकी ईंटों का प्रयोग, नालियों की व्यवस्था, सिंधु मुहानों पर वर्षा क्षेत्रों में रहने वाले जानवरों की उपस्थिति आदि इस बात के प्रमाण हैं कि ई० पू० दूसरी एवं तीसरी सहस्राब्दि में इस क्षेत्र में अच्छी वर्षा होती थी। और सिंधु घाटी के किसान इस वर्षा जल का उपयोग भी अपनी खेती के लिए करते रहे होंगे। वैदिक काल में भी जल के लिए बार-बार देवताओं से प्रार्थना की गयी है। श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में वर्षा तथा वर्षा की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों का उल्लेख है।²⁹

नदी: वर्षा के अतिरिक्त दूसरे साधनों से भी जलापूर्ति का ज्ञान अच्छी तरह था। नदी से सिंचन कार्य किया जाता था। सिन्धु तथा उनकी सहायक नदियों की बाढ़ से आसपास की भूमि उर्वर हो जाती थी। इस तरह के लाभ के लिए सिंधु वासियों ने अस्थायी बांधों के द्वारा बहाव रोककर सिंचाई की व्यवस्था की थी।³⁰

नहर: नदियों से नहरें निकालकर सिंचाई कार्य किये जाने की भी चर्चा आलोच्यकाल में मिलती है। अथर्ववेद में नहर को खोदने, नहर को नदी से जोड़ने एवं पानी के नहर में प्रवेश करने की चर्चा है और ऐसे अवसरों पर मंत्र पाठ के लिए ऋचाएं हैं, जिनमें नहर जल से खेतों में होने वाली उर्वरता का बखान है। शतपथ ब्राह्मण में भी नहर खोदने की चर्चा मिलती है। स्पष्ट है कि आलोच्यकाल में नहर खोदने तथा उनसे कृषि में लाभ लेने की बात ज्ञात थी।

कुआं: आलोच्य काल में कुआं सिंचाई का एक मुख्य साधन था। जहां नहरों द्वारा

पानी पहुंचाना संभव नहीं था, वहां कुआं ही सिंचाई का साधन था। सिंधु घाटी की खुदाइयों में हमें कुआं के अवशेष प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदड़ो के स्नानागार के बगल में बड़ा कुआं बना हुआ था। कुएं के पानी से हौज को भरा जाता था तथा हौज से पानी निकासी के लिए नाली बनी हुई थी। हौज की ऐसी संरचना कुछ अलग संभावनाओं की ओर संकेत करती है। कुछ विद्वान कुएं के जल से भरे जलाशय का उपयोग कृषि कार्य के लिए मानते हैं। वैदिक साहित्य में कुएं के लिए 'कूप' और 'अवत' शब्दों का प्रयोग हुआ है।³¹ वैदिक काल में कुएं को हमेशा जल से पूर्ण (अक्षित) कहा गया है। कुएं से पानी निकालने के लिए उन्नत तरीकों का व्यवहार किया जाता था। कुएं के पानी को खेत तक पहुंचाने वाली नालियों (सुरभी सुथिरा) का भी उल्लेख है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात है कि आलोच्यकाल में सिंचाई-प्रविधि में जल वितरण की समस्या का समाधान ढूंढा गया था तथा उसके लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग भी होता था।

उर्वरक: खेत की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कृषि प्रविधि में सिंचाई के साथ ही उर्वरक के प्रयोग के भी प्रमाण मिलते हैं। सिंधु सभ्यता के काल में खेतों में खाद देने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं मिलता है, लेकिन खेती द्वारा अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने के तथ्य एवं आवां में गोबर का प्रयोग करने की जानकारी से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोबर के प्रयोगों से परिचित सिन्धु निवासी अन्नो का बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए गोबर के खाद का प्रयोग अवश्य करते थे।³² उसी तरह वैदिक युग में भी लोग गोबर की उर्वरक वाली भूमिका से अच्छी तरह परिचित थे। गोबर के लिए वैदिक-साहित्य में सकृत, शकन, करीष एवं पुरीष शब्द प्रयुक्त हैं।³³ करीस सूखा हुआ गोबर है जबकि पुरीस से कूड़ा-ककट से युक्त गोबर का आशय लिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में मूसहन मिट्टी या चूहों द्वारा निकाली गयी मिट्टी (आखुकरीष) का उल्लेख उर्वरक के रूप में है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

अधिक उत्पादन के लिए भूमि को अतिरिक्त प्रेरणा देने वाले तत्वों को खेतों में डालने की प्रथा विकसित हो चुकी थी और लोग इनसे उत्तरोत्तर लाभान्वित भी हो रहे थे।

कृषि उपकरणों का निर्माण और परिणाम

हल: उत्पादन की दृष्टि से कृषि के विकास के एक महत्वपूर्ण उपकरण हल के अस्तित्व के प्रमाण भी आलोच्यकाल में उपलब्ध हैं। यों सिन्धु घाटी सभ्यता से संबंधित खुदाइयों में हल की उपस्थिति के प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव है, फिर भी सैंधव पुरावशेषों में प्राप्त जोते हुए खेत एवं बैलगाड़ी के आधार पर हल के अस्तित्व के विषय में सोचना तर्कहीन नहीं होगा। कालीबंगा में प्राप्त 'जुते हुए खेत' के पुरावशेष ने हल के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण भी जुटा दिया है।

कालीबंगा में पूर्व-हड़प्पा स्तर की खुदाई से हल के विभिन्न टुकड़े मिले हैं, जिनसे पूर्व हड़प्पा काल के लोगों के द्वारा हलों के प्रयोग की बात पुष्ट होती है। इतना ही नहीं कि जोताई उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम एक निश्चित समानुपाती ढंग से होती थी, जिससे न केवल हल के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, बल्कि हल की जोताई-कला के विकसित होने के भी प्रमाण मिलते हैं।

उसी तरह वैदिक काल में भी लोग हलों का प्रयोग जानते थे, इस क्रम में रामशरण शर्मा का कहना है कि बैल द्वारा खींचे जाने वाले हलों द्वारा खेती आर्यों की मुख्य देन थी।³⁵ अर्थात् यह वैदिक युग की देन थी, सैंधव कृषि में हल के उपयोग के धारणानुसार प्रश्नचिह्नों से घिरा प्रतीत होता है। वैदिक संहिताओं में हल के लिए 'लांगल' और 'सीर' शब्दों का प्रयोग हुआ है।³⁶ ऋग्वेद में हल के प्रति कृतज्ञता का भाव उस ऋचा से मिलता है जिसमें हल एवं बैल के साथ किसान को अपने खेत में मेहनत करते हुए दर्शाया गया है। अथर्ववेद में भी हल का विस्तृत विवरण मिलता है। हल गूलर (उदुम्बार) की लकड़ी का बना होता था। हल के सबसे महत्वपूर्ण भाग के

रूप में फाल का जिक्र है, जिसकी प्रकृति के विषय में भी पर्याप्त विवाद है। डी० एस० गार्डन ने सिंधुघाटी में व्यवहार किया जाने वाले हल के फाल को लकड़ी से निर्मित माना है।³⁷ हल से कृषि कार्य आरंभ करने का बहुत अच्छा विवरण अथर्ववेद में प्राप्त होता है। भूमि की जुताई प्रारंभ करने से पूर्व हल की पूजा की जाती थी। इसके उपरांत जुओं को बैलों के कंधे पर रखा जाता था तथा इन्हें बैल के गर्दन से रस्सी द्वारा बांध दिया जाता था। हल के जुताई कार्य में मूँज की रस्सी का व्यवहार होता था। श्रमिकों में हल चलाने वाले कुशल माने जाते थे। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में निपुण व्यक्ति द्वारा ही हल चलाने का उल्लेख है, जिससे कि भूमि को गहराई के साथ जोता जा सके। यजुर्वेद में वर्णित यह तथ्य कि हल के फाल (सुफाला) शुभ रीति से भूमि जोतें और शुभ रीति से कृषक लोक बैलों को चलावें तथा अथर्ववेद में दो बैलों से अधिक बैलों का व्यवहार कुशल श्रमिकों की आवश्यकता को अनिवार्य बनाये जाने का संकेत देते हैं।

कुदाल: हल के अतिरिक्त, भूमि को कुरेदने के लिए कुदाल के प्रयोग की जानकारी भी वैदिक-संहिताओं में मिलती है। संहिताओं में कुदाल के लिए 'अभि' ³⁹ शब्द आया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह बांस का बना होता था। इसके एक भाग के तीक्ष्ण होने की चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसका फाल वाला सिरा धातु का बना होता था। इस क्रम में यह चर्चा महत्वपूर्ण है कि किसान कुदाल से भूमि को खोदते समय 'खनामि खनाम' ⁴⁰ शब्द का उच्चारण करते थे। भूमि खोदना एक कठिन कार्य है और यह कार्य करते समय उनके बार-बार 'खनामि-खनामः' शब्द का उच्चारण उन्हें राहत प्रदान करता होगा। कुदाल का उपयोग भूमि कुरेदने के साथ-साथ जमीन समतल करने में तथा अन्य छोटे-छोटे कार्यों में होता रहा होगा। फसल के पक जाने पर उसे हंसिया से काटा जाता था। हंसिया के लिए वैदिक संहिताओं के 'दात्र' तथा 'सृणी' शब्द का प्रयोग हुआ है।⁴¹

इस प्रकार आलोच्य-काल में लोग अपनी खेती के लिए उन्नत कृषि-प्रविधि का प्रयोग करते थे। उनकी विकसित कृषि तकनीकी ने अन्नों के अतिरिक्त उत्पादन को संभव बनाया, जिसने तत्कालीन समाज को व्यवस्थित एवं विकासशील बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

संदर्भ संकेत

1. ऐतरेयोपनिषद, 3.1, प्रश्नोपनिषत्, 6.4 ।
2. तैत्तिरीयोपनिषद (मुगुवल्ली), 2 ।
3. उपरिवत् (ब्राह्मणद वल्ली), 2 ।
4. अथर्ववेद, 7.6.4 ।
5. तैत्तिरीयोपनिषद (भुगु वल्ली), 7 ।
6. ऋग्वेद, 10.64.11 ।
7. यजुर्वेद, 15.7.15.8 ।
8. उपरिवत्, 15.7 ।
9. वाल्टर फेयर सर्विस, दि रूट्स ऑफ एथियंट इंडिया, पृष्ठ 17 ।
10. राम शरण शर्मा, 'लैटर वैदिक फेज एंड दी पी० जी० डब्ल्यू कल्चर', हिस्ट्री एण्ड सोसायटी, पृष्ठ 136-37 ।
11. व्हीलर, दि इंडस सिविलाइजेशन, पृष्ठ 62-63 ।
12. पी० सी० जैन, लेबर इन एथियंट इंडिया, पृष्ठ 32 ।
13. डी० पी० अग्रवाल, दि आकौलॉजी ऑफ इंडिया, कर्जन प्रेस, लंदन, प्रथम संस्करण, 1982, पृष्ठ 13 ।
14. अथर्ववेद, 6.30.1 ।
15. उपरिवत्, 6.142.3.9.1.22 ।
16. वाल्टर फेयर सर्विस, दि रूट्स ऑफ एथियंट इंडिया, पृष्ठ 18 ।
17. राम शरण शर्मा, 'फार्मर्स ऑफ प्रोपर्टी इन दि अर्ली पोर्शन्स ऑफ दी ऋग्वेद', प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1973 ।
18. डी० पी० अग्रवाल, दि आर्कलॉजी ऑफ इंडिया, पृष्ठ 92 ।
19. देवेन्द्र कुमार राय 'चावल के दाने 1100 साल पुराने', धर्मयुग, 7 फरवरी 1982, पृष्ठ 35 ।
20. ऋग्वेद, 6.13.4 ।
21. तैत्तिरीय संहिता, 1.8.10.1 ।
22. राय शरण शर्मा, 'लैटर वैदिक फेज एंड पेंटेड ग्रे वेयर कल्चर', हिस्ट्री एण्ड सोसायटी, पृष्ठ 137 ।
23. दा० ध० कोसम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाश, नयी दिल्ली, 1977, पृष्ठ 70 ।

24. अथर्ववेद, 4.35.4 ।
25. ऋग्वेद, 7.66.11, 5.14.4, 1.91.6, 7.103.3, 1.164.15 बेचन दुबे, ज्योग्रेफिकल कंसेप्ट्स इन एथियंट इंडिया, पृष्ठ 144 ।
26. यजुर्वेद, 10.13, 10.11, 10.14 । अथर्ववेद, 15.4.2, 15.4.8 ।
27. चजुर्वेद, 14.16, 15.25, 14.15, 14.6, 14.27, 15.57 ।
28. वी० गार्डन चाइल्ड, 'दि अर्बन रिवोल्यूशन', एंशिएंट सिटीज ऑफ दी इंडस, विकास पब्लिसिंग हाउस (प्रा० लि०) नयी दिल्ली, 1979, पृष्ठ 13 ।
29. इरफान, हबीब, दि पीजेन्ट इन इंडियन हिस्ट्री, पृष्ठ 9 ।
30. दा० ध० कोसम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ 101 ।
31. ऋग्वेद, 1.105.17, 1.55.8, 4.17.16.8.49.6, 10.25.4 । शतपथ ब्राह्मण, 3.5.4.1, 4.4.5.3, 6.33.26 ।
32. दा० ध० कोसम्बी, उपरिवत्, पृष्ठ 70 । व्हीलर, दि इण्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ 21 ।
33. अथर्ववेद, 3.14.4, 12.4.9, 12.4.4, 3.14.3 । ऋग्वेद, 1.161.10 ।
34. इरफान हबीब, दि पेजेन्ट इन इंडियन हिस्ट्री पृष्ठ 4 ।
35. राम शरण शर्मा, लाइट आन अर्ली इंडियन सोसायटी एंड इकानामी, पृष्ठ 55 ।
36. ऋग्वेद, 4.57.4, 4.57.8, 10.101, 3.4 । तैत्तिरीय संहिता, 6.6.7.4 । अथर्ववेद, 2.8.4, 6.30.1, 91.1, 8.9.16 ।
37. डी० एच० गार्डन, दि प्रि० हिस्टोरिक बैकग्राउन्ड ऑफ इंडियन कल्चर, पृष्ठ 71 ।
38. यजुर्वेद, 12.69 ।
39. वाजसनेयि संहिता, 5.22, 11.10, 37.1 । अथर्ववेद, 4.7.5, 6, 10.4.4 । शतपथ ब्राह्मण, 16.6 । पंचविंश ब्राह्मण, 16.6 ।
40. शतपथ ब्राह्मण, 6.4.1.4 ।
41. ऋग्वेद 8.78.10, 1.5.8.4, 10.101.3 । निरुक्त, 2.1.5.28 । शतपथ ब्राह्मण, 7.2.2.5 ।

पड़ाव पोखर लेन नं. 1,
मुजफ्फरपुर

वैदिक समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएं

राजकुमार प्रसाद

वैदिक काल को अध्ययन की सुविधा से दो भागों में बाँटा गया है। किसी भी सभ्यता के काल का विभाजन अत्यंत कठिन कार्य है। आर्यों के भारत में प्रवेश से लेकर ऋग्वेद की रचना और उसके बाद की सभ्यता ऋग्वैदिक काल के नाम से जानी जाती है। इस सभ्यता की जानकारी का मूल स्रोत ऋग्वेद ही है। अतः ऋग्वैदिक काल से अभिप्राय उस युग से है, जिसका विवेचन ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वैदिक काल के बाद जिस काल में सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथों अरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुयी, उसे उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है।

समाज

समाज की न्यूनतम इकाई परिवार थी। होमरकालीन यूनानी पिता के समान ऋग्वैदिक पिता के अधिकार भी असीम थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक पिता ने अपव्यय के अपराध में अपने पुत्र को अंधा बना दिया था। ऋग्वेद कालीन समाज की व्यवस्था का प्रमुख आधार वर्णव्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप कार्य के चयन की स्वतंत्रता थी। अतः व्यक्ति के कर्म का विशिष्ट महत्व था, क्योंकि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके कर्म से होता था। अपने गुण एवं कर्म के अनुरूप किये गये कर्तव्य समाज में वर्ण-धर्म के नाम से अभिहित किये जाने लगे। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृज वरणे' धातु से हुयी है, जिसका अभिप्राय है 'वरण करना।' इस प्रकार 'वर्ण' से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय (या वृत्ति) से लिया जाता है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'रंग' अथवा 'प्रकाश' के अर्थ में हुआ है। कहीं-कहीं वर्ण का संबंध ऐसे जन वर्गों से दिखाया गया है, जिनका चर्म काला या गौरा है। प्रारंभ में आर्य एक ही वर्ण के थे और आर्यों का समूह विश कहलाता था। इस समय वर्ण, रंग का बोधक था। आगे चलकर दास भी उनसे जुड़ गये।

ऋग्वेद की प्रारंभिक स्थिति में समाज के दो वर्ण थे, अर्थात् आर्य और दास। इस ग्रंथ में उल्लिखित है कि उग्र प्रकृति के ऋषि अगतस्य ने दोनों वर्णों का पोषण किया। जब उत्पादन अधिशेष की स्थिति उत्पन्न हुयी तो विश का विभाजन योद्धा, पुरोहित एवं सामान्य लोगों में हो गया। इस तरह वर्ण व्यवस्था का आधार अब कर्म हो गया।

ऋग्वेद में एक छात्र लिखता है— 'मैं कवि हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं; और मेरी माता आटा पीसती हैं....।' ब्रह्मक्षत्र की अवधारणा ऋग्वैदिक काल में ही सामने आयी, जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से था, जो जन्म से क्षत्रिय, किंतु कर्म से ब्राह्मण हो। इससे

संकेत मिलता है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वंद्व प्रारंभ हो चुका था और क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती दी जा रही थी। कर्म से एक राजन पुरोहित हो सकता था एवं पुरोहित राजन। महर्षि विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुये भी कर्म से ब्राह्मण थे। उसी तरह ऋषि भृगु के बारे में कहा जाता कि 'भृगु' के वंशज ने अनेक राज्यों की स्थापना की। ऋग्वेद में ब्राह्मण की चर्चा चौदह बार हुयी है, जबकि क्षत्रिय शब्द की चर्चा नौ बार हुयी है।

प्रथम बार शूद्र की चर्चा ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में हुयी है। वैश्य शब्द का भी प्रथम बार प्रयोग यहीं मिलता है। इसमें चारों वर्णों की तुलना ब्रह्मा के शरीर के अंगों से की गयी है। ब्राह्मण की तुलना ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की भुजा से, वैश्य की जंघा से एवं शूद्र की पैर से की गयी है।

सामाजिक व्यवस्था का आधार रक्त संबंध था। समाज पितृसत्तात्मक था। परिवार का मुखिया स्वाभाविक रूप में मानवीय एवं करुणाशील होता था। सिर्फ एक-दो उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि घर का मुखिया कभी-कभी संतान को क्रूर रूप में भी दण्डित करता था। ऋजास्व एवं भुज्यु की कथा में इसका उल्लेख है। ऋजास्व का आख्यान, जिसमें उसे सौ भेंड़ों को गंवा देने के अपराध में अपने पिता द्वारा अंधा कर दिये जाने की चर्चा मिलती है। इसके द्वारा पुत्र के ऊपर पिता का पूर्ण नियंत्रण प्रदर्शित होता है। इस तरह के आख्यान को अपवाद स्वरूप ही लिया जाना चाहिए, क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र के कल्याण की कामना हेतु निवेदन भी किया गया है। वैदिक समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी। पुत्र का समाज में विशेष महत्व था। पुत्र न होना दरिद्रता के समान कहा गया है। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र को संपत्ति में अधिक हिस्सा मिलता था।

वैदिक काल में विवाह पवित्र संस्कार माना जाता था, जो व्यक्ति एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक था। याजक कार्य हेतु पति एवं पत्नी दोनों की उपस्थिति वांछनीय थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि 'हे अग्ने! तुम कन्याओं के अर्यमा अर्थात् विधान कर्ता के तुल्य हो, तुम जब पति-पत्नी को समान मन वाला बनाते हो, तब वे तुम्हें धृत-दुग्ध द्वारा बंधु के समान सींचते हैं।' लड़कियों को अपने पति का चयन करने की स्वतंत्रता थी। परिवार का प्रधान 'कुलप' कहलाता था।

स्त्रियों की स्थिति

ऋग्वैदिक काल में साधारणतया एक पत्नीव्रत की प्रथा ही प्रचलित थी। समाज पितृसत्तात्मक था, किंतु स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। बाल विवाह का प्रचलन नहीं था। लड़कियों का विवाह

16 या 17 वर्ष की उम्र में होता था। विधवा एवं अंतर्जातीय विवाह भी होता था। बहुपतित्व विवाह एवं रक्त संबंध में विवाह के कुछ चिह्न मिलते हैं, उदाहरण के लिए यमी ने अपने भाई यम से विवाह का अनुरोध किया, परंतु यम ने उसे अस्वीकार कर दिया। रोदसी को मारुतों ने मिलकर भोगा। उसी तरह अश्विन कुमार दोनों भाई सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ रहते थे, किंतु इस विषय में हम कह सकते हैं कि यह आदिम अवस्था के अवशेष थे।

बहुपतित्व की प्रथा वास्तव में ऋग्वैदिक काल में नहीं थी। संभवतः उच्च कुल के संपन्न लोग एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि पुरुषों में बहुविवाह की प्रथा थी। स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी और उन्हें भी उपनयन संस्कार का अधिकार था। बहुत-सी महिलायें विदुषी थीं। उदाहरण के लिए लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, विश्वारा, सिक्ता आदि। लोपामुद्रा क्षत्रिय वर्ण की थी, किंतु उसकी शादी ऋषि अगत्य से हुई। तलाक, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नीत्व का प्रचलन नहीं था। दूसरी तरफ विधवा विवाह एवं नियोग प्रथा का प्रचलन था।

नियोग प्रथा में विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के लिए अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में रहना था। विदुषी महिलाओं को 'ऋषिका' या 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। जीवन भर अविवाहित रहने वाली लड़कियों को 'अमाजू' कहा जाता था और इस स्थिति में यदि पुत्री पिता के घर में ही रहती है तो वह पिता की संपत्ति की हिस्सेदार होती थी।

अपाला द्वारा अपनी पैतृक संपत्ति में हिस्सा प्राप्ति का उल्लेख ऋग्वेद के आठवें मंडल में है। स्त्रियाँ 'सभा' एवं 'समिति' में भाग लेती थीं। साथ ही, वे पति के साथ यज्ञ में भी भाग लेती थीं। ऋग्वेद में समनो (उत्सवों) का उल्लेख है, जिनमें कन्यायें स्वयं अपनी पति को वरण कर लेती थीं। कभी-कभी शारीरिक बीमारी के कारण विवाह में विलंब भी हो सकता था। उदाहरण के लिए चर्म रोग के कारण घोषा का विवाह बहुत समय तक नहीं हुआ।

दास व्यवस्था

दास व्यवस्था ऋग्वैदिक काल में प्रचलित थी। इनके दान देने का भी उल्लेख मिलता है। दासों की तुलना में दासियों के दान के अधिक उल्लेख मिलता है। दासों का उपयोग घरेलू दासों के रूप में होता था। कृषि में अभी इन्हें नहीं लगाया गया था।

शिक्षा

शिक्षा की चर्चा सातवें मंडल में है। ऋग्वैदिक कालीन शिक्षण संस्थाओं का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता है, तथापि एक सूक्त से तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के इस सूक्त में मेंढकों के टराने की तुलना गुरु द्वारा उच्चारित शब्दों के विद्यार्थियों द्वारा सामूहिक स्वर में दोहराने से की गयी है। इससे वैदिक शिक्षा प्रणाली एवं शिक्षण संस्थाओं के अस्तित्व का बोध होता है। निश्चित रूप से इनमें वैदिक मंत्रों की शिक्षा दी जाती होगी। इसके अतिरिक्त छंदशास्त्र, ज्यामिति, इतिहास आदि के शिक्षण की व्यवस्था रही होगी। शिक्षा में वाद-विवाद का भी प्रचलन रहा होगा, ऐसे संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद से बारह महीनों की चर्चा के साथ-साथ वर्ष विशेष में पढ़ने वाले अधिक मास का उल्लेख आया है।

उत्तरवैदिक समाज में शिक्षा

इस काल में अपार साहित्य की रचना हुई। वैदिक साहित्य का अपार भंडार इस तथ्य का द्योतक है कि प्राचीन काल में शिक्षा की सुनियोजित व्यवस्था थी। उत्तर वैदिक काल को बौद्धिक विकास का युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि इसी काल में विशाल वैदिक साहित्य का सृजन हुआ, जिसका आधार था उपनयन संस्कार के द्वारा विद्यार्थी जीवन के साथ ही सुनियोजित शिक्षा प्रणाली का प्रारंभ। वैदिक शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार था शिक्षक, जिसे आचार्य या गुरु कहा जाता था।

शिक्षा का अभिप्राय प्राचीन काल में केवल पुस्तकीय ज्ञान न होकर अंतर्दृष्टि

का विकास भी कहा गया है, ऐसी अंतर्दृष्टि का विकास जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके। पिता से ही प्रारंभ में पुत्र को शिक्षा मिलती थी, जैसा कि हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के श्वेतकेतु आरुणेय आख्यान से ज्ञात होता है। गुरुकुल प्रणाली प्राचीन भारतीय शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी, जिसके अंतर्गत विद्यार्थी को 'अंतेवासी' अर्थात् आचार्य के सान्निध्य में रहना (आश्रम में) होता था।

विद्यार्थी का प्रमुख कार्य इस दौरान गुरु के पास रहकर गुरु की सेवा तथा अध्ययन करना था। प्रत्येक शिष्य का स्तर आश्रम में समान था, सबको समान रूप से जलाने की लकड़ियाँ (समिधायें) एकत्र करना, गौचारण तथा भिक्षाटन करना होता था। इस प्रक्रिया से विद्यार्थियों में छोटे-बड़े की भावना का विकास नहीं हो पाता था। अध्ययन का साहित्य वैदिक काल में बहुत विशाल था। शतपथ ब्राह्मण ने स्वाध्याय के अंतर्गत ऋचाओं, यजुषु, साम एवं अथर्ववेद, इतिहास, पुराण व गाथाओं का उल्लेख किया है। गोपथ ब्राह्मण में सभी वेद, कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन आदि को अध्ययन योग्य साहित्य कहा गया है।

एक विवरण छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है, जिसमें नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि—उन्होंने (नारद ने) चारों वेद, इतिहास, पुराण (पंचम वेद रूप), व्याकरण, राशि (अंकगणित), दैव (लक्षण विद्या), निधि (खनिज उत्खनन विद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि विद्या), क्षत्र विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या एवं देवजन विद्या (गान एवं नृत्य) सीख ली थी। इससे प्रतीत होता है कि उस युग में इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी। आश्रमों में विशेष रूप से ब्रह्मविद्या सीखने का अवसर मिलता था, जिससे शिष्य का आत्मिक विकास एवं नैतिक उत्थान होता था। यही भारतीय शिक्षा पद्धति की रीढ़ थी। इसी परिप्रेक्ष्य में विशाल वैदिक साहित्य का सृजन संभव हुआ। जिससे सारे विश्व को आर्य सभ्यता का ज्ञान हुआ।

भोजन

शाकाहार और मांसाहार दोनों प्रचलित थे। ऋग्वैदिक लोगों का मुख्य भोजन पदार्थ था—अन्न, फल, दूध, दही, घी एवं माँस। नशीले पेय पदार्थों में सोम और सुरा प्रचलित थे। सोम यज्ञों के अवसर पर पिए जाने वाला नशीला पदार्थ था। इसकी विस्तार से चर्चा ऋग्वेद के नवें मंडल में हुयी है। सोम का पौधा पहाड़ों पर, विशेष रूप में मुजवंत् पर्वत पर उत्पन्न होता था। सुरा साधारण अवसर पर पिये जाने वाला पेय पदार्थ था।

ऋग्वेद में गौ को 'अघन्या' कहा गया है। इसलिए उसका माँस निषिद्ध था। किंतु बैल, भेंड़ और बकरी का माँस निषिद्ध नहीं था और जब यज्ञ के अवसर पर उनको बलि दी जाती थी तो पुरोहितों को भी उसका माँस खाना पड़ता था। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर घोड़े का माँस खाया जाता था। दूध आर्यों के प्रिय पेय पदार्थ थे और उससे दही, अमिक्षा, छाछ, नवनीत, घृत आदि तैयार किये जाते थे। नमक और मछली का प्रयोग संभवतः ऋग्वैदिक काल में नहीं होता था। ऋग्वैदिक आर्य भूने हुए दाने, हरी सब्जियाँ एवं मांस खाते थे। ऋग्वेद में कहीं पर भी नमक का उल्लेख नहीं है।

वस्त्र

ऋग्वैदिक आर्य विभिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर विविध प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। 'वासस्', 'अधिवासस्', 'वसन' आदि शब्दों का वस्त्र के लिए प्रयोग आर्यों की वस्त्र में विशेष अभिरुचि को इंगित करता है। शरीर के ऊपरी भाग में धारण किये जाने वाला वस्त्र 'अधिवास' तथा अधोभाग में धारण किया जाने वाला वस्त्र 'वास' कहलाता था। भेंड़ की ऊन से 'उर्णा' नामक वस्त्र बनाया जाता था। उस युग में गांधार की भेंड़ों की ऊन का प्रचलन अधिक था। शाल की तरह ओढ़े जाने वाले वस्त्र 'उत्क' तथा 'द्रापि' कहलाते थे। 'नीवि' अथवा 'अधोवस्त्र' से कमर के

नीचे का शरीर ढँका जाता था। 'उष्णीस' पगड़ी पहनने का भी प्रचलन था। ब्रह्मचारी सामान्यतया मृग चर्म धारण करते थे। अधिकांशतः सूत (क्षौम) के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वैदिक आर्यों को सिलाई तथा कपड़े पर कसीदाकारी की कला का ज्ञान था। इसके अलावा वे आभूषण भी पहनते थे।

मनोरंजन

मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन संगीत था। ऋग्वेद के मंडूक सूत्र में सोम रस निकालने में जुटे ब्राह्मणों के संगीतपूर्ण पाठ के उल्लेख हैं। पुरुष नर्तक को 'नृत्य' तथा स्त्री नर्तक को 'नृतु' कहा जाता था। ऋग्वैदिक आर्य जीवन के उल्लास के गीत गाते थे एवं मृत्यु की चर्चा शत्रुओं के अतिरिक्त अन्य किसी परिप्रेक्ष्य में नहीं करते थे। रथ दौड़, शिकार, जुआ खेलना आदि भी नृत्य और संगीत के अतिरिक्त मनोरंजन के साधन थे। ऋग्वैदिक आर्यों के घर लकड़ी, बांस और मिट्टी के बने होते थे। घुड़दौड़ भी मनोरंजन का साधन थी। विश्वला नामक त्वरित अश्व का उल्लेख मिलता है।

रीति-रिवाज

वैदिक कालीन रीति-रिवाजों के प्रसंग में तत्कालीन 'समन' नामक उत्सव का उल्लेख करना होगा। ऋग्वेद में वर्णन आया है कि जब कन्या सुंदर है और आभूषित है तो स्वयं पुरुषों के झुंड में से अपना मित्र ढूँढ़ लेती है। एक विशेष परिधान 'वाधूय' का प्रयोग वधू द्वारा विवाह के अवसर पर किया जाता था। नर्तकियों द्वारा विशिष्ट परिधान 'पेशस' धारण करने का विवेचन मिलता है। कभी-कभी मुनि लोग चर्म को वस्त्र के रूप में उपयोग करते थे। आर्य लोगों की आभूषण प्रियता का विवेचन भी अनेक मंत्रों में हुआ है।

अनेक आभूषणों के नाम ऋग्वेद में मिलते हैं, गले में 'निष्क' धारण किया जाता था। कान में 'कर्णशोभन' एवं शीश पर 'कुम्ब' नामक आभूषण पहनने की प्रथा थी। इनके अतिरिक्त 'खादि', 'रुक्म',

'भुजबंद', 'केयूर', 'नूपुर', 'कंकण' एवं 'मुद्रिका' आदि आभूषण भी धारण किये जाते थे। एक सूक्त में अश्विनो को स्वर्ण कमल की माला पहने हुये, होने का उल्लेख किया है।

चिकित्सा

ऋग्वेद में 'भिषज' शब्द का प्रयोग वैद्य के लिए होता था। भिषज अश्विन देवता को कहा जाता था। वे अंधे को नेत्र एवं पंगु को गति प्रदान करते थे। उन्होंने परावृज का अधापन दूर किया। भिषज ने च्यवन ऋषि को फिर जवान बना दिया और युद्ध में जब विश्वपाल का पैर कट गया तो उन्होंने उसे कृत्रिम पैर लगाया। ऋग्वेद में कभी-कभी वरुण एवं रुद्र का भी भिषज के रूप में उल्लेख किया गया है। उस युग के चिकित्सक औषधि के साथ जादू-टोना का भी प्रयोग करते थे। यक्ष्मा (तपेदिक) का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।

मृतक संस्कार

इसकी चर्चा ऋग्वेद के 5 सूक्तों में है। अधिकांशतः अग्नि संस्कार होता था। अग्नि पितृ एवं देवताओं के लोक में वाहक का कार्य करती थी। मार्ग में सवितृ मृतक का निर्देशन करते थे तथा पूषण उनकी रक्षा करते थे। कभी-कभी अग्नि संस्कार के अतिरिक्त मृतक को दफनाया भी जाता था।

उत्तरवैदिक समाज

गृह (परिवार): पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया सर्वश्रेष्ठ होता था। उत्तर वैदिक काल में परिवार के मुखिया के अधिकारों में वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अर्जीगत ने अपने पुत्र शनःशेष को 100 गायों के बदले बेच दिया। अपने 50 पुत्रों को विश्वामित्र ने आज्ञा का उल्लंघन करने पर घर से बाहर कर दिया। वैसे संपत्ति पर पुत्रों का अधिकार होता था। पर हम देखते हैं कि पिता के अधिकारों पर नियंत्रण की प्रक्रिया भी इस काल में शुरू हो गयी थी। ऋग्वेद में उल्लेख है कि ऋजरास्व की आँखें उसके

पिता ने फोड़ दी थी, क्योंकि वह द्यूत क्रीड़ा का व्यसनी था। जैमिनीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि पिता की वृद्धावस्था में संपत्ति के बंटवारे की मांग की गयी। ऐतरेय ब्राह्मण से जानकारी मिलती है कि मनु के पुत्रों ने अपने पिता की जीवितावस्था में ही संपत्ति का विभाजन कर लिया था।

नारी की स्थिति: इस युग में भी पूर्व-काल के समान स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, किंतु हम परवर्ती कालीन हीन स्थिति का आरंभ इस काल में होता हुआ देखते हैं। ऋग्वेद में पुत्री के जन्म पर खिन्नता व्यक्त करने का उल्लेख है। इसके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में उसे 'असत्यभाषी' और 'अनृत' कहा गया। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्रियों को दुःख का कारण माना गया है। मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों की तुलना 'मदिरा' एवं 'पाशा' से की गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्त्रियों को 'कृपण' कहा गया है।

यज्ञ एवं अनुष्ठानादि के अवसर पर सोमपान से वंचित किये जाने का उल्लेख भी आया है। यह तथ्य समाज में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट का प्रतीक माना जा सकता है। अथर्ववेद में पुत्री के जन्म पर खिन्नता का उल्लेख हुआ है। पितृसत्तात्मक समाज में पुत्र का विशेष महत्व होना स्वाभाविक तथ्य था, तथापि इस युग में भी स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद ही कन्याओं को विवाह के योग्य माना जाता था। आजीवन आध्यात्मिक चिंतन में प्रवृत्त स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें ब्रह्मवादिनी की संज्ञा दी जाती थी। ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मण में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है। छात्राओं के दो वर्ग वैदिक युग में कहे गये हैं—सद्योवधू एवं ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू वे छात्रायें थीं, जो विवाह से पूर्व वेद-मंत्रों एवं याजक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थीं तथा ब्रह्मवादिनी आजीवन वैदिक शिक्षा में लिप्त रहती थीं। ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री ऋषि कुशध्वज की पुत्री वेदवती थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी

मैत्रेयी का विवाह के उपरांत भी आध्यात्मिक जिज्ञासा होना, तत्कालीन उच्चस्तरीय स्त्री शिक्षा का अनुपम उदाहरण माना जा सकता है।

मैत्रेयी ने कात्यायनी के पक्ष में अपनी संपत्ति का अधिकार त्याग कर एक मात्र ज्ञान-दान की याचना की थी। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य एवं गार्गी की कथा का संबंध भी इससे है। उपनिषद् के अनुसार याज्ञवल्क्य गार्गी को संवाद में डांटकर चुप कर देते हैं। फिर भी सूत्र काल की तुलना में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। मैत्रेयी एवं गार्गी परम विदुषी महिलाएँ थीं। इतना ही नहीं, स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हुए शिक्षा ग्रहण करती थी। यजुर्वेद में शिक्षित स्त्री एवं पुरुष के विवाह को ही उपयुक्त माना गया है। अथर्ववेद के अनुसार स्त्री के चार पति हैं—(1) सोम (2) अग्नि (3) गंधर्व (4) वास्तविक पति। इसका सांकेतिक महत्व है अर्थात् यह स्त्रियों की शारीरिक एवं सांस्कृतिक विकास की चार अवस्थाएँ हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में विदुषी पुत्री के जन्म की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए एक विशेष धार्मिक अनुष्ठान की व्यवस्था मिलती है। जनक की राजसभा में होने वाले शास्त्रार्थ में गार्गी ने अपनी अद्भुत तर्क शक्ति से याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान महर्षि को भी प्रभावित किया था।

ऋग्वेद के 10वें मंडल में युवक-युवतियों के प्रेम संबंधों का वर्णन है। अथर्ववेद में प्रेम प्रयासों की सफलता के लिए मंत्र, जादू तथा टोने के प्रयोग का वर्णन है। सामवेद के मंत्रों के गान में स्त्रियाँ विशेष रुचि रखती थीं। यह उनकी गान विद्या में अभिरुचि के साथ वैदिक मंत्रों के विधिवत एवं विशुद्ध उच्चारण को भी इंगित करती है।

स्त्रियाँ विवाह के बाद पुरुष की सहचारिणी बनती थीं। विवाह प्रक्रिया द्वारा उन्हें अनेक धार्मिक अधिकार तथा सामाजिक स्वतंत्रता मिलती थीं, किंतु पति-पत्नी के व्यवहार में पति की श्रेष्ठता को स्वीकार किया जाता था। मैत्रायणी संहिता में मनु

की दस पत्नियों का उल्लेख है। पति के भोजन के पश्चात् पत्नी को भोजन करने के निर्देश तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। इतना ही नहीं पत्नी के शरीर पर पति के अधिकार की चर्चा भी मिलती है।

विवाह एक आवश्यक कर्तव्य था। अविवाहित व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता था। संभवतः पुरुषों में बहुविवाह का प्रचलन था, क्योंकि हरिश्चन्द्र की 100 पत्नियाँ थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं, परंतु एक स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते थे। विधवा विवाह का प्रचलन था। तैत्तिरीय संहिता में विधवा के पुत्र को 'दधिसत्य' कहा जाता था। अंतर्जातीय विवाह का भी प्रचलन था। तैत्तिरीय संहिता में आर्य पुरुष एवं शूद्र नारी के बीच वैवाहिक संबंधों की चर्चा है। शतपथ ब्राह्मण में ऋषि च्यवन और राजा शरीयात की पुत्री सुकन्या के बीच वैवाहिक संबंधों की चर्चा है। परपूर्वा शब्द से मालूम चलता है कि स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।

राजा की प्रधान रानी 'महिषी' कहलाती थी। अन्य नारियों (रानियों) को 'परिक्रीति' कहा जाता था, जो उपेक्षित रहती थीं।

आहार: खाद्य व्यंजनों में क्षीरौदन (खीर), तिलोदन, मुद्गोदान (लड्डू), घृतौदन, पंक्ति, करंभ, पुरोपाष, यवगु, लाज तथा सक्तु थे। इस काल में मांस भक्षण एवं सुरा पान करने वाले को नीची निगाह से देखा जाता था। अथर्ववेद के एक सूत्र में ऐसे आहार को गलत माना गया है।

आमोद-प्रमोद: सैलुश (अभिनेता) की चर्चा विभिन्न स्थानों पर है। बड़े-बड़े उत्सवों पर वीणा-गधिन (वीण बजाने वाले) उपस्थित होते थे। सौ तन्तु के वाद्य यंत्र को 'शततंतु' कहा जाता था।

संदर्भ

1. प्राचीन भारत - रामशरण शर्मा।
2. प्राचीन भारत - रोमिला थापर।

शोधार्थी

मगध विश्वविद्यालय

सविनय अवज्ञा आन्दोलन में बिहार की महिलाओं का योगदान

महेश कुमार

स्वतंत्रता और स्वाधीनता प्राणिमात्र का जन्म सिद्ध अधिकार है। इसी के आत्म सम्मान और आत्मउत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। भारतीय राष्ट्रीयता को दीर्घावधि विदेशी शासन और सत्ता की कुटिल-उप निवेशवादी नीतियों के चलते परतंत्रता का दंश झेलने को मजबूर होना पड़ा था और जब इस क्रूरतम कृत्यों से भरी अपमानजनक स्थिति की चरम सीमा हो गई तब जनमानस उद्वेलित हो उठा था। अपनी राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक पराधीनता से मुक्ति के लिए सन् 1857 से सन् 1947 तक दीर्घावधि क्रांति यज्ञ की बालिवेदी पर उनके राष्ट्रभक्तों ने तन मन जीवन अर्पित कर दिया था।

क्रांति की ज्वाला सिर्फ पुरुषों को ही नहीं आकृष्ट करती बल्कि वीरांगनाओं को भी उसी आवेग से आकृष्ट करती है। भारत में सदैव से नारी को श्रद्धा की देवी माना गया पर यही नारी जरूरत पड़ने पर चंडी बनने से परहेज नहीं करती। स्त्रियों की दुनिया घर के भीतर है, शासन-सूत्र का सहज स्वामी तो पुरुष ही है “अथवा शासन व समर से स्त्रियों का सरोकार नहीं” जैसी तमाम पुरुषवादी स्थापनाओं को ध्वस्त करती इन वीरांगनाओं के बिना 1857 से 1947 तक की स्वाधीनता की दास्तान अधूरी है जिन्होंने अंग्रेजों को लोहे के चने चबवा दिया। इन वीरांगनाओं में से अधिकतर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे किसी रजवाड़े में पैदा नहीं हुई बल्कि अपनी योग्यता की बदौलत उच्चतर, मुकाम तक पहुँची।

स्वतंत्रता आन्दोलन में बिहार की वीरांगनाओं की भूमिका किसी भी अन्य प्रान्त की वीरांगनाओं से कम नहीं थी। बिहार की महिलाओं में जागरण की लहर दौड़ रही थी। देश की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने भी पुरुषों के साथ कंधे मिलाकर लड़ पड़ने का संकल्प किया। सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ करते समय गाँधीजी ने भारत की महिलाओं के नाम पर एक खुली चिट्ठी में उनसे विदेशी वस्त्र एवं नशीले पदार्थों के बहिष्कार सम्बंधी कार्यों में भाग लेकर राष्ट्रीय संग्राम में सहायता देने की अपील की थी¹। उन्होंने महिलाओं से अपनी अपील में कहा था कि विदेशी वस्त्र का बहिष्कार हस्तनिर्मित वस्त्र के उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि करके

प्रभावी बनाया जा सकता था। इस काम में स्त्रियाँ (सूत कातने में) अपना बचा हुआ समय लगाकर बहुत सहायता कर सकती थी। इन दोनों बहिष्कार कार्यों के लिए प्रचार के सन्दर्भ में गाँधीजी ने उनसे कहा था कि “विदेशी वस्त्र विक्रेताओं तथा क्रेताओं एवं शराब पीने वाले एवं बेचनेवालों से उनकी अपील उनका हृदय पिघलाए बिना नहीं रह सकती थी। अपनी अपील के अंत में गाँधीजी ने कहा कि यह असंभव नहीं कि इस सिलसिले में उन्हें अपमानित किया जाय। किन्तु ऐसा अपमान सहना भी उनके लिए गौरव की बात होगी। यदि ऐसा हुआ तो इससे देश की अग्नि-परीक्षा जल्दी खत्म होगी।

बिहार में अनेक महिलाएँ पर्दा से बाहर आईं और गाँधीजी की अपील का उत्साह के साथ उत्तर दिया। पटना में विशेषकर विदेशी वस्त्र बहिष्कार का आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाया गया। जिसका श्रेय महिलाओं को जाता है। श्रीमति हसन इमाम के नेतृत्व में कुछ स्त्रियाँ पटना की सड़कों पर घूम-घूम कर दूकानदारों से विदेशी वस्त्र का व्यापार नहीं करने की अपील की। श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी ने भी इनमें प्रमुख रूप से भाग लिया। इस शंका के साथ कि स्त्रियाँ नशीले द्रव्यों की दूकान पर धरना देने में भाग लेंगी, पटना सिटी के मजिस्ट्रेट ने “महिला पुलिस नियुक्त करने” का सुझाव दिया। जिलाधिकारी एवं आयुक्त को यह सुझाव व्यवहारिक नहीं प्रतीत हुआ²। सहसराम में श्री राम बहादुर बार-एट-लॉ की पत्नी ने कुछ अन्य महिलाओं के साथ स्थानीय थाना के सामने एक छटाँक नमक बनाया³।

कुछ दिनों से बिहार की शिक्षित महिलाओं में जागरण का आसार दीख रहा था। 1 जनवरी 1929 में पटना में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन का अधिवेशन संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में बिहार की महिलाओं को देश की अन्य महिलाओं से मिलने का अवसर मिला और देश की स्वतंत्रता एवं महिला समाज में जो कुरीतियाँ फैली हुई थी उन्हें दूर करने के तरीकों पर विचार-विमर्श किया गया। बिहार में सम्मेलन की एक शाखा का संगठन किया गया। इसका एक अधिवेशन 7 दिसम्बर 1929 को हुआ। उसमें शारदा एक्ट के समर्थन तथा पर्दा प्रथा एवं दहेज प्रथा के विरोध

में प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। प्रान्त में नारी शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के लिए जोर दिया गया। बिहार से कुछ महिला प्रतिनिधियों ने 20 जनवरी 1930 को बम्बई में सामाजिक एवं शैक्षणिक सुधारों के हेतु अखिल भारतीय महिला सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लिया।

बिहार महिला सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लिया। बिहार महिला सम्मेलन का चौथा अधिवेशन गया के थियोसौफिकल हॉल में 4 दिसम्बर 1930 को श्री नन्दकिशोर लाल की पत्नी की अध्यक्षता में हुआ। बिहार के लिए स्थायी समिति की सदस्या श्रीमति कमलकामिनी देवी ने पिछले वर्ष के कार्यों की एक रिपोर्ट पढ़ी और अखिल भारतीय महिला सम्मेलन के आगामी अधिवेशन के लिए कुछ प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया गया।⁴

बहिष्कारों के संदर्भ में सरकारी नीति

विदेशी वस्त्र एवं शराब के बहिष्कार के प्रास्तावित आन्दोलन के सन्दर्भ में बिहार सरकार ने मई 1930 में एक नीति निर्धारित की। इसके अनुसार नमक सत्याग्रह वाली नीति ही इस सन्दर्भ में अपनायी जानी चाहिए। स्थानीय नेता एवं महिला कार्यकर्ता जहाँ कहीं भी गैरकानूनी काम करे, गिरफ्तार कर लिए जाए किन्तु दूसरे लोगों को सामूहिक स्तर पर गिरफ्तार यथासंभव नहीं किया जाय। जहाँ भी जरूरत हो, दूकानदारों एवं ताड़ी, शराब बेचनेवालों की रक्षा के लिए पुलिस की पूरी व्यवस्था की जाय। वस्त्र बहिष्कार के संबंध में लोगों को यह बताया जाए कि इस आन्दोलन से मूल्यों में वृद्धि होगी।⁵

18 जुलाई वाले सप्ताह में गिरीडीह अनुमंडल की एक महिला कार्यकर्ता को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया यह

तेजस्वी महिला श्रीमती मीरा देवी थी जो हजारीबाग कॉलेज के एक शिक्षक की पुत्री थी। बिहार में गिरफ्तार होने वाली यह तीसरी महिला थी। स्वतंत्रता सेनानी हसन इमाम की पत्नी तथा कुछ अन्य महिलाओं ने पटना में छात्रों की कई सभाओं में तथा बाढ़ की एक जनसभा में भाषण दिया। हसन इमाम की पुत्री तथा कुछ अन्य महिलाओं ने 15 जुलाई को पटना में विलायती वस्तुओं के बहिष्कार का अभियान आरंभ किया।

25 जुलाई वाले सप्ताह में पटना में महिलाओं द्वारा दो बड़े प्रदर्शन किए गए। इनमें से एक प्रदर्शन में लगभग 3,000 महिलाओं ने भाग लिया इसमें हसन इमाम की पत्नी, उनकी पुत्री ने प्रदर्शनकरियों का नेतृत्व किया मुस्लिम समाज की एक अन्य प्रखर महिला शाह मोहम्मद जुबैर की पत्नी ने भी पर्दा का परित्याग करके 25 जुलाई को मुंगेर के एक सभा में भाषण दिया और बहिष्कार आन्दोलन चलाने के लिए एक महिला समिति का संगठन किया। हसन इमाम की पत्नी एवं कन्या श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी तथा कुछ अन्य प्रमुख महिलाओं को पुलिस ऐक्ट की धारा 30 और 143 भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत अदालत में हाजिर होने का सम्मन मिला। पुलिस ऐक्ट की धारा 32 के अन्तर्गत “सर्चलाइट” के सम्पादक श्री मुरली मनोहर प्रसाद, पटना नगर कांग्रेस कमिटी के सचिव श्री शारंगधर सिंह और पटना हाईकोर्ट के वकील श्री फूलन प्रसाद वर्मा को भी अदालत में बुलाया गया। इसके विरोध में पटना में सभाएँ हुई और जुलूसें निकाली गईं। तीनों को दो-दो सौ रूपया जुर्माना और जुर्माना नहीं देने पर 6 महीने सादी कैद की सजा सुनायी गई⁶।

हसन इमाम की पत्नी को दो सौ रूपया जुर्माना और अन्य महिलाओं को एक-एक

सौ रूपया जुर्माना किया गया। इन्होंने खुली अदालत में वक्तव्य दिया कि वे जुर्माना नहीं देंगी किन्तु मजिस्ट्रेट ने कहा कि कानून उनसे जुर्माना वसूल लेने में समर्थ था और उन्हें चले जाने दिया।⁷ श्री हसन इमाम की पत्नी एवं पुत्री तथा कुमारी गौरी दास ने आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए प्रान्त की यात्रा आरम्भ की। हजारीबाग सहित बिहार के कुछ अन्य जिले उनके कार्यस्थली में शामिल थी। बम्बई में 30 जुलाई से 1 अगस्त तक कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक हुई जिसमें एक प्रस्ताव स्वीकृत करके भारत की महिला समाज ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की लड़ाई में जो भाग लिया था और जेल एवं लाठी प्रहार तथा अन्य कठिनाइयाँ जिस बहादुरी के साथ जुलाई को पटना में विलायती वस्तुओं के झेलने को वे उद्धृत थी उसके लिए उन्हें बधाई दी। कार्य कारिणी विशेष रूप से देव बाँधवी सुवम्बा, श्रीमति पेरीन कैप्टन, श्रीमति लीलावती मुंशी, श्रीमति लुकमानी और श्रीमति हसन इमाम तथा अन्य महिलाओं को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने, गिरफ्तार होने एवं देश के लिए कष्ट सहन करने के हेतु बधाई दी।

श्रीमति हसन इमाम ने मुजफ्फरपुर की महिलाओं की एक समिति स्थानीय सरकारी अधिकारियों और नगरपालिका द्वारा अनेक तरह की बाधाएँ डालने के बावजूद 5 अगस्त के दूसरे पहर सभा की गयी। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि श्रीमती मीरा बहन बिहार में चर्खा के व्यवहार के लिए जोरदार प्रचार करने के हेतु यात्रा कर रही थी। 12 अगस्त को श्रीमती चन्द्रावती देवी ने गया में एक सभा में भाषण करते हुए चौकीदारी टैक्स नहीं देने पर बल दिया।⁹

महिलाओं के प्रयत्न से चर्खा अभियान को बल मिल रहा था। अगस्त महीने में

मैरवा थाना में 6000 चर्खा और 163 करधा चलाया जा रहा था लगभग 2500 रूपये का सूत तैयार किया गया और 104 मन सूत खरीदा गया।¹⁰ बिहार में चर्खा और खादी की प्रगति के संबंध में प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की 7 नवम्बर 1930 की साप्ताहिक रिपोर्ट में कहा गया था। “इस प्रान्त में हाथ से काते सूत के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। लोग बड़ी संख्या में चर्खा अपना रहे हैं और इसके विषय में बराबर पूछा जाता है कि सूत का वे क्या करें। सारण जिलान्तर्गत एकमा थाना में नियमित रूप से 237, गुथनी थाना में 2997 चर्खा और 50 करधा चलाए जा रहे हैं। मुंगेर जिलान्तर्गत बड़हिया थाना में चर्खा की संख्या 300 तक पहुँच गयी है।”

नेताओं की व्यापक गिरफ्तारी और बिहार की महिलाओं का प्रतिरोध से आन्दोलन की प्रगति हो रही थी। महिला स्वयंसेवकों

के नए-नए जत्थे बन रहे थे जिसमें ग्रामीण महिलाएँ भी शामिल होती थी इस प्रकार आन्दोलन का विस्तार शहर से ग्रामीण क्षेत्रों और कस्बाई तक हो चला था। महिलाएँ विदेशी वस्त्र बहिष्कार के साथ-साथ विदेशी माल के बहिष्कार के लिए भी धरना प्रदर्शन कर रही आन्दोलन का विस्तार बिहार के सभी जिलों यथा चम्पारण, सारण, मुजफ्फरपुर, पटना, दरभंगा, भागलपुर आदि स्थानों पर हो रहा था।

बिहार की महिलाएँ रचनात्मक कार्यों में भी बढ़-चढ़ कर भाग ले रही थी। इनमें ग्रामीण संगठन, नशीले पदार्थों एवं विदेशी वस्त्र की दूकानों पर शान्तिपूर्ण धरना आदि सम्मिलित थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन देश के स्वतंत्रता संग्राम का महत्पूर्ण चरण है जिसने आजादी की लड़ाई को जन आन्दोलन में तब्दील कर दिया। बिहार की महिलाओं का सविनय अवज्ञा आन्दोलन में

भूमिका भारतीय इतिहास का एक विस्तृत अध्याय है।

सन्दर्भ

1. गाँधी-यंग इन्डिया 10 अप्रैल 1930
2. पटना आयुक्त का अभिलेख
3. वही
4. द सर्च लाइट:- 9 फरवरी और 11 दिसम्बर 1930
5. भागलपुर के जिलाधिकारी को आयुक्त का पत्र 3 मई 1930
6. पटना आयुक्त की पाक्षिक रिपोर्ट, 13 अगस्त 1930.
7. बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की साप्ताहिक रिपोर्ट, 1 अगस्त 1930
8. वही, 13 अगस्त 1930
9. वही 27 अगस्त
10. बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की साप्ताहिक रिपोर्ट 26 सितम्बर 1930

रिसर्च स्कॉलर

भू० ना० मं० विश्वविद्यालय,
मधेपुरा (बिहार)

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बर्फीली आंधी	अलेक्सान्द्र पुश्किन	125.00
यामा, भाग-1	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्ट्रोव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्ट्रोव्स्की	150.00
दर्द भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्ट्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन और बिहार

अंजना कुमारी

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारतीय अपने आपको घोर असमंजस की स्थिति में पा रहे थे। इस संकटपूर्ण स्थिति की अभिव्यक्ति कभी-कभी व्यापक राष्ट्रीय असंतोष, निराशा एवं व्यथा, दुर्निवार शक्तियाँ सृजित कर रही थी। ये शक्तियाँ राजनेताओं की गणना को उलटती हुई एवं शासक के अस्त्रागार में सतर्कता के साथ रखे गये दमन के उपकरणों को चुनौति देती हुई अप्रत्याशित रूप से फूट पड़ती थी और भारत की निर्यात का निर्माण करनेवाली परिस्थिति सृजित कर रही थी। लोगों के मन में जब भारी अस्तव्यस्तता भरी हो तो सामूहिक आन्दोलन दूर नहीं हो सकता था। वस्तुतः घटना की अभिव्यक्ति देश को निर्ममता के साथ क्रांति के मार्ग पर अग्रसर कर रही थी। यद्यपि सरकारी दमनचक्र अनवरत रूप से चलाया जा रहा था। महात्मा गाँधी के भाषण और लेखों में कुछ काल से अधिक व्याकुलता तथा सांकेतिक प्रतिरोध के स्थान पर संघर्ष के संकेत भरे होते थे। इनका जनक्रांति के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार करने में बहुत योगदान था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की स्थिति और उससे उत्पन्न गंभीर परिस्थिति को देखते हुए कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ कुछ शर्तों पर सहयोग देने की पेशकश की। ब्रिटिश सरकार ने भी राष्ट्रवादियों की कुछ माँगों को स्वीकार करने का निर्णय लिया। मार्च 1942 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्सटन चर्चिल ने ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि युद्ध समाप्ति के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायेगा। इस व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए 22 मार्च 1942 को स्टैफोर्ड क्रिप्स भारत की यात्रा की। क्रिप्स प्रस्ताव का भारतवासियों ने जमकर विरोध किया। बम्बई में आखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का अधिवेशन 7 अगस्त को शुरू हुआ और 8 अगस्त तक को संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस कार्यकारिणी की ओर से भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित होने के बाद जनता के नाम “करो या मरो” का महामंत्र दिया। उन्होंने ने कहा हम या तो भारत को स्वतंत्र करेंगे अथवा उसके लिए संघर्ष में अपने प्राणों की बलि देगे। हम देश को चिरंतन दासता की बेड़ियों में बंधे हुए देखने को जिन्दा नहीं रहेंगे। गाँधीजी को 9 अगस्त के सुबह गिरफ्तार कर लिया गया अन्य कार्यकारिणी के सदस्यों को भी गिरफ्तार किया गया। उस दिन सारे दश भर में गिरफ्तारियाँ होती रही। पटना में अस्वस्थ राजेन्द्र प्रसाद को गिरफ्तार करके बाँकीपुर जेल भेज दिया गया। फूलन प्रसाद वर्मा, श्री कृष्ण सिंह को भी गिरफ्तार करके बाँकीपुर जेल में डाल दिया गया। 9 अगस्त को सरकार ने आखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी, बिहार

प्रांतीय कांग्रेस कमिटी, बिहार कांग्रेस कार्यकारिणी, बिहार कांग्रेस कार्यपालिका कमिटी को उनकी शाखाओं सहित गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त सभी जिला अनुमंडल और थाना कांग्रेस कमिटियों को भी गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। एक ओर जब सरकार की ओर से ये कठोर कार्रवाइयाँ की जा रही थी राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी की खबर आग की तरह देशभर में फैल गई। छात्रों में इसकी प्रतिक्रिया सर्वप्रथम हुई। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इस अंतिम चरण में देश के छात्रों एवं नौजवानों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। राजेन्द्र प्रसाद की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही बी०एन० कॉलेज पटना से एक जूलूस निकलकर पटना विश्वविद्यालय पहुँचा इसकी अध्यक्षता श्री सूरजदेव कर रहे थे। सभा के बाद कई हजार छात्रों ने बाँकीपुर जेल के सामने प्रदर्शन किया। 10 अगस्त को पुलिस ने सदाकत आश्रम, किसान सभा कार्यालय जिला कांग्रेस कार्यालय नया कदमकुआँ, कांग्रेस समाजवादी दल कार्यालय को जब्त कर लिया। पुलिस ने बिहार विद्यापीठ के भवन तथा राजेन्द्र प्रसाद के आवास को भी जब्त कर लिया। अधिकतर स्कूल कॉलेज में पूर्णतः हड़ताल रही। पटना ट्रेनिंग कॉलेज, बी०एन० कॉलेज, पटना अस्पताल, पटना कॉलेज, साइन्स कॉलेज, इंजीनियरिंग कॉलेज, राममोहन राय सेमीनरी, पटना कॉल्लिजियट स्कूल और पी०एन० ऐंगलो संस्कृत स्कूल तथा अधिकतर अन्य विद्यालयों एवं छात्रावासों पर कांग्रेस का झंडा फहराया गया। कदमकुआँ महिला चर्खा क्लब से महिलाओं की एक जुलूस निकाली गई। नगर के विभिन्न सड़कों से गुजरती हुई जुलूस दीवानी अदालत की ओर से कांग्रेस मैदान लौटी यहां की सभा में राजेन्द्र प्रसाद की बहन श्रीमती भागवती देवी ने सभा की अध्यक्षता की इस सभा में स्व० शम्भूशरण वर्मा की पत्नी श्रीमती सुन्दरी देवी श्री जगतनारायण लाल की पत्नी श्रीमती राम प्यारी देवी की भागीदारी उल्लेखनीय रही। संध्या के समय पटना के दोनो सिनेमा घर रिजेन्ट और ऐलिफिस्टन पर धरना दिया गया और वे उस दिन बंद रहे। 10 अगस्त को बिहारशरीफ के नालन्दा कॉलेज ओर स्कूलों, बाढ़ और मोकामा के स्कूलों में हड़ताल रही। छात्रों ने जुलूस निकाली और कई भवनों पर राष्ट्रीय झंडा फहराये³। 10 अगस्त को मुजफ्फरपुर में पूरी हड़ताल रही जी०वी०वी कॉलेज, जिला स्कूल, मारवाड़ी स्कूल और तिरहुत टेक्निकल इंस्टीच्यूट के भवनों पर राष्ट्रीय झंडा फहराया गया। श्री सरयुग प्रसाद और डा० रामाशीष ठाकुर को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। दरभंगा के सी०एम० कॉलेज और मेडिकल कॉलेज के छात्रों ने जुलूस

निकालकर हड़ताल रखी। छपरा में भी हड़ताल की गयी। जिला में रीवीलिंगज, सोनपुर, मढ़ौरा, अमनौर, महाराजगंज, गोपालगंज आदि स्थानों पर जुलूस निकालकर सभाए की गयी। भागलपुर में कीर्तिनारायण सिंह हरनारायण जैन-देवनारायण मिश्र आदि को 11 अगस्त को गिरफ्तार करके भारत रक्षा अधिनियम के अन्तर्गत दंडित किया गया।

सचिवालय कांड:- पटना में 11 अगस्त का दिन ऐतिहासिक सिद्ध हुआ इस दिन पटना सचिवालय भवन पर राष्ट्रीय झंडा फहराने के लिए लोग कृतसंकल्प थे। दोपहर 2:15 बजे के लगभग सचिवालय के पूर्वी फाटक पर एक राष्ट्रीय झंडा फहराने का प्रयास किया गया। पुलिस प्रदर्शनकारियों का किसी भी कीमत पर रोकना चाहती थी अन्ततः संध्या 5.47 मिनट पर जिला मजिस्ट्रेट ने गोली चलाने का आदेश दिया। गोरखा घोड़सवार पुलिस द्वारा 13-14 राउण्ड गोली चलाई गई। 7 छात्र घटनास्थल पर ही शहीद हो गए और लगभग 25 गंभीर रूप से घायल हो गए। शहीद छात्रों के नाम थे (1) उमाकान्त प्रसाद सिंहा (2) रामानन्द सिंह (3) सतीश प्रसाद झा (4) जगपति कुमार (5) देवीपद चौधरी (6) राजेन्द्र सिंह (7) रामगोविन्द सिंह। 11 अगस्त के सचिवालय गोलीकांड के शहादत ने प्रांत भर में आजादी की लड़ाई में एक नई जान डाल दी। उनसे जो लपटें उठी वे मानो भारत के आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करने के मार्ग में जो भी बाधाएँ थी उन्हें समाप्त करने वाली सिद्ध हुई। गोली कांड के छात्र वस्तुतः करो या मरो के प्रतीक बन गये। उनसे प्रेरणा लेकर असंख्य नौजवान आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। समूचे प्रांत में जनविप्लव फूट पड़ा जो कि समय-समय पर हिंसात्मक रूप ले लिया करता था। संपूर्ण प्रांत में तत्क्षण एवं स्वतः प्रेरित कार्यवाहियाँ व्यापक रूप से शुरू हो गई। संध्या तक अनेक स्थानों पर टेलीग्राम और टेलीफोन के तार काट दिये गये। टेलीफोन

के खम्भे उखाड़ दिए गए। विध्वंसक कार्य पटना, दरभंगा, मुजफ्फरपुर, सारण, शाहाबाद, सहरसा, सुपौल में मधेपूरा, बाढ़ आदि स्थानों पर की गयी। सड़कों पर सिल्ले, डाल-पात, पत्थर आदि रखकर रूकावटें खड़ी कर दी गई, सड़के काटी गई पुल तोड़े गये या उन्हें क्षति पहुँचाई गई। आंदोलन के क्रम में पूरे बिहार में रेल की पटरियाँ उखाड़ी गई, तार और टेलीफोन की लाइनें काटी गई, डाकघरों तथा रेलवे स्टेशनों, थानों तथा अन्य सरकारी इमारतों को जलाया गया तथा पुलिस पर हमला किया गया इसका एक मात्र उद्देश्य सरकार को परेशान करना ताकी युद्ध सामग्री बाहर नहीं पहुँच सके। सरकारी दमन चक्र भी चला इस दिशा में गोली चलाना, सामूहिक जुर्माना तथा महिलाओं को अपमानित करना इत्यादि शामिल था। अगस्त क्रांति के दौरान बिहार में फौज द्वारा 262 तथा पुलिस द्वारा 140 व्यक्ति मारे गये। लोगो ने 12 फौजी जवानों को तथा पुलिस अधिकारियों की हत्या कर दी तथा एक फौज और 168 पुलिस जवानो को घायल कर दिया। कुछ दिन पटना जेल में रखने के बाद श्री बाबू तथा अन्य राजनीतिक कैदियों को हजारीबाग जेल भेज दिया गया। वहाँ जयप्रकाश नारायण भी नजरबंद थे जिन्हें किसी से मिलने की इजाजत नहीं थी।

आजाद दस्ता:- 9 नवम्बर 1942 को जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल से अपने कुछ साथियों के साथ दीवार फाँदकर भाग निकले। आन्दोलन में भाग लेने के लिए उनके साथ योगेन्द्र शुक्ल, सूरज नारायण सिंह, गुलाब चंद्र गुप्त, रामानंद मिश्र और शालीग्राम सिंह थे। किस प्रकार और कैसे यह संभव हुआ यह अभी तक ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। सरकार की उस समय धारणा थी कि जेल में सतर्कता की कमी से ही संभव हुआ। यद्यपि बाहर से कुछ सहायता की संभावना भी अयुक्त संगत नहीं 4। जेल से भागे हुए ये बिहारी धने एवं दुर्गम

जंगलो से भयकर बाधाओं और खतरों से जुझते हुए 45 घंटों तक अनवरत चलते रहने के बाद एक गाँव में पहुँचे। वहाँ के एक गाँव में एक निवासी ने उन्हें खाना खिलाया। जयप्रकाश नारायण की बिमार होने के कारण रात को श्री योगेन्द्र शुक्ल और श्री शालीग्राम सिंह उन्हें अपने कंधे पर लेकर चलना पड़ा था।⁵ जयप्रकाश ना0, श्री सूरज नारायण सिंह और विजया के साथ कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण की व्यवस्था करने के लिए नेपाल की तराई में रामविलास जंगल में आजाद दस्ता नामक गुप्त संगठन बनाया। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध क्रांति की विजय के साधन के रूप में आजाद दस्ता को छापामार युद्ध के तरीकों से विदेशी शासन को अस्तव्यस्त एवं पंगु करने की योजनाएँ कार्यान्वित करनी थी।

बिहार में क्रांति की प्रगति जारी रखने तथा प्रशासन को पंगु करने की छिटपूट कार्य कुछ क्रांतिकारी दलों द्वारा चलाए जा रहे थे। इनमें एक प्रमुख दल श्री सियाराम सिंह के नेतृत्व में सियाराम दस के नाम से कार्य कर रहा था। इसके चार प्रमुख कार्यक्रम थे धन संचय, शस्त्र संचय, शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण, सरकार का प्रतिरोध करने के लिए जनसंगठन। यह दल जहाँ भी जाता वहाँ के संगठन पर विशेष ध्यान देता। अनेक गाँव में पंचायत तथा रक्षा दल स्थापित करने में इसका हाथ था। बीहपुर इलाका में दल ने एक तरह की समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली थी। भारत छोड़ो आन्दोलन का बिहार में प्रभाव व्यापक था। यहाँ कार्यक्रम को लोगो ने अपनाया।

परिपत्र संख्या 5 में लोगों को निर्देश देनेवाली कार्यक्रम दिए गये थे। ये मुख्यतः निम्नलिखित थे:-

“करो या मरो”

भारत का स्वतंत्रता शुरू हो गया है। अब से हम अपने को स्वतंत्र मानते हैं। अंग्रेज सरकार की अमलदारी हमारे उपर

नहीं रही। अतः हम अंग्रेज सरकार का कानून या आदेश पालन नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त आजादी की लड़ाई में कामयाब होने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम के अनुसार हमें काम करना है।

हमें क्या करना चाहिए

- (1) अध्यापक और छात्रों ने स्कूल कॉलेजों का बहिष्कार किया।
- (2) वकील और मोख्तार कचहरी जाना छोड़ दे।
- (3) सैनिक, पुलिस और सरकारी कर्मी अपनी-अपनी नौकरी छोड़ दे।
- (4) रेलवे या ऐसे संस्थान में जहाँ सरकार के लिए सामग्री बनाई जाती है वहाँ के मजदूर हड़ताल कर दे और अपना कार्य करना बंद कर दे। अन्य कारखानों के मजदूर भी काम करना बंद कर दे।
- (5) रेल की पटरियाँ उखाड़ी जाय, बड़े-बड़े पुल तोड़ दिए जाय तार और सड़के काटी जाय।
- (6) कचहरी, अदालत, थाना, डाकघर आदि पर कब्जा किया जाय तथा उनपर राष्ट्रीय झंडा फहराया जाये।
- (7) चौकीदारी टैक्स तथा अन्य कर चुकाना बंद कर दिया जाय।
- (8) नमक कानून बनाकर नमक कानून का उल्लंघन किया जाय।
- (9) पुलिस और सैनिक के हथियार छिन ले लेकिन यह कार्य अहिंसात्मक ढंग से किया जाय।
- (10) पुलिस या सैनिक लाठी या गोली नहीं चलाये।
- (11) हमेशा अहिंसक रहे।
- (12) अधिक से अधिक जनता की सहानुभूति प्राप्त करने की हमेशा कोशिश करे।
- (13) मुख्य नारा ये हो- पुलिस हमारा भाई है, हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई,

भारत आजाद, अहिंसा हमारा अस्त्र है आदि।

- (14) हम सभी अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए ये सब काम करें जिनसे अंग्रेज सरकार की ताकत घटे और उनके कानूनों की उपेक्षा हो।
- (15) किसान मालगुजारी देना बंद कर दे किन्तु उन जमींदारों को जो हमारे साथ सहयोग करेंगे तथा सरकार का राजस्व देना बंद कर देंगे, उनकी मालगुजारी का कुछ भाग दिया जाय।

हमें क्या नहीं करना चाहिए-

- (1) ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे जनता की सहानुभूति खो दे।
- (2) बिजली और जलापूर्ति व्यवस्थाओं की तोड़-फोड़ नहीं करनी चाहिए।
- (3) मंत्रियों को हड़ताल पर जाने को नहीं कहना चाहिए।
- (4) ऐसी हिंसात्मक काम नही करना चाहिए जिनसे किसी व्यक्ति का अंगभंग हो।

टिप्पणी- सरकार उखाड़ी गई रेलवे लाईनों और तार-संचार व्यवस्था की मरम्मत करने का प्रयत्न कर रही है। हम उन्हें भंग करते रहें जिससे उनकी मरम्मत नहीं हो सके। रेल की लाईनें उखाड़ने और तार काटने का काम जारी रखें एवं जहाँ नहीं शुरू किया गया है वहाँ शुरू करें।

गोरे सैनिक अपने साथ 32 फीट चौड़ी खाईयाँ पार करने का सामान लिए चलते हैं। हम यदि 40 फीट खाईयाँ बना सकें तो उनके लिए पार करना संभव नहीं होगा।

स्वतंत्र भारत चिरंजीवी हो।

इस परिपत्र से आन्दोलन की गति में विशेष करके वृद्धि हुई।

उपरोक्त कार्यक्रम को बिहार के लोगों ने स्वतः स्फूर्त ढंग से कार्यान्वित किया।

1943 में देश घोर विषम स्थिति में खड़ा था। द्वितीय विश्वयुद्ध की लपटें देश

को झुलसाने के लिए तैयार थी। एकाधिक स्थानों पर जापानी हवाई हमले भी हुए थे। तूफान और अकाल खासकर के बंगाल के लोगों के कष्टों को कोई ओर-छोर नहीं था। अकाल और महामारी में असंख्य लोग कालकलवित हो गए थे। हजारों लोगो को गिरफ्तार करने सामूहिक जुर्माना वसूलने सड़कों और डाक की रक्षा के लिए सामूहिक दायित्व स्थापित करने, फरारों की संपत्ति जब्त करने में लगा था। कांग्रेस समाजवादी दल, आजाद दस्ता और अन्य दल की छिपी कार्यवाइयों के अतिरिक्त जहाँ-तहाँ रचनात्मक कार्यक्रम भी किये जा रहे थे। जो देशभक्त जेलों में बन्द नही थे वे अपने ढंग से राष्ट्रीय कार्य कर रहे थे।

संदर्भ संकेत सूची

1. भारत रक्षा अधिनियम के अन्तर्गत लोगों की गिरफ्तारी हो रही थी और उन्हें सजाएँ दी जा रही थी। फारवर्ड ब्लॉक के स्वामी सच्चिदानन्द का ब्रिटेन की युद्ध नीति के विरुद्ध भाषण करने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया था। लगभग उसी समय श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भी उसी अभियोग में मधुवनी में गिरफ्तार किये गये।
2. नेहरू, द डिस्कवरी ऑफ इन्डिया पृ0 397-399। श्री होरेस एलेक्जेन्डर तथा कुमारी अगाथा हैरिसन को पत्र के अन्त में गाँधीजी लिखा "मेरी सुदृढ़ धारणा है कि अंग्रेजों को व्यवस्थित ढंग से अभी भारत से चला जाना चाहिए, जिससे सिंगापुर, मलाया और बर्मा में उन्होंने जो किया उसे दुहराना न पड़े। उनका इस समय भारत से जाना उच्च कोटि का साहस का परिचायक होगा। वह मावन परिसीमा की संस्कृति होगी और भारत के प्रति सही नीति"। कुछ अन्य लेखों में भी यह बात विभिन्न शब्दों में दुहरायी गयी थी।
3. श्री जगलाल चौधरी 9 और 10 अगस्त को मोकामा में थे।
4. बिहार की घटनाओं की रिपोर्ट, नवम्बर उतरार्द्ध 1942
5. राम वृक्ष बेनीपुरी, जयप्रकाश नारायण, पृ0 187-188- श्री योगेन्द्र शुक्ल का वक्तव्य।

शिक्षिका,

आ. वा. म. वि., शंभूनाथपुर,
ढोली, मुरौल, मुजफ्फरपुर (बिहार)

भारत में न्यायिक सक्रियता: एक समीक्षा

एहसान अहमद

लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सरकार के तीनों अंगों की भूमिका निर्धारित होती है। सरकार के तीनों अंगों अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने निर्धारित कार्यक्षेत्र में सीमित रहे, किसी दूसरे अंग के कार्यों का अधिग्रहण न करें। लोकतंत्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त 'शक्तियों के पृथक्करण' सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। परन्तु जब सरकार का एक अंग दूसरे अंगों के कार्यकलापों में हस्तक्षेप करता है तो इसे सक्रियता कहते हैं। वैसे सक्रियता सरकार के किसी भी अंग की हो सकती है। यदि हम भारत तथा अन्य लोकतांत्रिक देशों के इतिहास पर नजर डालें तो लम्बे समय तक विधायिका तथा कार्यपालिका सक्रिय स्थिति में रहे। परन्तु भारत में विगत दो-तीन दशकों में न्यायपालिका सक्रिय स्थिति में रही है। न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य है न्यायपालिका द्वारा अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करना, इसके द्वारा विधायिका तथा कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण करना। परम्परागत रूप से यह माना जाता है कि न्यायपालिका का कार्य संविधान और कानून की व्याख्या करना तथा पीड़ित पक्ष को न्याय प्रदान करना है। जब न्यायपालिका अपने इस दायित्व से आगे बढ़कर कानून अथवा नीति निर्माण और क्रियान्वयन करने का प्रयास करती है तो इसे न्यायिक सक्रियता की संज्ञा दी जाती है। न्यायिक सक्रियता इस बात का संकेत है कि अन्य दो संस्थाएँ अर्थात् विधायिका तथा कार्यपालिका कमजोर हुई हैं। भारत में न्यायिक सक्रियता विरोध रूप से 1980 के दशक से आरम्भ होता जब जनहित याचिका की संकल्पना (एस. वी. गुप्ता वाद) को औपचारिक रूप से मान्यता दी गयी। 1990 के दशक से न्यायिक सक्रियता में वृद्धि हुई है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि न्यायिक सक्रियता शब्दावली का प्रयोग आलोचकों द्वारा किया जाता है। न्यायपालिका स्वयं को सक्रिय नहीं मानती है। जब भी न्यायपालिका पर सक्रिय होने का आरोप लगाया जाता है न्यायपालिका तर्क देती है कि वह तो केवल अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन कर रही है। न्यायपालिका यह तर्क देती है कि संविधान द्वारा उस संविधान की रक्षा, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा, कानून के शासन को लागू करने की जिम्मेदारी दी गयी है। इन्हीं तर्कों के आधार पर वह न्यायिक सक्रियता के आरोपों को खारिज कर देती है। भारत में न्यायिक सक्रियता के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं। 1970 के दशक के मध्य से ऐसी परिस्थितियाँ बननी आरम्भ हुईं जिसके कारण न्यायपालिका को सक्रिय होने के लिए विवश होना पड़ा। संसद का ह्रास, राजनीतिक तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक व्यवस्था में धन और बल के बढ़ते प्रभाव कानून को लागू करने में प्रशासन की अकर्मण्यता, सामाजिक न्याय सुलभ कराने में सरकार की असफलता, कमजोर वर्गों का सशक्तिकरण नहीं होना, अधिकारों का हनन आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनके चलते विधायिका तथा कार्यपालिका

की विश्वसनीयता कम हो रही थी और ये संस्थाएँ 'वैधता के संकट' से गुजर रही थीं इसी दौरान भारत में जन आंदोलन तेज हो रहे थे। अनेक नागरिक अधिकार संगठनों (जैसे-पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज (पी. यू. सी. एल.), पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पी. यू. डी. आर.) तथा पर्यावरण संरक्षण से जुड़े संगठनों का उदय हो रहा था। इन सब परिस्थितियों के फलस्वरूप न्यायपालिका की भूमिका बढ़ने लगी। न्यायपालिका लोगों की आशा का केन्द्र बनी।

न्यायिक सक्रियता के दृष्टिकोण से केशवानंद भारती वाद (1973) काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने आधारीक संरचना का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार संविधान के कुछ ऐसे आधारभूत तत्व हैं जिनमें संविधान संशोधन द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस निर्णय से संसद की संविधान संशोधन करने की शक्ति हो गयी। संविधान के कौन-कौन से तत्व आधारीक संरचना के अन्तर्गत आते हैं यह परिभाषित करने का अधिकार न्यायालय ने अपने पास रखा। इससे न्यायपालिका की शक्ति में काफी वृद्धि हुई। न्यायिक सक्रियता की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण वाद मेनका गाँधी वाद (1978) था। इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने 'विधि की स्थापित प्रक्रिया' से हटकर 'विधि की यथोचित प्रक्रिया' के सिद्धान्त को अपना लिया। परिणामस्वरूप न्यायपालिका ने 'प्राकृतिक न्याय' के सिद्धान्त के आधार पर विधायिका तथा कार्यपालिका के कार्यकलापों का मूल्यांकन आरंभ कर दिया।

जनहित याचिका तथा न्यायिक सक्रियता

1980 के दशक में जनहित की संकल्पना के फलस्वरूप न्यायपालिका की शक्ति में काफी वृद्धि हुई। इस संकल्पना के फलस्वरूप समाज के कमजोर तथा वंचित वर्गों को, जो गरीबी, अज्ञानता आदि के कारण न्याय पाने में असमर्थ थे, न्याय सुलभ होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। न्यायपालिका ने यह मत प्रकट किया कि पीड़ित पक्ष न्यायालय के सामने रख सकती है। यदि कोई ऐसा मुद्दा हो जिससे व्यापक जनहित जुड़ा हुआ हो तो उसे भी न्यायपालिका के सामने रखा जा सकता है। जनहित याचिका में न्यायालय वाद दायर करने की सामान्य प्रक्रिया में छूट देती है। जनहित वादों के अग्रणी न्यायाधीशों में न्यायाधीश वी. आर. कृष्ण अय्यर तथा न्यायाधीश पी. एन. भगवती प्रमुख हैं। जनहित वादों के कारण न्यायिक सक्रियता में वृद्धि हुई तथा न्यायपालिका सामाजिक न्याय के माध्यम के रूप में स्थापित हुई।

न्यायिक समीक्षा तथा न्यायिक सक्रियता

न्यायिक समीक्षा न्यायिक सक्रियता के लिए आधार का काम करती है। न्यायिक समीक्षा के अन्तर्गत न्यायपालिका, विधायिका

तथा कार्यपालिका के कार्यों के वैधता की जाँच करती है, संविधान की व्याख्या करती है। इसी क्रम में जब न्यायपालिका संवैधानिक प्रावधानों की विस्तृत तथा लचीली व्याख्या करती है तो यह न्यायिक सक्रियता कहलाता है। अतः न्यायिक सक्रियता न्यायिक समीक्षा से आगे जाता है। उदाहरण के लिए संविधान का अनुच्छेद-21 नागरिकों को जीवन का अधिकार प्रदान करता है। न्यायपालिका ने इस अधिकार की विस्तृत व्याख्या की है तथा इसमें जीवन को स्वस्थ तथा गरिमायुक्त बनाने वाले सभी तत्वों को शामिल किया है जैसे-स्वच्छ जल का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, न्यूनतम मजदूरी पाने का अधिकार, चिकित्सकीय सहायता पाने का अधिकार आदि। यह न्यायिक सक्रियता का उदाहरण है। न्यायालय ने अनु. 14, 19, 21, 32 तथा 39 (ए) की विस्तृत व्याख्या कर न्यायपालिका की शक्ति में अभिवृद्धि की है।

न्यायिक सक्रियता का सकारात्मक पक्ष

जनसामान्य में न्यायपालिका की सक्रियता के प्रति प्रशंसा का भाव रहा है। राजनीतिक तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार, प्रशासनिक उदासीनता तथा निष्क्रियता के कारण राहत मिली है। न्यायिक सक्रियता के कारण प्रशासन में सजगता आयी है। राजनीतिक तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर अंकुश लगा है। उदाहरण के लिए अब चुनावों में उम्मीदवारों को नामांकन के समय अपनी सम्पत्ति, शिक्षा तथा अपने ऊपर चल रहे आपराधिक मामलों की जानकारी शपथपत्र के माध्यम से देना होता है। इसी प्रकार विनीत नारायण मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने सी. बी. आई. को सरकार के बजाय सीधे सर्वोच्च न्यायालय को रिपोर्ट भेजने के लिए कहा। जनहित याचिका के फलस्वरूप खर्चीली तथा जटिल न्यायिक प्रणाली से छुटकारा मिला है। अब समाज के कमजोर तथा वंचित वर्गों को न्याय सुलभ होने का मार्ग प्रशस्त हो गया है जो न्याय की सामान्य व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय पाने में असमर्थ थे जैसे-जेलों में बंद कैदी या बंधुआ मजदूर आदि।

न्यायिक सक्रियता के कारण भारत की

न्यायपालिका एक प्रगतिशील तथा उदारवादी न्यायपालिका के रूप में सामने आयी है। व्यक्तिगत न्याय के साथ ही न्यायपालिका ने एक मानवी दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज के विभिन्न वर्गों के सामूहिक हितों की चिन्ता करते हुए सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए पहल किया है।

न्यायिक सक्रियता के कारण नागरिकों के मौलिक अधिकारों तथा मानव अधिकारों की रक्षा हुई है। न्यायपालिका ने मौलिक अधिकारों का क्षेत्र विस्तृत किया है। बंधुआ मजदूरी, बाल श्रम, पर्यावरण सुरक्षा, हिरासत में मृत्यु के विरुद्ध कार्यवाही, मनमानी गिरफ्तारीयाँ, दमनकारी कानूनों के इस्तेमाल आदि मामलों में उच्चतम तथा उच्च न्यायलयों की सक्रिय भूमिका काफी चर्चित रही है।

आरम्भ में न्यायपालिका को नीति निदेशक तत्वों को लागू करने में बंधक के रूप में देखा जाता था क्योंकि उसने मौलिक अधिकारों को अधिक महत्ता प्रदान की। परन्तु 1980 के दशक से मौलिक अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्वों के मध्य को समाप्त करते हुए न्यायपालिका ने अनेक नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए सरकार को निर्देश देना आरम्भ किया इस प्रकार न्यायिक सक्रियता के कारण सरकार नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के प्रति गम्भीर हुई है। वर्तमान समय में प्रदत्त विधायन के कारण कार्यपालिका की शक्ति काफी विस्तृत हो गयी है। इससे कार्यपालिका को नियम, उपनियम आदि बनाने की व्यापक शक्ति प्राप्त हुई है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका द्वारा कानून के दुरुपयोग की आशंका भी बढ़ गयी है। न्यायिक सक्रियता से ऐसे दुरुपयोग पर अंकुश लगाया जा सकता है।

न्यायिक सक्रियता का नकारात्मक पक्ष

आलोचकों के अनुसार न्यायिक सक्रियता एक स्वरूप परम्परा नहीं है। इससे शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को आघात लगता है। संवैधानिक संतुलन भंग होता है। सरकार के तीनों अंगों के मध्य तनाव एवं टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए पैसा लेकर संसद में प्रश्न पूछने के

कारण लोकसभा ने अपने कुछ सांसदों को सदन से निष्कासित कर दिया था। इसके विरुद्ध निष्कासित सदस्यों ने सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर किया। इस याचिका का संज्ञान लेते हुए सर्वोच्च न्यायालय तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष को नोटिस भेजा परन्तु लोकसभा अध्यक्ष ने नोटिस का उत्तर देने से इनकार कर दिया। इससे विधायिका तथा न्यायपालिका के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। जहाँ तक जनहित का प्रश्न है न्यायपालिका यह दावा नहीं कर सकती कि उसे जनहित की सबसे अधिक समझ है। जनहित के मामले में न्यायपालिका की तुलना में विधायिका तथा कार्यपालिका की समझ तथा अनुभव अधिक है। पुनः न्यायाधीशों के निर्णयों में आत्मनिष्ठता होती है जबकि विधायिका तथा कार्यपालिका के निर्णयों में स्वाभाविक रूप से वस्तुनिष्ठता अधिक होती है।

यह भी आवश्यक नहीं है कि न्यायपालिका जनहित के प्रत्येक मामले पर व्यवहारिक समझ रखे। कई बार यह देखा गया है कि न्यायपालिका व्यवहारीक तथा तकनीकी पक्षों को नजरअंदाज कर देती है। न्यायपालिका द्वारा दिये गये निर्देशों को पूरा करने में सरकार को जो प्रशासनिक कठिनाईयाँ हो सकती हैं इसे न्यायपालिका अनदेखा कर देती है। यदि न्यायपालिका सरकार के कामकाज में अत्यधिक हस्तक्षेप करेगी तो वह अप्रभावी हो जायेगी क्योंकि अधिक आदेश जारी करने पर उसका कार्यान्वयन सुनिश्चित करना कठिन हो जायेगा। न्यायिक सक्रियता की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि न्यायपालिका एक प्रतिनिधिक इकाई नहीं है। न्यायपालिका जनता के प्रति उस रूप में उत्तरदायी नहीं है जिस रूप में विधायिका तथा कार्यपालिका है।

न्यायिक सक्रियता लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का उल्लंघन है। लोकतांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक नीति निर्धारित करने का दायित्व विधायिका का है। यदि न्यायपालिका विधायिका द्वारा निर्मित कानून पर आक्षेप लगाती है तो इसका सीधा अर्थ यही है कि वह जनता की राजनीतिक क्षमता को कम

करके आँकती है। जनहित याचिका के कारण न्यायपालिका पर मुकदमों का बोझ बढ़ गया है। परिणामस्वरूप न्यायपालिका अपने परम्परागत दायित्वों को पूरा करने में नाकाम हो गयी है। हाल ही में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने न्यायपालिका का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि उच्च न्यायालयों में 30 लाख से भी अधिक मामले लंबित हैं। भारतीय न्यायपालिका इस मामले में अनूठी है कि वह अपनी नियुक्ति स्वयं करती है। उच्च न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति में कार्यपालिका की भूमिका अत्यन्त सीमित हो गयी है। इसके अतिरिक्त उच्च स्तर पर न्यायपालिका में भ्रष्टाचार तथा न्यायाधीशों द्वारा अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक करने में अनिच्छा आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जिनके कारण न्यायिक सक्रियता के प्रति न्यायपालिका के आग्रह को स्वीकार करने में कठिनाई है।

निष्कर्ष:-

न्यायिक सक्रियता को आलोचनात्मक आधार पर समझने की आवश्यकता है। यह सच है कि विधायिका तथा कार्यपालिका की अपनी कुछ कमियाँ रही हैं परन्तु न्यायपालिका भी आरोपों से पूरी तरह मुक्त नहीं है। हाल में न्यायपालिका के उच्च स्तर पर भ्रष्टाचार के मामलों में वृद्धि हुई है। कोलकाता उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के विरुद्ध संसद में महाभियोग की सिफारिश की गयी है। कर्नाटक उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश दिनकरन के उच्चतम न्यायालय में प्रोन्नति के विरुद्ध वकीलों के एक समूह ने सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को पत्र लिखा है। न्यायाधीशों द्वारा अपनी सम्पत्ति को सार्वजनिक किये जाने के पगति अनिच्छा से भी न्यायपालिका की साख को धक्का लगा है। कई बार न्यायाधीशों के निर्णय व्यक्तिगत लाभ या लोकप्रियता के दृष्टिकोण से भी प्रेरित रहे हैं। इन सारे तथ्यों को देखते हुए न्यायपालिका के लिए आत्मालोकन आवश्यक हो गया है। हाल में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भी न्यायिक प्रतिबन्ध (जुडिसियल रेस्ट्रेन्ट) की माँग की है। उन्होंने न्यायपालिका का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया कि उच्च न्यायालयों में

30 लाख से अधिक तथा अधीनस्थ न्यायालयों में 2.5 करोड़ से अधिक मामले लंबित हैं।

इस सारे पहलुओं को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि न्यायपालिका आत्मरोपित प्रतिबन्ध लगाये। इस दिशा में हाल में कुछ प्रयत्न भी हुए हैं। स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के ही दो न्यायाधीशों ए. के. माथूर तथा मार्कंडेय काटजू ने जनहित याचिका की प्रासंगिकता पर सवाल उठाते हुए न्यायिक सक्रियता पर कठोर टिप्पणी की। यह अभूतपूर्व है क्योंकि पहली बार न्यायपालिका ने अपने सक्रिय होने की बात को स्वीकार किया है। तात्कालीन लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी तथा भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश जे. एस. वर्मा पहले ही न्यायिक विचलन की प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त कर चुके हैं। अब सर्वोच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों ने भी न्यायपालिका को अपने अधिकार क्षेत्र की सीमा-रेखा का अतिक्रमण न करने की सलाह दी है। इसके पश्चात सर्वोच्च न्यायालय ने जनहित का दायरा छोटा कर दिया गया है ताकि मौलिक अधिकारों के हनन के नाम पर अनावश्यक रूप से याचिका दायर करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लग सके। एक अन्य महत्वपूर्ण कदम के तहत सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश स्वैच्छिक आधार पर अपनी सम्पत्ति सार्वजनिक करने पर सहमत हुए हैं।

अंततः न्यायिक सक्रियता के तमाम आलोचनाओं के बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इससे लोकतंत्र में लोगों की आस्था मजबूत हुई है। वस्तुतः न्यायिक सक्रियता ने लोकतंत्र में सेफ्टी वाल्व का काम किया है। इसके कारण विधायिका तथा कार्यपालिका से निराश लोगों में यह उम्मीद जगी कि न्याय उनकी पहुँच के दायरे में है। न्यायिक सक्रियता ने बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में संविधान की व्याख्या कर उसकी गतिशीलता तथा जीवंतता को बनाये रखने में योगदान दिया है। न्यायपालिका ने यह मत व्यक्त लिया है कि उसका कार्य केवल शब्दकोश की सहायता से संविधान को पढ़ना मात्र नहीं है अपितु उसे स्वर तथा व्यवहारिकता प्रदान करना है। इस

उद्देश्य में न्यायपालिका सफल हुई है। यह सच है कि न्यायिक सक्रियता के कारण शक्तियों के पृथक्करण सिद्धान्त को धक्का लगा है परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शक्तियों का पृथक्करण अपने आप में हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा लक्ष्य तो है लोक कल्याण, संविधान का संरक्षण मौलिक अधिकारों का संरक्षण। इन उद्देश्यों में न्यायपालिका सफल रही है। न्यायिक सक्रियता ने सरकार को सुशासन की ओर प्रवृत्त किया है। अतः भारतीय सन्दर्भ में न्यायिक सक्रियता का प्रभाव सकारात्मक रहा है। परन्तु न्यायिक सक्रियता को 'न्यायपालिका द्वारा शासन' के स्तर तक नहीं खींचा जाना चाहिए। नीति निर्माण तथा क्रियान्वयन मूलतः विधायिका तथा कार्यपालिका का ही दायित्व है। इसमें जहाँ कमी रह जाये वहाँ न्यायपालिका को सामने आना चाहिए। अतः न्यायिक सक्रियता को अल्पकालिक उपाय के रूप में ही देखा जाना चाहिए। हम इसे दवा के रूप में तो स्वीकार कर सकते हैं परन्तु दैनिक आहार के रूप में नहीं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. Judicial Activism in India – Transgressing Borders and Enforcing Limits – S.P.Sathe.
2. Judicial Activism in India – B.S. Tyagi.
3. New Dimensions of Justice, 2000 – Justic J.S. Verma.
4. Judicial Activism – A National Necessity – Justic Gulab Gupta.
5. Judicial Review and Judicial Activism, 1997 – K.L. Bhatia.
6. Public Interest Litigation - P.M. Bakshi.
7. Taking Justice outside the courts – Judicial Activism in India – Arvind verma.
8. Judicial Activism and Administrative autonomy – V.R. Krishana Iyer.
9. Bar Association of India Lecture, 1997.
10. The Hindu : opinion/op Ed – 18 July 2009.
11. The Hindu : opinion/leader page Articles – 2 April 2007.
12. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था-एस. एम. सईद।
13. भारतीय शासन और राजनीति-ए. एस. नारंग।

यु.जी.सी.(नेट), राजनीतिकशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

महिला सशक्तिकरण: प्रयास एवं चुनौतियाँ

डॉ. मनोज कुमार

प्राचीन ग्रंथों में वर्णित उक्ति 'यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' एवं माओत्से-तुंग का यह कथन की आधा आसमान महिलाओं के हिस्से में आता है, समाज में महिलाओं की स्थिति, स्थान एवं महत्ता को स्वतः स्पष्ट करता है, लेकिन इस सच्चाई से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि शताब्दियों से संसार में पुरुषों की तुलना में महिलाओं को दूसरा स्थान दिया जाता रहा है, दोनों के महत्व एवं रुतबा में अंतर रहा है। मानव के पूरे इतिहास में पुरुषों को महिलाओं की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त रहीं हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी स्तरों पर औरत को पुरुष से हीन माना जाता रहा है। यद्यपि महिला और पुरुष के बीच का अंतर जैविक प्रजनन के आधार पर किया जाता है लेकिन हजारों वर्षों से विभिन्न समाजों द्वारा इस अंतर का प्रयोग सुविधा के रूप में किया जाता रहा है। प्राचीन भारत में महिलाओं और पुरुषों के बीच का संबंध समानता पर आधारित था। महिलाओं को पुरुषों की तरह सभी प्रकार की धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। रोजगार में लगी विवाहित महिलाएँ अपनी संपत्ति एवं जायदाद को अपने अधिकार में रख सकती थीं एवं पैतृक संपत्ति में भी हिस्सा प्राप्त कर सकती थीं।

परंतु समयोपरांत समाज में व्यापक परिवर्तन हुए, जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं की स्वतंत्रता का क्षरण हुआ एवं 'असूर्यमपस्या' की उपाधि से नवाज कर पर्दा प्रथा की बेड़ियों में जकड़ दिया गया। महिलाएँ धार्मिक एवं वैदिक अध्ययन के लिए अयोग्य धेषित की गईं, समाज में उनके साथ लैंगिक भेदभाव की शुरुआत हुई। विधवा विवाह पर धार्मिक प्रतिबंध के कारण समाज में सती-प्रथा का प्रचलन शुरु हुआ।

19वीं शताब्दी में भारत में अनेक सुधारवादी आंदोलनों का जन्म हुआ, जिसने आधुनिक भारत में पहली बार महिला सशक्तिकरण की ओर कदम बढ़ाया। सती-प्रथा उन्मूलन 1829, विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856, कानूनी विवाह अधिनियम 1872 जैसे सुधारात्मक कानून बनाए गए, लेकिन महिलाओं के प्रति लोगों के व्यवहार में विशेष परिवर्तन नहीं आया। विधि निर्माण के बाद भी संपत्ति, विरासत आदि के कानून महिलाओं के विरुद्ध बने रहे। समाज में महिलाओं की स्थिति संतोषजनक नहीं थी।

सशक्तिकरण का पहला आयाम है— आत्मविश्वास की वृद्धि और स्वाभिमान एवं इसी के आधार पर है समाज में सम्मान की प्राप्ति। अतः स्वतंत्रता के बाद संविधान के माध्यम से महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन और विकास लाने का प्रयास किया गया है। विशेष विवाह अधिनियम 1954, अनैतिक व्यापार समाप्ति अधिनियम 1956, दहेज निषेध अधिनियम 1961, समान वेतन अधिनियम

1976, बाल विवाह प्रतिबंध संशोधन अधिनियम 1978, परिवार न्यायालय अधिनियम 1984, दहेज निषेध संशोधन अधिनियम 1984, अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम 1986, महिलाओं के यौन उत्पीड़न से निपटने के लिए 1998 में राष्ट्रीय कारवाई योजना, घरेलू हिंसा अधिनियम 2006, आदि प्रमुख हैं। विधायिका द्वारा कानून बनाने के अतिरिक्त न्यायपालिका ने भी अपने निर्णयों से महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा दिया है। नवंबर 1975 में सर्वोच्च न्यायालय ने विधवा या मृत व्यक्ति की पुत्री को उसकी संपत्ति में समान अधिकार दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने तलाकशुदा महिलाओं के भरण-पोषण के लिए व्यवस्था पर बल दिया। न्यायपालिका ने सरकार को समय-समय पर निर्देश दिए हैं जो महिला सशक्तिकरण को सुदृढ़ बनाता है। इसी के आधार पर सरकार ने पैतृक संपत्ति में महिलाओं के समान भागीदारी का कानून बनाया है।

महिला सशक्तिकरण का प्रयास केवल कानून बनाने एवं उसकी व्याख्या तक सीमित नहीं रहा है। महिला विकास कार्यक्रमों को पंचवर्षीय योजनाओं में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में महिला शिक्षा और कल्याण को उच्च प्राथमिकता दी गई। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में महिला विकास और महिला सशक्तिकरण पर ध्यान केन्द्रित किया गया। सन् 1985 में केन्द्र में स्वतंत्र महिला और बाल विकास विभाग स्थापित किया गया। आठवीं योजना में महिलाओं को शक्ति प्रदान करने पर ध्यान केन्द्रित किया गया। सन् 2001 की जनगणनानुसार भारत में महिलाओं की संख्या 49.87 करोड़ है जो कुल जनसंख्या का 48.2% है। अतः भारत सरकार द्वारा महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक कल्याण हेतु अनेक कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है। सरकार ने 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में मनाया है। सरकार द्वारा चलाए गए कार्यक्रमों में से कुछ निम्न हैं—

रोजगार एवं प्रशिक्षण में सहायता देने का कार्यक्रम (स्टेप) (1985-86)

इसका उद्देश्य परंपरागत क्षेत्रों में महिलाओं के कौशल में सुधार तथा परियोजना के आधार पर रोजगार उपलब्ध कराकर महिलाओं की स्थिति में सुधार लाना है। महिलाओं को समूहों में संगठित कर सेवाओं में मदद दी जाती है, ऋण उपलब्ध कराया जाता है। इस योजना में आठ परंपरागत क्षेत्र शामिल हैं। यह योजना सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों, राज्य निगमों, जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों, सहकारिता परिसंघों एवं स्वयंसेवी संगठनों के माध्यम से लागू की जाती है। परियोजना लागत का 90% केन्द्र सरकार वहन करती है।

स्वावलंबन (1982-83)

इस कार्यक्रम का उद्देश्य महिलाओं को स्वरोजगार प्राप्त कराना है। महिला तथा बाल विकास सचिवों/समाज कल्याण सचिवों की अध्यक्षता में प्रत्येक राज्य में अधिकारिता समिति का गठन किया गया है जो इस योजना से संबंधित स्फारिशें करती है।

स्वयंसिद्धा

स्वयंसिद्धा महिलाओं के विकास एवं सशक्तिकरण की समन्वित योजना है। इस योजना का दीर्घकालीन उद्देश्य महिलाओं का चहुँमुखी विकास, खासतौर पर उनका सामाजिक और आर्थिक विकास करना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 31 दिसंबर 2004 तक 650 प्रखंडों में 59940 स्वयंसहायता समूह बनाए गए।

स्वशक्ति

ग्रामीण महिलाओं के विकास की यह केन्द्र प्रायोजित योजना जो विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय कृषि विकास बैंक के सहयोग से संचालित की जाती है। यह योजना बिहार, हरियाणा, गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तराखंड में लागू है।

सरकार द्वारा 20 मार्च 2001 में महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति घोषित की गई। इसका उद्देश्य महिलाओं की प्रगति, विकास और सशक्तिकरण को सुनिश्चित करना और महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव को समाप्त कर यह सुनिश्चित करना है कि वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और गतिविधि में खुलकर भागीदारी करें। 2010 तक इस नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक राष्ट्रीय कार्य योजना बनाई गई है। महिला सशक्तिकरण के प्रयासों को गति देने के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग नामक सांविधिक संस्था राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम 1990 के तहत गठित की गई है। यह महिलाओं की शिकायतों को दूर करने तथा महिलाओं की प्रगति के लिए अनुसंधान का कार्य करती है। यह आयोग महिलाओं की जागरूकता बढ़ाने में

सक्रिय रूप से योगदान करता है। सन् 1953 में भारत सरकार ने महिलाओं के कल्याण और विकास सेवाओं को बढ़ाने के लिए राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाने हेतु केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड को स्थापित किया है। इसके अलावा राष्ट्रीय महिला कोष, राष्ट्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान की भी स्थापना की गई है जो महिला सशक्तिकरण की दिशा में योगदान दे रहे हैं।

महिलाओं को चुनावों में हिस्सा लेने के स्वतंत्र एवं समान अधिकार के बावजूद भी निर्वाचित एवं निर्णय लेने वाले निकायों में महिलाओं की संख्या बहुत कम रही है। इस उद्देश्य के लिए स्थानीय निकायों में संविधान के 73वें एवं 74वें संशोधन द्वारा महिलाओं को 33% आरक्षण प्रदान किया गया। बिहार, उत्तराखंड, छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में महिलाओं के लिए आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 50% कर दी गई है। राजस्थान में 2010 से आरक्षण की सीमा को 50% का दिया जाएगा। बिहार में शिक्षक नियुक्ति में भी आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 50% कर दी गई है। केन्द्रीय कैबिनेट ने स्थानीय निकायों में 50% महिला आरक्षण को स्वीकृति प्रदान कर दी है। संसद तथा विधानसभओं में महिला आरक्षण का प्रयास किया जा रहा है। इसके अलावा भी सरकार ने महिला सशक्तिकरण हेतु अनेक घोषणाएँ की हैं। इंदिरा आवास योजना में महिलाओं को संयुक्त रूप से लाभकर्ता माना जा रहा है। महिलाओं के नाम से संपत्ति खरीदने पर निबंधन शुल्क एवं मुद्रांक शुल्क में छुट दी जा रही है।

इन व्यवस्थाओं ने महिला सशक्तिकरण को तीव्र गति प्रदान की है। महिलाएँ सरकार द्वारा प्रायोजित योजनाओं का लाभ उठाकर सशक्त हो रही हैं। स्थानीय स्वशासन में महिलाओं की आरक्षण व्यवस्था ने क्रांतिकारी परिवर्तन किया एवं महिलाएँ मुखिया, सरपंच, प्रखंड प्रमुख, जिलापरिषद के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष जैसे पदों को सुशोभित कर दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहन कर रही हैं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महिला सशक्तिकरण के अनेक सार्थक प्रयास हुए हैं। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपने घोषणापत्र में महिलाओं के प्रति भेदभाव को दूर करने के संकल्पों का वर्णन किया। सन् 1967 महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव बरतने वाले सभी साधनों को समाप्त करने की घोषणा को स्वीकार किया। सन् 1975 को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा की। अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलनों का आयोजन किया गया है। सन् 1995 में बीजिंग में आयोजित विश्व महिला सम्मेलन में महिला संबंधी विषयों की व्यापक समीक्षा हुई।

इन प्रयासों के अतिरिक्त महिला सशक्तिकरण के पक्ष में एक व्यापक बदलाव का माहौल पैदा हुआ है। 21वीं सदी को महिलाओं की सदी माना जा रहा है। समूचे विश्व में इस प्रकार का माहौल है। मई 2005 में कुवैत की महिलाओं को वोट का अधिकार प्रदान किया गया। सऊदी अरब में भी महिलाओं पर से प्रतिबंधों को हटाया जा रहा है। भारत में घरेलू हिंसा अधिनियम में यौन उत्पीड़न और गाली-गलौज को हिंसा की श्रेणी में रखा गया तथा महिलाएँ इस कानून का बखूबी इस्तेमाल कर रही हैं। आज महिलाएँ पढ़ाई करने एवं आत्मनिर्भर बनने में पुरुषों के साथ खड़ी नजर आ रही हैं। उत्पीड़न का मुकाबला सफलतापूर्वक कर अपने अधिकारों का उपयोग कर रही हैं। महिला आयोग, मीडिया एवं स्वयंसेवी संस्थाओं ने महिला सशक्तिकरण की दिशा में व्यापक योगदान दिया है। आत्मनिर्भर स्त्रियों की संख्या बढ़ी है। कार्यस्थल पर शोषण से बचाव हेतु सुप्रीम कोर्ट ने पहल की है। न्यायालय ने आचार संहिता बनाकर यह स्पष्ट किया कि कौन सी बातें इसके अंदर आती हैं तथा इसके लिए उपाय सुझाए हैं।

महिलाओं के विकास में सबसे अधिक बाधक हमारी रुढ़ियाँ, परंपरा, एवं रीति-रिवाज हैं। परन्तु अब महिलाओं की भूमिका में निर्णायक परिवर्तन शुरु हुआ है।

महिलाएँ आज सभी क्षेत्रों में उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। वर्तमान में भारत में सर्वोच्च राजनीतिक स्थिति एक महिला को प्राप्त है। विश्व स्तर पर हिलेरी क्लिंटन, चीनी उपप्रधानमंत्री एवं जर्मनी की चांसलर एंजेला मार्कल, इंदिरा न्यूी, चंदा कोचर ने अपने व्यक्तित्व से सभी को प्रभावित किया है। यह महिला सशक्तिकरण का सर्वोच्च प्रमाण है।

पूरी दुनिया में कामकाजी महिलाओं की संख्या में तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है। सार्वजनिक क्षेत्र के मुकाबले निजी क्षेत्र में महिलाओं की संख्या में तेजी से इजाफा हुआ है। विश्व स्तर पर यह माना गया है कि यदि महिलाओं की स्थिति सुधारनी है तो उनकी आर्थिक स्थिति सुधारनी होगी क्योंकि दुनिया के 58% संसाधनों पर पुरुषों का कब्जा है। अतः वित्तीय व्यवस्था को महिला समर्थक बनाने का प्रयास किया गया है। लिंग आधारित बजट प्रणाली की व्यवस्था को अपनाया जा रहा है। महिलाएँ आर्थिक दक्षता हासिल कर व्यापारिक प्रतिष्ठानों को अपनी सेवाएँ प्रदान कर रही हैं। इंदिरा न्यूी शीतल पेय बनाने वाली कंपनी पेप्सी के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। आर्थिक क्षेत्र में एच.एस.बी.सी. बैंक की नैना लाल किदवई, रिजर्व बैंक की डिप्टी गवर्नर सुश्री लीला सेठ के अलावा अन्य कई महिलाएँ हैं जो सार्वजनिक बैंकों से लेकर निजी औद्योगिक घरानों में प्रमुख वित्तीय एवं प्रशासनिक पद पर तैनात हैं। न्यायपालिका में भी महिलाओं ने अपना रुतबा बढ़ाया है। सानिया मिर्जा, अंजू बॉबी जार्ज, कानेरु हंपी, सानिया नेहवाल जैसी महिला खिलाड़ियों की प्रतिभा एवं ख्याति किसी से छुपी नहीं है। शीतल महाजन ने उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों से छलाँग लगाकर महिला सशक्तिकरण को नई ऊँचाई दी है।

भारत द्वारा सन् 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष मनाने के बाद से निरंतर महिला सशक्तिकरण पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है (महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए विशेष रूप से महिलाओं को समानता प्रदान करने के प्रयास किए गए

हैं। महिलाओं को कानून एवं संविधान द्वारा समान अधिकार प्राप्त हैं। महिलाओं को अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए किसी भी प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने की स्वतंत्रता है, किन्तु जब हम समाज की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि महिला सशक्तिकरण के प्रावधानों पर ईमानदारीपूर्वक क्रियान्वयन नहीं किया गया है। कुछ सकारात्मक प्रयासों से कुछ उपलब्धियाँ अवश्य हैं, किन्तु यह अभी पूर्ण नहीं है। आज भी पुरुष प्रधान समाज महिला सशक्तिकरण को अपने अधिकारों की कटौती के रूप में देख रहा है। सरकारों द्वारा समय-समय पर संविधान संशोधन एवं अधिनियम बनाकर नए अधिकार तो दिए जाते हैं किन्तु क्रियान्वयन के नाम पर तत्परता नहीं दिखाई जाती है। पुरुष एवं महिला की सामाजिक स्थिति में अंतर यों तो समूचे समाज में मौजूद है किन्तु ग्रामीण समाज में हालात बदतर हैं। शहरों में शिक्षा, समाज सुधार आंदोलनों और प्रचार-प्रसार के माध्यमों के प्रभाव से महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता बढ़ी है, जिससे महिलाओं का एक छोटा सा वर्ग लाभान्वित हुआ है, परन्तु व्यापकता में इस चेतना का असर काफी हल्का है। समाज में लिंग भेद जारी है, सामाजिक कुरीतियों जैसे बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, नशाखोरी आदि का सबसे ज्यादा कुप्रभाव महिलाओं पर पड़ा है जिससे महिलाएँ पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टि से दबी रहती हैं।

संविधान प्रदत्त समानता के अधिकार को वास्तविक बनाने के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है। सामाजिक परिदृश्य में महिलाओं के अधिकार पुरुषों की तुलना में कम हैं। महिलाओं के प्रति सामाजिक व्यवहार पक्षपात से परिपूर्ण है। सामाजिक व्यवहार के स्तर पर महिलाओं की स्थिति और भूमिका के प्रति समाज की अभिवृत्ति और दृष्टिकोण अभी तक संकीर्ण हैं। महिलाओं के विरुद्ध बढ़ते अपराध और हिंसा की घटनाएँ समाज में व्याकुलता को प्रकट करती हैं। सांस्कृतिक, जातिगत, वर्गगत, धार्मिक और पुनरुत्थानवादी शक्तियों द्वारा

उत्पन्न चुनौतियाँ महिलाओं के सम्मानजनक जीवन बिताने में बाधक है।

विश्व में फैली रुढ़िवादी कट्टरवादिता की भावना से भी महिला आंदोलन को खतरा है। सभी धार्मिक, जातीय सांस्कृतिक रुढ़िवादी मूलतः लैंगिक समानता को नहीं मानते हैं चाहे उनकी अभिवृत्ति कुछ भी क्यों न हो। संपत्ति से संबंधित मामलों में हाल में बने कानूनों और न्यायिक निर्णयों के बावजूद महिलाओं को प्रायः संपत्ति में हक नहीं दिया जाता है। उन्हें बलपूर्वक या भावनात्मक रूप से बाध्यकर अधिकार छोड़ने के लिए विवश किया जाता है। लिंगानुपात में निरंतर गिरावट महिलाओं के प्रति भेदभाव को दर्शाता है। हरियाणा में यह चिंताजनक स्थिति तक पहुँच गया है। अभी भी मात्र 54.16% महिलाएँ ही शिक्षित हो पायीं हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग के आंकड़ों के अनुसार प्रति 24 मिनट में एक महिला का यौन शोषण, प्रति 43 मिनट में एक अपहरण तथा प्रति 54 मिनट में एक बलात्कार हो रहा है। 102 मिनट के अन्तराल पर एक औरत दहेज की भेंट चढ़ जाती है। शासन के स्तर पर भी केवल स्थानीय निकायों में महिला आरक्षण की व्यवस्था हो पायी है। संसद एवं विधानसभाओं में इसके लिए अभी तक गंभीरतापूर्वक प्रयास नहीं किए गए हैं।

अर्थव्यवस्था के विस्तार, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण ने रोजगार के अवसरों में वृद्धि की है, लेकिन आंकड़ों से पता चलता है कि आर्थिक क्षेत्र में भी महिलाओं के रोजगार में बहुत कम परिवर्तन आया है। पुरुषों की तुलना में महिलाएँ कम वेतन वाले रोजगार या अवैतनिक कार्यों में कार्यरत हैं। महिलाओं द्वारा किया गया कार्य यद्यपि उत्पादक हैं लेकिन इसे मान्यता नहीं दी गई है। असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम वेतन दिया जाता है। संगठित क्षेत्र में 50% या उससे अधिक महिलाएँ अर्द्धकुशल कार्यों में लगी हैं उन्हें भी कम वेतन दिया जाता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ें दर्शाते हैं कि कृषि में कार्यरत कुल श्रम का 44% महिलाएँ हैं

फिर भी उन्हें वह स्थिति नहीं प्राप्त है जो कि होनी चाहिए।

समाज में घटने वाली अनेकों घटनाओं से सामाजिक प्रवृत्ति का पता चलता है। जिसमें इमराना मामला, गुडिया मामला, हरियाणा में पति-पत्नी को भाई-बहन बनाना, प्रेम विवाह के बाद परिवार द्वारा प्रताड़ित किया जाना, महिलाओं के अश्लील चित्र तथा मल्टी-मिडिया क्लिप तैयार कर ब्लैकमेल करने की घटनाएँ हमारे सामने आम हैं। इन सब परिस्थितियों से नारी की स्थिति का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आता है, जहाँ आज भी महिलाओं को अधिकार एवं सुविधाएँ कम प्राप्त हैं लेकिन श्रम का न्यूनतम पारिश्रमिक, शोषण और ज्यादा है।

अतः महिला सशक्तिकरण को मूर्तरूप देने के लिए आवश्यक है कि महिलाओं के वर्तमान सामाजिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक आदि पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए उनकी समस्याओं, कठिनाइयों और अपेक्षाओं को वास्तविक धरातल पर उतारकर निरीक्षण एवं नीति निर्धारण किया जाए। पुरुष-प्रधान समाज व शासन-प्रशासन में महिलाओं हेतु मात्र कानून या नए अधिकारों की स्थापना से सशक्तता नहीं दी जा सकती है बल्कि इसके लिए महिलाओं के प्रति संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक, उदार व व्यवहारिक बनाए जाने पर बल दिया जाना चाहिए। महिलाओं के पूर्ण सशक्तिकरण हेतु उन्हें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ सभी स्वतंत्रताओं को प्रदान करना पड़ेगा।

महिलाओं को जागरूक तथा साहसी बनाने में दो तत्व अधिक सार्थक भूमिका निभा सकते हैं। ये हैं- शिक्षा और आर्थिक स्वावलंबन। ये दोनों तत्व न केवल महिलाओं में स्वाभिमान और आत्मविश्वास पैदा करते हैं बल्कि उन्हें सशक्त एवं अधिकार संपन्न भी बनाते हैं। महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण की दिशा में एक जोरदार कदम राष्ट्रीय महिला कोष की स्थापना करके उठाया गया है। यह कोष बांग्लादेश

की ग्रामीण बैंक की सफलता से प्रेरित होकर स्थापित किया गया है।

महिलाओं को शिक्षित करना सशक्तिकरण का सबसे अधिक कारगर उपाय है। यह इस बात से भी साबित होती है कि देश के जिन राज्यों में महिला साक्षरता की दर ऊँची है वहाँ महिलाओं की स्थिति ज्यादा अच्छी है। सरकारों ने भी महसूस किया है कि शिक्षा महिला सशक्तिकरण के लिए अनिवार्य है, जिससे लड़कियों को शिक्षित करने की अवधारणा को व्यापक स्वीकृति मिली है। गावों में भी अधिकांश लोग अपनी बेटियों को शिक्षित करना चाहते हैं। इन परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप ही महिला साक्षरता दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। 2001 की जनगणना के अनुसार महिला साक्षरता की दर 54.16% हो गई है जो 1991 की दर से 14.87% अधिक है जबकि इसी दौरान पुरुष साक्षरता की दर में 11.72% की वृद्धि हुई है।

आर्थिक स्वावलंबन और शिक्षा के बाद सत्ता में भागीदारी महिला सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण कारक है। निर्णय लेने के स्तर पर महिलाओं की हिस्सेदारी के बिना उन्हें समानता और सम्मान देने का सपना पूरा नहीं हो सकता। 73वें और 74वें संविधान संशोधन के जरिए स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित करने का कदम कारगर सिद्ध हुआ है। महिलाओं के शिरकत से पंचायतें पहले से अधिक सक्रियता और ईमानदारी से काम करने लगी हैं और परिवार एवं समाज में इनका सम्मान तथा प्रभाव बढ़ा है। महिलाएँ अपनी योग्यता एवं आत्मविश्वास के बल पर चुनौतियों का मुकाबला कर रही हैं जिससे सशक्तिकरण की प्रक्रिया को निश्चित रूप से गति मिली है।

इस प्रकार अब समय आ गया है कि महिलाएँ थोपी गई संकीर्ण धारणाओं से बाहर निकल कंधा से कंधा मिलाकर आगे बढ़ें। हमें समानता आधारित सुव्यवस्थित

सामाजिक प्रणाली विकसित करनी होगी, जिसमें महिलाएँ भेदभाव रहित एवं उत्साहवर्द्धक वातावरण पाकर अपनी निहित क्षमताओं का उपयोग करके सशक्त बनें। स्वामी विवेकानंद के अनुसार 'स्त्रियों की दशा में सुधार न होने तक विश्व का कल्याण उसी प्रकार से असंभव है, जिस प्रकार पक्षी का एक पंख से उड़ना।' हमें सदैव यह स्मरण रहना चाहिए कि एक नारी ही एक सुयोग्य राष्ट्र के निर्माण का श्रेय प्राप्त कर सकती है। अतः महिलाओं के सशक्तिकरण हेतु अधिकारों के साथ-साथ उन्हें स्वस्थ मानवीय व्यवहार, समान अवसर व महत्व प्रदान किया जाए। उन्हें उत्साहवर्द्धक पारिवारिक, सामाजिक, एवं प्रशासनिक वातावरण सुलभ कराया जाए, तभी महिलाएँ अपने अधिकारों का पूर्ण लाभ उठा सकेंगी। इससे ही महिला उत्थान का राष्ट्रीय लक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा एवं समाज का एक महत्वपूर्ण अंग जो अब तब उपेक्षा का शिकार है सशक्त होकर राष्ट्रीय विकास में अपना बहुमुल्य योगदान कर सकेगा।

संदर्भ सूची:

- * Desai, Nerra(1996) – Womens Employment and their Familial Role in India.
- * Srinivas, M.N. (2002) – The Changing Position Of Indian Women.
- * Ghose, S.K. (1984) – Women in changing society.
- * Ashok and Harish (1991) – Women Power: Status of Women in India..
- * Anju, Malhohra (2002) – Measuring Women's Empowerment as a variable in International Development
- * Kurukshetra (2007) – March
- * नारंग, ए.एस-भारतीय शासन और राजनीति
- * शर्मा, सुभाष-भारतीय महिलाएँ: दशा एवं दिशाएँ
- * शर्मा, ब्रजकिशोर-भारत का संविधान एक परिचय, (तीसरा संस्करण)
- * कुरुक्षेत्र- दिसंबर 2003,जुलाई 2002
- * योजना-मार्च 2004, अक्टूबर 2008
- * भारत-2007

एमए, पीएचडी, राजनीतिशास्त्र

नक्सलवाद और मानवाधिकार

मुन्ना कुमार राम

1967 में नक्सलवाड़ी, फोंरीवाड़ी और फांसीदेवा थाना के अन्तर्गत चाय बागान के मजदूरों ने अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई जिसके चलते रक्तपात की घटना हुई ठीक उसी समय नक्सलवाड़ी नामक स्थान भारत में चर्चित होकर सामने आ गया। अब अत्याचार सहन कर रहे मजदूरों ने संघर्ष का विगुल फूँकना शुरू कर दिया तथा यहाँ के हर संघर्ष को नक्सली संघर्ष के रूप में देखा जाने लगा। वर्तमान काल में भी यहाँ के चाय बागानों में बिहार राज्य के निकटवर्ती स्थानों से, झारखण्ड राज्य के छोटानागपुर, संथालपरगना एवं मध्य प्रदेश के आदिवासी अंचलों से बड़ी तायदाद में आदिवासी मजदूर काम करने के लिए लाये जाते हैं, जो कि अंग्रेजी राज के समय से चला आ रहा है। इन मजदूरों का लम्बे समय से शोषण किया जाता रहा था। जिसका विस्फोट 1967 में हुआ। हालाँकि इसके पूर्व भी यहाँ पर बेनामी जमीनों पर कब्जा के लिए भूमिहीन लोगों ने कठोर संघर्ष किया था। यहाँ के जमींदारों से बहुत सी जमीन बेदखल कर भूमिहीनों ने जबरन कब्जा कर लिया एवं एक तरह से जमीन कब्जा करना यहाँ का रिवाज बन गया, परन्तु गरीबी का दंश झेल रहे यहाँ के शोषित वर्ग, शहर से आये असमी, बंगलादेशी शरणार्थियों से जमीन नामामात्र के मूल्य पर बेच दिये। यहाँ एक से दो एकड़ जमीन जोतने वाले किसानों की संख्या लगभग 42% है तथा आज आधे से अधिक लोग भूमिहीन हैं। सिंचाई की समस्या का उचित प्रबंध भी इस क्षेत्र में नहीं है, हालाँकि इन समस्याओं से निजात पाना कोई बड़ी बात नहीं है। चूँकि यहाँ की पहाड़ी नदियों के जरिये सिंचाई की व्यवस्था की जा सकती है, परन्तु इस समस्या को सुलझाने के लिए किसी भी तरह का प्रयास सरकार द्वारा नहीं किया गया, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ के किसानों, मजदूरों के मन में सरकार के प्रति सुलग रहे पलीतों का विस्फोट होना स्वाभाविक था; जो 1967 में भारत के किसान विद्रोह के रूप में समाने आया। नक्सलवादी विचारधारा मार्क्सवाद, लेनिनवाद, माओत्सेतुंग के विचारों से मिलती-जुलती है एवं संचालित होती है। समाज से साम्यवाद की दहलीज पर पहुँचने के पहले यह दर्शन जनवादी राज की आवश्यकता को अपना आधार मानता है। यह एक सामाजिक-राजनीतिक दर्शन है। जिससे साम्राज्यवादी समाज की कल्पना की जा सकती है। भारत के संदर्भ में इसी दर्शन को नक्सलवाद का दर्शन कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस ढंग से विद्रोह चूँकि, नक्सलवाड़ी से प्रारंभ हुए अतः इस वाद का नाम नक्सलवाद के नाम से जाना जाने लगा।

इन क्रांतिकारियों ने माओत्सेतुंग, हिटलर, मुसोलिनी इत्यादि क्रांतिकारियों की विचारधाराओं को उजागर कर अपनी क्रांति को आगे बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। 'राजसत्ता का जन्म बन्दूक की नली

से होता है, हम गरीबों का राज बनाकर रहेंगे।' ये नक्सली हथियारबंद संघर्ष को अपना मूल मंत्र मानते हैं। सी.पी.एम. के नेता चारू मजूमदार और कानू सान्याल के नेतृत्व में नक्सवाड़ी में किसानों ने सामंतवादी, जमींदारों और उनकी सत्ता के खिलाफ 1967 में सशस्त्र विद्रोह किया, जिसमें सामंती विचारधारा के कई जमींदार एवं उनके पाले हुये गुण्डे मौत की बली चढ़ गये, हालाँकि इस जंग में कई संघर्षशील किसान भी शहीद हो गये। इस किसान विद्रोह के आगोश में राजसत्ता की कील छिपी हुई थी जिसे चारू मजूमदार ने चिह्नित किया और उसे अपनी क्रांतिकारी लाइन दी। नक्सलवादी विचारधारा के लोग आज भी यह महसूस करते हैं कि वर्तमान सरकार सामंतवादी विचारधारा से ही संचालित होती है। अतः तत्कालीन राजसत्ता को हटाकर जनवादी सत्ता कायम करना ही पहला कार्य है। इसी को लक्ष्य मानकर नक्सवादी प्रवृत्तियाँ जारी है। नक्सलवाड़ी, फांसीदेवा और फोंरीवाड़ी के 290 वर्ग मील में फैले क्षेत्र के किसानों का संगठन बनाया गया। गाँव-गाँव में परम्परागत हथियारों से भरपूर दस्तों का गठन किया गया। करीब 18 हजार किसान बजाप्ता नामजद होकर संगठन में शामिल हुये। संगठन के द्वारा जोतदारों की जमीन कब्जा की जाने लगी। उससे सम्बंधित कागजातों को नष्ट किया जाने लगा, जिसके द्वारा जमींदार उन नाजायज जमीन को सही बताया करते थे तथा किसानों को ऋण के भार से जकड़े रहते थे। इतना ही नहीं इन सामंती प्रवृत्ति के लोगों के घरों में घुसकर उनके हथियार, धन आदि छिने लगे। इस तरह उन लोगों ने अपनी समानान्तर सरकार ही कायम कर ली।

1967-1970 के दशक तक बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, गुजरात, त्रिपुरा एवं मणिपुर में कई घटनाएँ हुईं जिनमें किसानों का संघर्ष स्पष्ट रूप से सामने आया। बिहार के मुसहरी, आंध्र प्रदेश के काकुलम, उत्तर प्रदेश के लखीमपुर आदि जगहों में नक्सलवाद का स्पष्ट विस्तार एवं विकास, एक मील का पत्थर साबित हुआ। 26 अक्टूबर, 1967 को चारू मजूमदार ने देशव्रती पत्रिका के माध्यम से लेख के द्वारा तमाम काम्युनिस्ट विचारधारा के क्रांतिकारियों का आह्वान किया कि संशोधनवाद और वर्ग सहयोग की राजनीति से संघर्ष करते हुए कृषि क्रांति का संचालन करते हुए एक राजनीतिक पार्टी का निर्माण करें जिसके प्रमुख उद्देश्य एवं दिशायेँ ये हैं-

1. यह संघर्ष उठ खड़ा हुआ है एकमात्र संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करने के लिए।
2. किसानों को उस सशस्त्र हमले के लिए निर्भर किया है, अपने हाथों से बनाये हथियार पर और उस हथियार के सहारे ही उन्होंने अग्नेय शास्त्र छिन लिये हैं।

3. संशोधनवाद के खिलाफ यह संघर्ष किया जा सकता है, एकमात्र चेरमैन माओ की विचारधारा के जरिये और आम किसानों द्वारा इस विचारधारा को ग्रहण कर और अमल में लाकर।
4. किसानों ने जमीन या फसल के लिए संघर्ष नहीं किया है, राजसत्ता के लिए।
5. किसानों ने सशस्त्र संघर्ष किया, क्रांतिकारी राजतंत्र के सशस्त्र हमले के खिलाफ।

1969 में सी.पी.आई.एम. से अलग होकर चारू मजूमदार ने सी.पी.आई.(एम.एल.) बनाई और फिर कन्हाई चटर्जी भी उसी में शामिल हुये। सन् 1969 में बिहार में प्रथम नक्सली संगठन सी.पी.आई. (एम.एल.) का प्रादुर्भाव मुजफ्फरपुर जिले के मुसहरी प्रखंड में हुआ, जिसकी स्थापना कामरेड सत्यनारायण सिंह ने की थी। 1968 से 71 के बीच मुजफ्फरपुर, भोजपुर, सिंहभूम तथा मुंगेर जिलों में नक्सली आन्दोलन फैल चुका था। उचित भौगोलिक पृष्ठभूमि मिलने के कारण तत्कालीन दक्षिण बिहार के पलामू, चतरा, धनबाद, गिरीडिह, लोहरदगा, राँची, हजारीबाग, गुमला इत्यादि जिले इनके चपेट में आ गये। जहाँ तक नक्सलवाद की कानून और व्यवस्था विषय के पहलू का सम्बंध है, मेरा मानना है कि यह कार्य केवल सरकार का है, क्योंकि नागरिकों के जीवन और संपत्ति की रक्षा करने का अधिकार और कर्तव्य उसी का है और उसके लिए आवश्यक साधन भी उसके ही पास है। मैं मानता हूँ कि खासकर एक कमजोर शासन के संदर्भ में, अगर नक्सलवाद के विरुद्ध कोई निजी संगठन उभरकर सामने आ जायेगा तो यह गृह युद्ध के रूप में भी बदल सकता है। अतः इसके कारण एवं समाधान के लिए समस्याओं का निराकरण जरूरी है। सन् 1970 में भोजपुर के एकवारी गाँव में मास्टर जगदीश महतो और राम नरेश राम ने सी.पी.आई. (एम.एल.) की नींव डाली। संदेश एवं सहार प्रखंड सोन नदी से सटा हुआ है तथा इसके उस पार पटना जिला प्रारंभ होता है।

अतः पटना जिले में नक्सलवाद का प्रादुर्भाव यहीं से हुआ।

सामाजिक असमानता के विरोध में संगठित नक्सलवाद अपनी हिंसक वारदातों को अंजाम देने के कारण अब राष्ट्रीय समस्या बन गया है। यह समझ से बाहर है। बहरहाल नेपाल की तराई से लेकर दक्षिणी प्रदेश आंध्र प्रदेश तक नक्सलियों का आतंक व्याप्त है। बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ में तो इनका साम्राज्य है। नक्सली हिंसा के कारण करोड़ों की राष्ट्रीय सम्पत्ति का नुकसान हो रहा है। इन दिनों आम जनता के साथ-साथ अर्द्धसैनिक बल के जवान भी नक्सलियों का शिकार हो रहे हैं। पूरे क्षेत्र में नक्सलवाद फैल गया है और सामानांतर सरकार की भूमिका निर्वाह कर रहा है। दुःखद स्थिति तो यह है कि सैकड़ों ग्रामीण इनकी मदद के लिये तैयार बैठे हैं और उनके आह्वान पर मर मिटने को तैयार हैं। पुलिस प्रशासन भी विवश है। नक्सलियों से टक्कर लेने के लिये ग्रामीणों से उलझना मानवाधिकार आयोग की नजर में एक अपराध है। सरेंआम ट्रेन अगवा कर लेना या किसी स्टेशन को अपने कब्जे में कर लेना, अतिसंवेदनशील जेल तोड़कर अपने सैकड़ों साथियों को मुक्त करा लेना, सैकड़ों जवानों की गस्ती दल पर हमला करना या फिर समाज को हिंसा के सहारे अपने अनुकूल चलाना, एक प्रकार से संप्रभुता को चुनौती है। इसे हल्के ढंग से लेना निःसंदेह देश की अस्मिता के लिये घातक है। नक्सलियों की बढ़ती वारदातों से राज्य सरकार अकेले नहीं निपट सकती। राज्य सरकार के पास वे साधन नहीं हैं, जिनसे नक्सली हमलों को प्रभावी ढंग से निपटा जा सके। आज स्थिति इतनी भयावह हो गई है कि नक्सली हमले में अर्द्धसैनिक बल के जवानों की आए दिन मौत हो रही है। नक्सली हिंसक वारदातों से जनजीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है और प्रशासन कुछ भी कर पाने में विफल रही है।

आए दिन वारदातें, आखिर ये क्या हो रहा है? और यही ऊहापोह की स्थिति का नक्सली फायदा उठाकर बच निकल जाते हैं। झारखंड, बिहार और छत्तीसगढ़ में स्थिति

बेकाबू है नक्सलियों से आम जनता बुरी तरह परेशान है। नक्सलियों से निपटने के लिये केन्द्र सरकार को कारगर कदम उठाने की जरूरत है। ताकि भटके युवक-युवतियों राष्ट्र की मुख्यधारा में फिर से वापस आ सकें। सरकार की जनकल्याणकारी नीतियों से भ्रष्टाचार भी नक्सलियों के लिए पोषक रहा है। उनके पास अत्याधुनिक हथियार, गोला-बारूद का पर्याप्त भंडार है जिसके सहारे वे कहीं भी, कभी भी बारूदी विस्फोट करने में सक्षम हैं। ग्रामीणों के वेश में शैतान रूपी नक्सलियों को पहचानना आसान नहीं है। उदाहरण के लिये बिहार में जमुई जिले में हजारों नक्सलियों ने रेलवे स्टेशन पर ताड़व किया और प्रशासन के सामने गाँव में चले गए। उस गाँव में केवल कुछ हजार लोग रहते हैं। ऐसे में यही माना जाना चाहिए कि सभी ग्रामीण या तो नक्सल हैं या उसके समर्थक, पर सरकार सभी के साथ सख्ती तो नहीं कर सकती। क्योंकि इनके वोट बैंक भी तो वही हैं और वह अगर कार्रवाई करती तो मानवाधिकार पर भी तो प्रश्न चिन्ह लगता।

वस्तुतः नक्सलवाद एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय चुनौती के रूप में उभरता जा रहा है, जहाँ इसका समाधान करना असंभव नहीं तो कठिन जरूर है। भ्रष्टाचार, गरीबी और अन्याय के मारे भटक रहे बेरोजगार युवक-युवतियों को इनके चंगुल से बचाना समय की माँग है। समाज की मुख्यधारा में लाने के लिये सख्ती के साथ-साथ कल्याणकारी योजनाएँ लागू करने की जरूरत है। विदेशों से मिल रही सहायता से नक्सलियों का जंजाल पूरे देश में फैलता जा रहा है और उसमें गरीब-बेबस युवक-युवतियाँ आसानी से फंस रहे हैं। वक्त की नजाकत है कि समाज के गरीब वर्ग के युवक-युवतियों को नक्सलवादी चंगुल से बचाया जाए। रोजगार सृजन कर, भ्रष्टाचार के मारे अन्याय को झेल रहे इन ग्रामीणों को मुख्यधारा में शामिल करना सरकार की प्राथमिकता होनी चाहिए। विदेशी सहायता पर चलने वाले शीर्ष नक्सलियों को कड़ी सजा देने की कोशिश होनी चाहिए। न्याय की विलम्बता से कट्टर नक्सली अपने को

सुरक्षित निकालने में सफल होते रहे हैं इसके लिये भी अलग त्वरित न्याय प्रदान करने की जरूरत है। जहाँ तक मानवाधिकार का सवाल है तो मानव सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ कीर्ति समझा जाता है। इसलिये मनुष्यों के समुचित विकास एवं उत्थान के लिये यह आवश्यक है कि उसे जन्म के उपरांत ही कुछ-मूलभूत अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाए और यह समाज तथा सरकार का पुनित कर्तव्य या उत्तरदायित्व होता कि वह प्रत्येक व्यक्ति को समाज में सम्मान और सुरक्षा के साथ-साथ जीवन व्यतीत करने के लिये सभी साधन और अवसर उपलब्ध कराये सामान्य अर्थों में मानवाधिकार से तात्पर्य होता है कि मानव चाहे वह किसी भी लिंग, वर्ग, जाति का हो। किसी देश, प्रदेश या क्षेत्र में रहता है। अथवा किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत का मानने वाला हो, गरीब हो या अमीर सभी को अपने समुचित विकास, संरक्षण और सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार जन्म के साथ ही मौलिक रूप से प्राप्त हो जाता है। भारत के संविधान में सभी देशवासियों को मौलिक अधिकारों को बिना किसी भेद-भाव के प्रदान किये जाने का प्रावधान भी इसी उद्देश्य से किया गया है। वास्तव में हमारे समाज में ऐसे समाज की परिकल्पना की गई है; जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समानता पर आधारित है। इसलिये इसमें लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के लिये प्रतिष्ठता को भी रेखांकित किया गया है। स्वतंत्रता और समानता ही वास्तविक अर्थों में हमारे संविधान की मूल आत्मा है जिन्हें मौलिक अधिकारों के रूप में विशेष रूप से संविधान में स्थान दिया गया है। मौलिक अधिकारों के वही तत्व मानव अधिकारों के श्रेणी में आते हैं जिनके अतिक्रमण पर कोई भी नागरिक इनके रक्षा के लिए न्यायपालिका का दरवाजा खटखटा सकता है।

मानवाधिकार के सम्बन्ध में यदि अपने भारतीय संस्कृति के अतीत को पलट कर देखें तो पता चलता है कि पुरातन समय में भी हमारे यहाँ मानवाधिकारों के संरक्षण

एवं सम्बर्द्धन के लिए पर्याप्त ध्यान दिया गया है। “ वसुधैव कुटुम्बकम्” का सार्वभौमिक सिद्धांत ही हमारी भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है। जिसमें न केवल अपने देश के लोग बल्कि संपूर्ण संसार के सभी प्राणियों को एक ही परिवार का सदस्य माना गया है। हमारे वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, नीति ग्रंथों में अनेकानेक स्थानों पर संसार के सभी प्रणालियों में समानता के सिद्धांत अपनाये संबंधी असंख्य दृष्टांत लिखते हैं। हमारे पौराणिक ग्रंथ यह प्रमाणित करते हैं कि वैदिक काल में हमारे यहाँ स्त्रियों एवं पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त रहे हैं। भारतीय संस्कृति में शासक को प्रजा के प्रति जबाबदेह बनाया गया है तथा प्रजा का प्रत्येक कष्ट दूर करना राजा का परम कर्तव्य निर्धारित किया गया है। निर्धारित नियमों और कानूनों के समक्ष समानता की अवधारणा भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है। हमारे धर्म ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं जिससे पूरी तरह यह सिद्ध होता है कि कि मानवाधिकार की परिकल्पना और व्यवहारिक जीवन में उसका समावेश भारतीय संस्कृति का आधारभूत गुण रहा है।

दुनिया के अन्य देशों में भी मानवधिकार संरक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है। मानवधिकार की संकल्पना विभिन्न देशों में विभिन्न नामों से प्रचलित रही है। उदाहरण के लिए इसे इंग्लैंड में मैग्नाकार्टा (डहदंबंतजं 1215) फ्रांस में मानवाधिकार घोषणा पत्र, तथा अमेरिका में पसस वित्पहीजे 1791 में के नाम से जाना जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संपूर्ण विश्व के प्रत्येक मानव के लिए मानवाधिकार घोषणा पत्र नागरिकों को मूलभूत अधिकार प्रदान करने के उद्देश्य से जारी किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को जारी मानवाधिकार घोषणा पत्र में सभी देशों के प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम 30 अधिकारों को प्रदान करने की घोषणा की गई जिन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है-

1. आर्थिक अधिकार:- जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र,

मकान, रोजगार और सामान्य जीवन स्तर सुनिश्चित करना है। इन सभी अधिकारों को सभी नागरिकों को उपलब्ध कराना संबंधित देशों के सरकारों का मूलभूत दायित्व बताया गया है।

2. राजनीतिक अधिकार:- दूसरी श्रेणी में राजनीतिक अधिकारों को सम्मिलित किया गया जिनके अन्तर्गत कानून के समक्ष सभी को बराबर माना गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत लोगों को अपना विचार व्यक्त करने का अधिकार, चुनाव और शासन में भागीदारी का अधिकार तथा संगठन बनाकर शांतिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता दी गई है।
3. सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार:- तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को रखा गया जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को शैक्षिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने की आजादी दी गयी है।

भारत में भी इसी आधार पर सभी देशवासियों को सहज और प्राकृतिक रूप से प्राप्त होने वाले इन सभी अधिकारों को उपलब्ध कराने के लिए व्यापक प्रयास किये गये। भारत के नागरिकों को संविधान के भाग-3 में प्राप्त मूल अधिकार भी मानवाधिकारों के उद्देश्य से अन्तर्निहित किए गये हैं। कहा जाता है। इन अधिकारों के अतिरिक्त संविधान के भाग-4 में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। जिसमें निर्देशों तथा अनुदेशों की लम्बी सूची शामिल की गई है। जिनके अनुसरण किये जाने की अपेक्षा केन्द्र तथा राज्य सरकारों से की जाती है। संविधान के ये दोनों भाग संविधान की अंतरात्मा हैं। वास्तव में मानव होने के नाते प्रत्येक नागरिक को भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सामान्य नागरिक सुविधाओं एवं सुरक्षा युक्त जीवन जीने का हक है। हमारा यह हक कोई छीन न सके इसका उत्तरदायित्व सरकार का है। वैसे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए

लोग न्यायालय की शरण ले सकते हैं। भारत में न्यायपालिका द्वारा मानवाधिकार की संरक्षण की दिशा में अपने उत्तरदायित्व का निर्वहण कई महत्वपूर्ण फैसले प्रदान करके किया गया है, लेकिन यह सत्य है कि सामान्यतः पीड़ित व्यक्ति को न्यायपालिका से न्याय मिलने में काफी समय लग जाता है तथा सभी व्यक्ति न्यायालय की शरण लेने में समर्थ भी नहीं होते। इसी कटु सत्य को ध्यान में रखते हुए मानवाधिकार हनन से संबंधित मामलों को त्वरित गति से विस्तारित करने के उद्देश्य से 1993 में भारत में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम बनाया गया, जिसमें मानवाधिकारों की संरक्षण के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राज्य मानवाधिकार आयोग के अतिरिक्त जिला मानवाधिकार आयोग के गठन की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम में की गई व्यवस्थाओं के अंतर्गत देश में अक्टूबर, 1993 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग गठित किया गया और विभिन्न राज्यों में राज्य मानवाधिकार आयोग का गठन कर इस व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया जाता रहा है।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 के अन्तर्गत बनाये गये प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन केन्द्र सरकार करेगा। इस आयोग में निम्नलिखित सदस्य होंगे—

- (क) अध्यक्ष या सभापति जो उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रहा हो,
- (ख) एक सदस्य जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश है, या रहा हो,
- (ग) एक सदस्य उच्चन्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रहा हो,
- (घ) दो सदस्यों की नियुक्ति ऐसे व्यक्तियों में से की जायेगी जिन्हें मानवाधिकार का ज्ञान व्यवहारिक हो,
- (ङ) इस अधिनियम की धारा 12 कृत्यों के निष्पादन हेतु निम्नलिखित व्यक्तियों को भी आयोग का सदस्य बनाया जायेगा—

- (i) राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का अध्यक्ष,
- (ii) राष्ट्रीय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के आयोगों का अध्यक्ष,
- (iii) राष्ट्रीय महिला आयोग का अध्यक्ष इत्यादि।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का एक महासचिव होगा जो आयोग का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होगा। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का मुख्यालय दिल्ली में होगा। इस आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी। अध्यक्ष का कार्यकाल 5 वर्ष या 70 वर्ष आयु प्राप्त करने तक (जो भी पहले होगा) उसे पांच वर्षों की दूसरी अवधि हेतु पुनः नियुक्त किया जा सकेगा। आयोग का अध्यक्ष या सदस्य अपने कार्यकाल के समापन के बाद केन्द्र या राज्य प्रशासन द्वारा किसी पद पर नियोजन हेतु अयोग्य होगा। अध्यक्ष या सदस्य अपने पद से हटाया भी जा सकता है। सिद्ध दुर्व्यवहार या अक्षमता के आधार पर राष्ट्रपति उसे उसके पद से हटा सकता है लेकिन हटाने से पूर्व उच्चतम न्यायालय की जांच रिपोर्ट अपेक्षित होगा। निम्न आधारों पर अध्यक्ष या सदस्य को हटाया जा सकेगा जैसे—अपने पद की अवधि में अपने कर्तव्यों के अतिरिक्त किसी रोजगार करने पर, मानसिकता या शारीरिक अयोग्यता के कारण कार्य करने में अयोग्य होने पर, किसी सक्षम न्यायालय द्वारा अस्वस्थ चरित्र का घोषित होने पर तथा किसी अपराध में सिद्ध दोष या मुजरिम होने तथा जेल जाने के कारण, जो राष्ट्रपति के मत में अनैतिक हो।

भारत में मानवाधिकार आयोग को न्यायालय का दर्जा दिया गया है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के जांच का क्षेत्र काफी विस्तृत रखा गया है। आयोग द्वारा स्वयं पहल करके अथवा किसी पीड़ित या अन्य व्यक्ति की याचिका पर जांच की जाती है। इसके अतिरिक्त मानवाधिकार के उल्लंघन के मामलों में लोक सेवकों की लापरवाही में मानवाधिकार हस्तक्षेप कर सकता है। पुलिस बलों द्वारा किये गये अत्याचार, पुलिस हिरासत में मौत, बलात्कार,

पर्यावरण संबंधी मुद्दे बाल एवं बंधुआ मजदूरी, क्रूर अमानवीय तथा असम्मानजनक बर्ताव की जांच को मानवाधिकार आयोग प्राथमिकता देती है। किसी भी प्रकार के मूल अधिकार का हनन और इससे जुड़े मुद्दों पर भी आयोग विशेष रूप से जांच करने को प्राथमिकता देता है। इसके अतिरिक्त महिलाओं, बच्चों, विकलांगों तथा अनुसूचित जाति और जनजाति अथवा समाज के कमजोर वर्गों के अत्याचार संबंधी मामलों को भी मानवाधिकार आयोग द्वारा विशेष महत्व दिया जाता है।

इस प्रकार मानवाधिकार आयोग का मुख्य उद्देश्य देश के सभी नागरिकों को मूलभूत अधिकारों की रक्षा करना तथा मानवाधिकार का उल्लंघन करने वाले को समुचित दंड दिलाकर भविष्य में इस प्रकार के कुकृत्यों के पुनरावृत्ति को रोकना है।

संदर्भ स्रोत:

1. समरेश, “नक्सलवादी का किसान आंदोलन” जनमत, किसान अंक, फरवरी 86
2. नवेन्दु श्रीकांत, बिहार सफर नक्सलवाद का, पाटलिपुत्र टाइम्स, 8 दिसम्बर 85
3. प्रकाश लुईस, जनशक्ति मध्य बिहार में नक्सवादी आन्दोलन
4. अशोक कुमार मंडल, बिहार में वामपंथी आन्दोलन का इतिहास 1939-1960
5. Kalyan Mukherjee, Rajendra Singh Yadav, Naxalism in the plains of Bihar.
6. Dr. Ajay Kr. Singh, Naxalism in Bihar.
7. “देशव्रती” 4 दिसम्बर, 1969
8. आमने-सामने, श्री जयप्रकाश नारायण
9. आमने-सामने जयप्रकाश नारायण, पृ-7
10. व्हीन ऑफ हिस्ट्री (इजिहास चक्र) डॉ॰ राममनोहर लोहिया
11. जातीय सेनाएँ-विकास कुमार झा, माया मई, 84
12. विशेष शाखा से प्राप्त जानकारी के अनुसार
13. हिन्दुस्तान-प्रेमचन्द्र कुमार मिश्रा- 10 सितम्बर-2001
14. प्रभात खबर, बिहार विशेषांक, 7 अप्रैल, शनिवार, 2001
15. हिन्दुस्तान, पटना, 22 जनवरी 1988
16. अजीत कुमार, बिहार में नक्सलवादी आन्दोलन का इतिहास।

यू०जी०सी० आर० जे० एन० एफ०
एस०, शोधार्थी, पटना विश्वविद्यालय,
राजनीति विज्ञान विभाग

राजनीतिक दलों में लोकतांत्रिक व्यवस्था: एक विवेचन

डॉ. शाहजाद अहमद अंसारी

परिचय:-

राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र अधिक लोकतांत्रिक, पारदर्शी और प्रभावी राजनीतिक दलों का विकास का काम करता है। ये सारे तत्व उम्मीदवार चयन, नेतृत्व चयन, नीति-निर्माण, सदस्यों में संबंध, लैंगिक, अल्पसंख्यक व युवा प्रतिनिधित्व में दर्शित होना जरूरी होता हैं। आंतरिक लोकतंत्र व पारदर्शिता के अभाव तथा पार्टी नेतृत्व के तानाशाही रवैया के कारण देश के लगभग सभी राजनीतिक दल कभी न कभी विखंडन का शिकार जरूर हुए हैं।

दलों के विखंडन में एक अन्य तत्व का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है, और वह है— नेताओं की स्वार्थपरकता। अतः बिखण्डन को रोकने के लिए हमेशा राजनीतिक पार्टियां आंतरिक लोकतंत्र पद्धति को अपनाते हैं।

उद्देश्य:-

प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य यह बतलाता है कि राजनीतिक पार्टियाँ किस प्रकार अपने दल में लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाती हैं तथा साथ ही साथ यह भी दर्शाना है कि यदि कोई नेता लोकतांत्रिक व्यवस्था को न ही मानता है और अपने को पार्टी से ऊँचा मानने लगता है तो किस प्रकार पार्टी विखण्डित हो जाता है।

विश्लेषण:-

लोकतांत्रिक सरकारों के संचालन में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। निर्वाचन में केवल प्रत्याशियों की बीच प्रतिस्पर्धा नहीं होती, बल्कि राजनीतिक दलों के बीच भी होती है। भारतीय संदर्भ में देखें तो तो वर्तमान युग में प्रत्याशियों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ गई है। इसके अतिरिक्त एक और प्रवृत्ति प्रमुखता से उभरी है और यह प्रवृत्ति—एक दलीय व्यवस्था का अत्यंत कमजोर होना और उसके स्थान पर गठबंधन दलीय व्यवस्था का मजबूती के साथ उभरना। अभी राष्ट्रीय स्तर पर दो सर्वप्रमुख राजनीतिक दल हैं, जिनके नेतृत्व में अनेक क्षेत्रीय स्तर के राजनीतिक दल गठबंधन कर सरकार एवं विपक्ष की भूमिका निभा रहे हैं। ये दोनों सर्वप्रमुख दल हैं,—

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारतीय जनता पार्टी। बाहर से देखने पर यह दो दलीय प्रणाली जैसा लगता है परंतु वास्तविक रूप से यहाँ बहुदलीय व्यवस्था मौजूद हैं। सन् 1967 के बाद से देश में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ती जा रही हैं आज देश में अनेक छोटे-छोटे परंतु मजबूत क्षेत्रीय दल मौजूद हैं, परन्तु इनमें आंतरिक लोकतंत्र का अभाव या आंतरिक परदर्शिता का अभाव दिखाई पड़ता है। वर्तमान में देश की प्रमुख विपक्षी पार्टी 'भाजपा' के अंदर जिस प्रकार के विखंडन के दर्शन हो रहे हैं वह सब पार्टी के आंतरिक लोकतंत्र के हास के परिचायक हैं। देश के राजनीतिक दल मिलकर यहां का लोकतांत्रिक शासन तो चला रहे हैं परंतु इनके अपने अंदर लोकतंत्र का घोर अभाव है।

राजनीतिक दलों द्वारा अपने नेता तथा अन्य पदाधिकारियों को चुनते समय ऊपरी तौर पर तो यह कहा जाता है कि पार्टी के सदस्यों ने उनका चुनाव किया है, परन्तु वास्तविक रूप से उनका चुनाव जाना पूर्व से निर्धारित होता है और समान्य कार्यकर्ता केवल दर्शक की भूमिका निभाने के अलावा कुछ नहीं कर पाते। चुनाव के समय उम्मीदवारों का नाम तय करने में उनमें किसी प्रकार का लोकतंत्र नहीं दिखाई पड़ता। देश के ज्यादातर राजनीतिक दल व्यक्ति आधारित हैं। बिना एक सुप्रीम पावर के वे बिखरने लगते हैं।

'भाजपा' के वर्तमान संकट को देखकर यह प्रतीत होता है कि इन दलों को हमेशा एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत रहती है, जो सुप्रीम पोजीशन पर हो और आंख मूंदकर उसे फॉलो किया जाए। यह पोजीशन खली होते ही अफरा-तफरी मच जाती है। भारतीय राजनीतिक दलों में यह विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है और यही पार्टियों में टूटने की वजह भी हैं। ऐसा प्रतीत है कि भाजपा में अटल बिहारी बाजपेयी के हटने के बाद कोई ऐसा नेता नहीं है जो सबको बांध सके। देश के ज्यादातर दलों के अंदर कोई अपनी निष्पक्ष राय जाहिर नहीं कर सकता। जो नेता दल की धारणा के विरुद्ध जाता है, उसे पार्टी से निकाल दिया जाता है। इनमें आंतरिक लोकतंत्र होता तो सभी को अपनी बात कहने का अवसर मिलता और जो भी फैसला लिया जाता वह सबका फैसला होता न कि किसी का थोपा हुआ। ऊपरी तौर पर लालू यादव, मुलायम सिंह

यादव आदि नेता स्वयं को सोशलिस्ट कहते हैं, लेकिन यदि एक ही पार्टी में सबके विचारों को बराबर की महत्ता मिलती तो इतनी पार्टियाँ बनती ही नहीं। राजनीतिक दल के रूप में पहले कांग्रेस में काफी हद तक लोकतंत्र था, परंतु इंदिरा गांधी के समय से यह खत्म हो गया और उसके बाद से अभी तक कांग्रेस को कई विभाजनों का सामना करना पड़ा। अमेरिका का उदाहरण लें तो ज्ञात होता है कि वहां प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार है कि वह स्वयं को किसी भी पार्टी या इंडिपेंडेंट के तौर पर रजिस्टर करवा सकता है। वहां की पार्टियाँ अपने ज्यादा से ज्यादा सदस्य बनाती हैं फिर यही लोग चुनाव करते हैं कि कौन उम्मीदवार होगा। पहले पार्टी के अंदर चुनाव होते हैं तब पार्टी के उम्मीदवार के बीच इलेक्शन होता है। तभी तो पहली बार सेनेटर बने बराक ओबामा पार्टी के भीतर हिलेरी क्लिंटन को हराकर चुनाव जीतते हैं और उसके बाद हिलेरी पूरे जोश से उनका प्रचार करती हैं। ब्रिटेन में भी ऐसा ही है। जर्मनी में तो पार्टियों में आंतरिक लोकतंत्र के लिए कानून भी है जिसके अंतर्गत प्रत्येक पार्टी में निर्वाचन आयोग जैसा एक निकाय होता है और वह पार्टी के अंदर चुनाव संचालित करता है। सन् 1999 में देश में भी लॉ कमीशन ने एक ड्राफ्ट तैयार कर ऐसे कानून की सिफारिश की थी परंतु इसे ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

भारतीय राजनीतिक दलों का विकास

- सन् 1885 में प्रथम बार आखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई।
- सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।
- भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना 1925 में हुई।

- सन् 1934 में कांग्रेस के अंदर एक समाजवादी दल का उद्भव हुआ।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम गैर कांग्रेसी दल भारतीय जनसंघ का उद्भव 1951 में हुआ।
- सन् 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डीएमके) की स्थापना हुई।
- सन् 1950 में भारतीय समाजवादी दल एवं किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना हुई।
- सन् 1964 में साम्यवादी दल का विभाजन भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी साम्यवादी दल के रूप में हुआ।
- सन् 1978 में कांग्रेस का विभाजन कांग्रेस (इंदिरा) तथा कांग्रेस (संजय) के रूप में हुआ।
- सन् 1977 में जनता पार्टी का गठन हुआ और 1979 में इसका विभाजन जनता पार्टी एवं जनता (एस) में हो गया।
- सन् 1987 में वी. पी. सिंह ने एक 'जन मोर्चा' का गठन किया। वर्ष 1988 में जन मोर्चा जनता पार्टी और 'लोक दल' ने मिलकर 'जनता दल' का गठन किया।
- सन् 1971 में डीएमके से अलग होकर ए. आई. डी. एम. के. (आल इंडिया द्रमुड़ मुनेत्र कड़गम) का निर्माण हुआ।
- सन् 1983 में आंध्र प्रदेश में 'तेलगुदेशम' 1985 में 'असम गण परिषद्' 1984 में 'बहुजन समाज पार्टी' की स्थापना हुई।

राजनीतिक दलों का पंजीकरण:-

राजनीतिक दलों का पंजीकरण निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाता है और पंजीकृत

राजनीतिक दलों ,चाहे वे राष्ट्रीय स्तर के हों या राज्य स्तर के, को आरक्षित चुनाव चिन्ह आवंटित किया जाता है। सन् 1952 में निर्वाचन आयोग ने 14 दलों को राष्ट्रीय दल के रूप में तथा 60 दलों को राज्यस्तरीय दल के रूप में मान्यता दी थी। 30 सितंबर 2000 को निर्वाचन आयोग द्वारा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी , जनता दल (यूनाइटेड) और जनता दल (सेक्युलर) का राष्ट्रीय राजनीतिक दल का दर्जा समाप्त कर दिया गया। बाद में 1 दिसंबर, 2000 को निर्वाचन आयोग द्वारा चुनाव चिन्ह (आरक्षण एवं आवंटन) आदेश 1968 में संशोधन की घोषणा करते हुए, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। अभी देश में 6 राष्ट्रीय राजनीतिक दल तथा 43 राज्यस्तरीय राजनीतिक दल विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त देश में पंजीकृत, लेकिन गैर मान्यता प्राप्त 854 राजनीतिक दल हैं।

राष्ट्रीय राजनीतिक दल:-

1 दिसंबर, 2006 को किए गए संशोधन के बाद किसी दल को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी राजनीतिक दल को लोकसभा या विधानसभा के चुनावों में 4 या अधिक राज्यों द्वारा कुल डाले गए वैध मतों का 6 प्रतिशत प्राप्त करने के साथ किसी राज्य या राज्यों से लोकसभा की कम से कम 4 सीटों पर विजयी होना जरूरी है या लोकसभा में उसे कम से कम 2 प्रतिशत सीटें अर्थात् 11 सीटें जीतना आवश्यक है, ये सीटें कम से कम तीन राज्यों से होनी चाहिए। निर्वाचन आयोग द्वारा जारी अधिसूचना के अनुसार यदि कोई राजनीतिक दल राष्ट्रीय दल के रूप में अपनी मान्यता खो देता है, तो उसे 6 वर्षों तक अपने पुराने चुनाव चिन्ह को रखने की छूट होगी। परंतु प्राप्त दलों को प्राप्त होने वाली विशेष सुविधाएं, चुनाव के वक्त आकाशवाणी या दूरदर्शन पर

निःशुल्क चुनाव प्रचार आदि प्रदान नहीं की जाएगी।

राज्य स्तरीय दल:-

राज्य स्तरीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी दल को निम्न शर्तों को पूरा करना आवश्यक है-

- राज्य में हुए लोकसभा अथवा विधानसभा के साधारण निर्वाचन में उस दल के उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मत, डाले गये कुल मतों का कम से कम 4 प्रतिशत हो।
- वह दल कम से कम पिछले पांच वर्षों से राजनीतिक क्रिया-कलापों में संलग्न हो।
- लोकसभा के लिए उसी राज्य से निर्वाचित प्रत्येक 25 सदस्यों के पीछे कम से कम एक सदस्य निर्वाचित हुआ हो तथा उस राज्य की विधानसभा के लिए प्रत्येक 30 सदस्य पर कम से कम एक सदस्य निर्वाचित हुआ हो।

1 दिसम्बर 2000 को निर्वाचन आयोग द्वारा चुनाव चिन्ह (आरक्षण एवं आवंटन) आदेश 1968 में किए गए संशोधन के अनुसार किसी राजनीतिक दल को राज्यस्तरीय मान्यता प्राप्त करने के लिए उस दल को लोकसभा या विधानसभा चुनाव में डाले गए वैध मतों का कम से कम 6 प्रतिशत मत प्राप्त करने के साथ-साथ राज्य विधानसभा की कम से कम दो सीटें जीतना आवश्यक है या विधानसभा की कुल सदस्य संख्या की कम से कम 3 प्रतिशत सीटें अथवा 3 सीटें जो भी अधिक हो, जीतना आवश्यक है।

निष्कर्ष एवं सुझाव:-

उपर्युक्त समस्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत हम कह सकते हैं कि देश के राजनीतिक दल मिलकर यहां का लोकतांत्रिक शासन

तो चला रहे हैं परंतु इनके अपने अंदर लोकतंत्र का घोर अभाव है। राजनीतिक दलों द्वारा अपने नेता तथा अन्य पदाधिकारियों को चुनते समय ऊपरी तौर पर तो यह कहा जाता है कि पार्टी के सदस्यों ने उनका चुनाव किया है, परन्तु वास्तविक रूप से उनका चुनाव जाना पूर्व से निर्धारित होता है और समान्य कार्यकर्ता केवल दर्शक की भूमिका निभाने के अलावा कुछ नहीं कर पाते। चुनाव के समय उम्मीदवारों का नाम तय करने में उनमें किसी प्रकार का लोकतंत्र नहीं दिखाई पड़ता। अतः राजनीतिक पार्टियों को लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए सर्वप्रथम सभी कार्यकर्ताओं को आपस में चुनाव कर टिकट का बँटवारा करना होगा। पार्टी में सभी का महत्वपूर्ण भूमिका होगी। जैसा की अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मन आदि में होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. ए.आर.ए. बाल-मोडर्न पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट।
2. सी.बी. गेना-तुलनात्मक राजनीति एवं संस्थाएँ।
3. जे.सी. जौहरी और सीमा जौहरी-आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धांत।
4. ओ.पी. गॉबा-राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा।
5. एस.एन. सईद-भारतीय राजनीति व्यवस्था।
6. एम.पी. सिंह एण्ड अनिल मिश्रा-कौलिसन पोलिटिक्स इन इण्डिया: प्रोबलम एण्ड प्रोस्पेक्टस।
7. एम. राय-एलेक्ट्रल पोलिटिक्स इन इण्डिया।
8. सुनिल कुमार-पोलिटिक्स एण्ड कौलिसन पोलिटिक्स।
9. योजना, कुरूक्षेत्र एवं दृष्टिकोण मंथन।
10. विभिन्न समाचार पत्र एवं पत्र-पत्रिकाएँ।

पी.एच.डी. (राजनीति विज्ञान विभाग), पटना विश्वविद्यालय, पटना

राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

- भारत का संविधान
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था: दशा एवं दिशा
- भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे
- राजनीति के प्रमुख वाद
- दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया
- नौकरशाही एवं विकास
- भूमंडलीकरण : विविध आयाम
- प्रजातंत्र
- धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता
- सामाजिक संरचना
- राजनीतिक वादों का अध्ययन
- भारतीय शासन एवं राजनीति
- भारत में सामाजिक आन्दोलन
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

समकालीन विश्व में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता: एक समीक्षात्मक अध्ययन

सुशील कुमार मंडल

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के धरातल पर गुट निरपेक्षता आन्दोलन का जन्म शीत युद्ध के विरुद्ध स्वतंत्र विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में हुआ। चूँकि एशिया तथा अफ्रीका के नवस्वतंत्र राष्ट्र लम्बे औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए थे। अतः इनका लक्ष्य हर परिस्थिति में अपना आर्थिक विकास व राष्ट्रीय हितों की पूर्ति तथा शान्ति एवं सुरक्षा का वातावरण को तैयार करना ज्यादा महत्वपूर्ण था। यद्यपि यह शीत युद्ध तथा सैन्य सन्धियों से दूर रहकर ही संभव था। गुट निरपेक्षता वैसे हर सैन्य तथा राजनीतिक गठबन्धन का विरोध करता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तनाव बढ़ता हो। किन्तु गुटनिरपेक्षता अपने सकारात्मक अर्थ में एक गतिशील अवधारणा है इसे तटस्थता एवं अलगाववाद के रूप में नहीं समझना चाहिए। यह शांतिपूर्ण सह अस्तित्व एवं अहस्तक्षेप में विश्वास करने वाली नीति है जो कि किसी राज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप का विरोधी तथा विश्व शांति के लिए परस्पर सहयोग एवं विश्वास का पक्ष पोषण करने वाली अवधारणा है।

वैसे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का औपचारिक उद्घाटन सन् 1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में हुआ। इस सम्मेलन में उन 25 देशों ने भाग लिया जो बिना किसी संदेह के गुटनिरपेक्षता पर आचरण व्यक्त किये, जिनका मुख्य पाँच आधार निम्न हैं—

1. सदस्य राष्ट्र स्वतंत्र विदेश नीति पर चलता हो,
2. उपनिवेशवाद का विरोध करना,
3. सदस्य राष्ट्र किसी सैनिक गुट में शामिल न हो
4. सदस्य राष्ट्र किसी भी महाशक्ति के साथ कोई द्विपक्षीय संधि न किया हो
5. सदस्य राष्ट्र ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति न दी हो।

यद्यपि ये पाँचो आधार शीतयुद्ध के गर्भ में उत्पन्न लिया था। किन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि आज जबकि शीत युद्ध पूरी तरह से समाप्त हो चुका है, सोवियत संघ विभाजित हो गया, अमेरिका का एकछत्र साम्राज्य पूरे विश्व पर स्थापित हो गया है। अतः इस परिवर्तित परिदृश्य में गुटनिरपेक्षता की क्या आवश्यकता है। यह सवाल गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के डरबन (1998) शिखर सम्मेलन में भी उठाया गया और इसकी प्रासंगिकता पर तर्कसंगत विचार किया गया।

चूँकि यदि हम गुट निरपेक्षता के सिद्धांतों पर गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गुट निरपेक्ष आन्दोलन गरीब राष्ट्रों के हितों की बागडोर संभाले हुए है। वे सारे मुद्दों जिसके लिए यह आन्दोलन चलाया गया था जैसे— आर्थिक विकास, उपनिवेशवाद, निःशस्त्रीकरण का विरोध करना आदि पहले से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है।

चूँकि विद्वानों के बीच यह सर्व सम्मति है कि गुट निरपेक्षता आर्थिक व व्यापारिक क्षेत्र में प्रासंगिक है। हालाँकि विद्वानों का एक तबका यह मानता है कि भू-राज-नैतिक क्षेत्र में 'छाड' की प्रासंगिकता कम ही है। आर्थिक व व्यापारिक क्षेत्र में 'छाड' की प्रासंगिकता जीवंत है खासकर निम्न पृष्ठ भूमि में देखी जा सकती है—

1. शीतयुद्ध की समाप्ति तथा सोवियत संघ के विघटन के बावजूद भी आर्थिक क्षेत्र में एक ध्रुवीय नहीं बल्कि बहुध्रुवीय व्यवस्था का विकास हो रहा है। ऐसी स्थिति में एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के राष्ट्रों को नवीन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। विश्व बाजार में 'डॉलर बनाम येन' 'डॉलर बनाम मार्क' तथा 'डॉलर बनाम यूरो' की प्रतिस्पर्धा तीव्र हो रही है। ऐसी स्थिति में तृतीय विश्व के राष्ट्रों के आर्थिक हितों का संरचना सुनिश्चित करने हेतु छाड की प्रासंगिकता नितांत आवश्यक है, ताकि तृतीय विश्व के राष्ट्रों का अस्तित्व अक्षुण्ण रूप से कायम रह सके।
2. आर्थिक दृष्टिकोण से IMF एवं विश्व बैंक से आर्थिक सहयोग लेने के क्रम में तृतीय विश्व के राष्ट्रों का रूस जैसे राष्ट्रों से प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है जो कि एक नवीन चुनौति के रूप में है।
3. नव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को मूर्त रूप देने, 'नार्थ साउथ वार्ता' 'साउथ-साउथ' वार्ता को सशक्त करने हेतु छाड की अहम भूमिका अपेक्षित है। खासकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहभागिता हेतु G-15, G-77 की भूमिका इस बाबत उल्लेखनीय रही है।
4. भू-मण्डलीकरण, उदारिकरण, नीजिकरण के पृष्ठभूमि में तृतीय विश्व के राष्ट्रों पर व्यापारिक दबाव कम करने हेतु तथा वैचारिक हितों के संरक्षण हेतु छाड जैसे सशक्त संगठन की आवश्यकता है।

5. वैश्वीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की शिकंजा तृतीय विश्व के राष्ट्रों पर निरंतर कसा जा रहा है जिसकी पृष्ठभूमि के तहत तृतीय विश्व के राष्ट्रों की लघु एवं कुटीर उद्योग अधर में लटकता हुआ नजर आ रहा है। इन कुटीर उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने हेतु छाड जैसे सशक्त संगठन की अहमियत बढ़ रही है। चूकि नॉर्थ, साउथ के राष्ट्रों के संसाधनों व बाजारों को दोहन करने हेतु हर मुमकिन पहल कर रहा है। अनेक विशेषज्ञों की यह राय है कि नव उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति निरंतर तीव्र हो रही है। जिससे निपटने के लिए तृतीय विश्व के राष्ट्रों को छाड को सशक्त करने की पहल अपेक्षित है।
6. समसामयिक संदर्भ में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति, आयाम, आकार निरंतर बढ़ रहा है। इसके तहत नॉर्थ के राष्ट्र साउथ के राष्ट्रों का सांस्कृतिक दोहन व शोषण करने की प्रवृत्ति दिख रहा है जिसकी पृष्ठभूमि में साउथ के राष्ट्रों के हितों के संरक्षण हेतु NAM की प्रासंगिकता अभी भी कायम है।
7. पश्चिम यूरोप में यूरोपियन यूनियन की अभ्युदय के पश्चात यूरोपियन यूनियन का तृतीय विश्व के राष्ट्रों के साथ व्यापारिक संबंध किस प्रकार लाभकारी साबित होगा इस बाबत छाड द्वारा पहल किया जाना अपेक्षित है।
8. विकसित राष्ट्र साउथ का दोहन शोषण संसाधन के स्तर पर भी कर रहा है। आमतौर पर अत्यधिक परिष्कृत तकनीक एवं उत्कृष्ट मानव संसाधन की विकसित राष्ट्रों के ही है। कुछेक अपवाद को छोड़कर जिसके जरिये विकसित राष्ट्र दोहन व शोषण कर रहे हैं। अत्यधिक

उत्कृष्ट तकनीक की आपूर्ति विकसित राष्ट्र साउथ को सुनिश्चित कर सके इस हेतु NAM की भूमिका अपेक्षित है। कुछ विशेषज्ञों का यह मानना है कि विकसित राष्ट्र द्वैयम दर्जे की तकनीक के जरिये विकासशील राष्ट्रों को एक 'टेस्ट ग्राउन्ड' के रूप में प्रयुक्त कर रहा है।

9. विश्व स्तर पर आतंकवाद की गतिविधियों में निरंतर वृद्धि हो रही है। भले ही इसके आयाम, स्वरूप में बदलाव आया है लेकिन फिर भी तीव्रता कायम है। अमेरिका का आतंकवाद के संदर्भ में दोहरा मानदण्ड मुखरित होता है। एशियाई, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका जैसे कमजोर राष्ट्रों पर आतंकवाद का अमेरिका द्वारा दोहरा मानदण्ड अपनाया जा रहा है तथा इसके निवारण के लिए नाम की भूमिका अपेक्षित है।
10. मानवाधिकार का उल्लंघन के मामले में भी बड़े समृद्धशाली राष्ट्रों द्वारा तृतीय विश्व के 6 राष्ट्रों के मामलों को अपने विदेश नीति के उपकरण के रूप में प्रयुक्त कर रहा है।
11. पर्यावरण संकट मुद्दे के रूप में खासकर सतत विकास निरंतर विश्व स्तर पर तीव्र हो रही है। यानी विकास हो परन्तु पर्यावरण के कीमत पर न हो। तृतीय विश्व के मुताबिक विकसित राष्ट्र प्रदूषण की कीमत अदा करे क्योंकि वही पहले प्रदूषण विश्व में फैलाये हैं अतः इसको लागू कराने हेतु छाड की भूमिका नितांत आवश्यक है।
12. अमेरिका की विश्व पुलिस की भूमिका निरंतर बढ़ रही है। यानी अमेरिका के हस्तक्षेपकारी नीतियों की तीव्रता बढ़ रही है। खासकर खाड़ी युद्ध-II की पृष्ठभूमि में स्पष्ट झलकता है जिससे यह इंकार नहीं

किया जा सकता की एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के छोटे-छोटे राष्ट्रों की सम्प्रभुता अधर में लटक रही है। खासकर छोटे राष्ट्र अमेरिका के बढ़ते हस्तक्षेपकारी नीतियों से सशंकित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में छाड जैसे संगठन की आवश्यकता तृतीय विश्व के राष्ट्रों के लिए अनिवार्य हो जाता है ताकि भविष्य में फिर से इराक जैसी घटनाओं की पुनवृत्ति न हो सके।

चूकि खाड़ी युद्ध-II की घटनाओं से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ मूक दर्शक के रूप में बन रहा और कोई ठोस पहल न कर सका। ऐसी स्थिति में तृतीय विश्व के राष्ट्र निरंतर उभरती हुई नई प्रवृत्ति से सशंकित हो रहे हैं। आज युद्ध की प्रकृति व आयाम बदल रहे हैं अब पहले की तरह परम्परावादी युद्ध के बजाय सम्पूर्ण विध्वंसकारी युद्ध की प्रवृत्ति पनप रही है और ऐसी स्थिति में छाड अहिंसात्मक परमाणुविहीन संगठन की भूमिका अदा करने में सक्षम हो सकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि समसामयिक पृष्ठभूमि में छाड आज भी प्रासंगिक है और जब तक तृतीय विश्व के राष्ट्र स्वतंत्र विदेश नीति का पालन करते रहेंगे तब तक छाड की प्रासंगिकता विश्व पटल पर झलकती रहेगी।

सन्दर्भ ग्रंथ सूचि:-

1. महेन्द्र कुमार-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (शिवबालक अग्रवाल, वर्ष एण्ड कम्पनी, आगरा)
2. डा. डी. सी. चतुर्वेदी-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ
3. पन्त एवं जैन-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (मीनाक्षी, आगरा-2007)
4. यू. आर. घई-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
5. शांति देवनाला-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
6. खन्ना एवं अरोड़ा-भारत की विदेश नीति
7. प्रकाशचन्द्र प्रेम अरोड़ा-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (कॉसमॉस पब्लिकेशन, नई दिल्ली-2001)

शोधप्रज्ञ, राजनीतिशास्त्र विभाग,
यू. जी. सी. नेट,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

महिला सशक्तिकरण—दशा और दिशा

डॉ. अरविन्द कुमार,

महिला सशक्तिकरण वर्तमान भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व के लिए विचारणीय एक जरूरी विषय है। जरूरी इसलिए क्योंकि महिलाओं के सशक्तिकरण का प्रश्न ही सामाजिक न्याय और मानवाधिकार-दर्शन पर आधारित है। आज विश्व के लगभग सभी समाजों में महिलाओं का स्तर पुरुषों के समान नहीं है। समाज में नारी की स्थिति जितनी मजबूत होगी, समाज उतना ही विकसित और प्रभावपूर्ण होगा। 'नारद पुराण' ग्रंथों में भी लिखा गया है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता'

जब हम महिला सशक्तिकरण की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया से है, जिसमें महिलाओं को सर्वसंपन्न एवं विकसित होने हेतु पर्याप्त अवसर मिल सके। उन्हें पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक शारीरिक मानसिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में निर्णय लेने के प्रति होने वाले भेदभाव को समाप्त कर उन्हें परंपरागत प्रकृति के आवरण से बाहर निकालकर उन्हें आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी बनाना है।

यदि समाज में नारी भयमुक्त हो, उनकी इच्छा-अनिच्छा की परिवार एवं समाज के स्तर पर कद्र की जाए, उसे अपना सही हक (अधिकार) मिले। देश के प्रगति में उसका पर्याप्त योगदान हो तो हम कह सकेंगे, कि महिलाएं सशक्त हो गई हैं। सबलता और सुयोग्यता ही नारी-सशक्तिकरण की पहचान है।

यदि हम महिलाओं की स्थिति को भारतीय संदर्भ में देखते हैं तो पाते हैं कि प्राचीन काल में महिलाओं को आदरणीय स्थान प्राप्त था। ऋग्वेदिक काल में उन्हें शिक्षा प्राप्त करते तथा जनेऊ पहनने का अधिकार था। प्राचीनकाल में अश्वघोषा लोवांन्मुद्रा मैग्नीगीगार्गी, जैसे अनेक विदुषी महिलाओं की चर्चा मिलती है। लेकिन कालांतर में महिलाओं की स्थिति में गिरावट आने लगी और आज की स्थिति यह हो गई है कि हम महिला सशक्तिकरण की बात कर रहे हैं।

महिलाओं की दशा

कहा जाता है कि समाज रूपी गाड़ी को चलाने के लिए महिला और पुरुष रूपी पहिए की आवश्यकता होती है। हमारे देश में 70 प्रतिशत लोग गांव में रहते हैं, अतः गांवों को देश के विकास की धुरी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उसी तरह गांवों के सर्वांगीण विकास में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

अतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था की धुरी महिलाएं हैं। परिवार हो या खेत, खलियान हर क्षेत्र में महिलाएं पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही हैं मगर महिलाओं द्वारा किए गए कार्यों को केवल पारिवारिक दायित्व समझा जाता है, जबकि पुरुषों द्वारा किए गए कार्यों को व्यवसाय माना जाता है, ऐसी असमानता क्यों? खेती कार्यों में महिलाओं का योगदान 55 प्रतिशत से भी अधिक है। यही नहीं कुछ कृषि कार्यों को महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्रभावी एवं अच्छे ढंग से संपन्न करती हैं जैसे धान की रोपाई, निराई, गुड़ाई एवं पशुपालन आदि।

कृषि कार्यों में महिलाओं के अहम योगदान को रेखांकित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई एल ओ) ने भी यह संकेत दिया है कि अन्न उत्पादन-क्षेत्र में महिलाओं का योगदान 50 प्रतिशत है तथा खाद-निष्पादन का शत-प्रतिशत कार्य महिलाएं ही करती हैं, फिर भी महिलाओं को किसान का दर्जा प्राप्त नहीं है। आज विश्व में देश का दुग्ध उत्पादन की दृष्टि से प्रथम स्थान है। इस उपलब्धि का श्रेय भी काफी हद तक महिलाओं को ही जाता है। देश की लगभग साढ़े सात करोड़ महिलाएं पशुपालन से संबंधित विविध कार्यों को करती हैं। देश फल एवं सब्जी के उत्पादन के संदर्भ में भी विश्व में प्रमुख स्थान बना पाया है। अतः समाज एवं देश के विकास के लिए यह आवश्यक है कि महिलाओं की स्थिति में सुधार लाया जाए। स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है "स्त्रियों की दशा में सुधार न होने तक विश्व का कल्याण उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार पक्षी का एक पंख से उड़ना।

महिला सशक्तिकरण की दिशा में विश्व स्तर पर प्रथम संस्थागत प्रयास की शुरुआत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 8 मार्च 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस मनाने से हुई। 1974 को महिला वर्ष तथा 1975-1985 के दशक को महिला दशक के रूप में मनाया गया। विश्व स्तरीय महिलाओं के लिए संपन्न बीजिंग घोषणा पत्र एवं जकार्ता घोषणा पत्र ने महिला सशक्तिकरण को नया आयाम दिया। बीजिंग सम्मेलन में कहा गया था—“विश्व को महिलाओं की दृष्टि से देखो।”

भारत में महिला सशक्तिकरण का प्राथमिक उद्देश्य महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारकर उन्हें मुख्य धारा में लाना एवं उनमें निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना है। महिलाओं के खिलाफ होने वाले सभी तरह के भेदभाव एवं हिंसा

को दूर करने के लिए कानूनी तंत्र को मजबूत बनाना है।

आजादी के बाद भारत के संविधान निर्माताओं ने महिलाओं की दशा में सुधार के लिए अनेक संवैधानिक प्रावधान किए हैं। महिला अधिकार को सुदृढ़ता एवं स्थायित्व प्रदान करने हेतु भारत में सन् 1985 ई. में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के तहत महिला एवं बाल विकास विभाग तथा 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। सन् 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित कर महिला नीति तैयार की गई। महिलाओं को यौन शोषण एवं उत्पीड़न से बचाने के लिए अनेक कानून बनाए गये हैं जैसे घरेलू उत्पीड़न से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम 2005, यौन उत्पीड़न से महिलाओं का संरक्षण विधेयक 2005, दहेज प्रतिवेध अधिनियम 1961 इत्यादि।

पहली बार भारत सरकार के योजना आयोग ने नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के घोषित नौ प्राथमिक लक्ष्यों में से एक महिला सशक्तिकरण को रखा था। दसवीं पंचवर्षीय योजना में महिला सशक्तिकरण के लिए तिहरी राजनीति को अपनाया गया था। ये थे—सामाजिक सशक्तिकरण, आर्थिक सशक्तिकरण और महिलाओं के लिए समान न्याय। 11वीं पंचवर्षीय योजना में महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए समावेशी योजना में महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए समावेशी विकास, सामाजिक और राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए समावेशी विकास, सामाजिक और राजनीतिक सशक्तिकरण के साथ-साथ स्त्री के लिए समान न्याय को प्रमुखता दी गई है।

महिलाओं के राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए सर्वप्रथम अप्रैल 1993 में 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन द्वारा त्रिस्तरीय पंचायतीराज एवं स्थानीय निकायों में महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण तथा

21वीं सदी में बिहार सहित कुछ राज्यों द्वारा यह 50 प्रतिशत किया जाना, एक महत्वपूर्ण कदम है। उसी तरह लोक सभा एवं राज्य विधान सभा में भी महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण तथा सरकारी नौकरियों में उनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रयास किया जा रहा है। उसके तहत सरकार ने फैसला किया है कि केंद्रीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में महिलाएं बिना शुल्क दिए शामिल हो सकेंगी।

महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक उत्थान तथा अधिकारिता के लिए सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रमों का कार्यान्वयन किया जा रहा है। जैसे—स्वयं शिक्षा योजना, व्यवसाय योजना, स्वास्थ्य सखी योजना राष्ट्रीय पोषाहार मिशन योजना, जननी सुरक्षा योजना, वन्दे मातरम योजना इत्यादि केंद्र प्रायोजित प्रमुख योजनाएं हैं।

इसी प्रकार विभिन्न राज्यों द्वारा कन्या विद्या धन योजना (उत्तर प्रदेश), पंचधारा योजना (मध्य प्रदेश), राज लक्ष्मी योजना (राजस्थान), अपना बेटा अपना धन योजना (हरियाणा), कामधेनु योजना (महाराष्ट्र), साइकिल योजना (बिहार), इत्यादि योजनाएं संचालित की जा रही हैं।

पिछले तीन दशकों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता को बढ़ाने वाले कदमों या उपायों के जरिये महिलाओं की पहुंच कला-साहित्य राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में बढ़ी है, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इन क्षेत्रों में जिस अनुपात में उन्हें अपनी उपस्थिति दर्ज करनी चाहिए थी, उतनी संभव नहीं हो पायी है। वैश्विक स्तर पर महिलाएं अभी भी निर्वाचित संसदीय सीटों में से केवल 15.6 प्रतिशत पर ही काबिज हैं। प्रौढ़ निरक्षरों में दो तिहाई तथा विश्व के निर्धनों में 70 प्रतिशत महिलाएं हैं।

भारत में अनेक सरकारी और गैर सरकारी

प्रयासों के बावजूद महिला सशक्तिकरण के लिए तय लक्ष्यों और देश में महिलाओं की वास्तविक स्थिति के बीच अभी भी बहुत अंतर है। अभी तक मात्र 54.16 प्रतिशत महिलाएं साक्षर हो पायी हैं। भारत की राष्ट्रीय आय में महिलाओं का योगदान केवल 10 प्रतिशत है। राष्ट्रीय महिला आयोग के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार प्रति 14 मिनट में एक महिला यौन शोषण, 43 मिनट में अपहरण, कुछ मिनट में बलात्कार और प्रति 102 में दहेज उत्पीड़न का शिकार हो रही हैं।

महिलाओं के प्रति अपमान जनक और अमानवीय व्यवहार की घटनाएं आये दिन होती रहती हैं। कुछ महीने पूर्व 23 जुलाई 2009 को पटना के एक्जीबिशन रोड पर एक युवती को सरेआम निर्वस्त्र कर दिये जाने की घटना इसका जीता जागता उदाहरण है। इससे स्पष्टतया कहा जा सकता है कि कानूनों की जानकारी नहीं होना और साहस की कमी से महिलाओं को सुरक्षा का लाभ नहीं मिल रहा है।

इससे स्पष्ट है कि महिलाओं को बराबरी का दर्जा हासिल करने के लिए अभी भी बहुत लंबा फासला तय करना है। लिंग आधारित भेदभाव समाज में बहुत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अतः महिला सशक्तिकरण हेतु निम्न बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

1. भ्रूण हत्या पर रोक
2. मातृ-मृत्यु दर में कमी
3. प्रजननता पर महिला का नियंत्रण
4. लिंग अनुपात में समानता
5. घरेलू हिंसा एवं शोषण पर रोक
6. शिक्षा का विकास।

उपर्युक्त बातों के लिए सरकार द्वारा कई कानून बनाए गये हैं लेकिन सिर्फ कानून बना देने से ही समस्या का समाधान संभव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है

कि कानूनों एवं योजनाओं को व्यवहार में लाया जाए एवं उसे प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाए। इसके लिए केंद्र सरकार के साथ-साथ राज्य सरकार को भी चाहिए कि इस ओर ध्यान दें।

प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने अंतर्राष्ट्रीय साक्षरता दिवस पर साक्षर भारत मिशन की शुरुआत करने की घोषणा की है, जिसमें कहा है कि साक्षर भारत मिशन का लक्ष्य अगले पांच साल में 6 करोड़ महिलाओं सहित सात करोड़ लोगों को साक्षर बनाना है। उन्होंने यह भी कहा है कि महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए केंद्र सरकार द्वारा इन्दिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना भी आरंभ की गई है जिसका उद्देश्य समाज में गरीब और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की गर्भवती महिलाओं को सहयोग देना है। शीघ्र ही राष्ट्रीय महिला

सशक्तिकरण मिशन का गठन किया जायेगा। साथ ही राष्ट्रीय महिला कोष भी पुनर्गठित होगा।

इस प्रकार अधिकारिता में बुनियादी बदलाव की शुरुआत हो चुकी है। राजनीतिक सशक्तिकरण की दृष्टि से भारत में महिलाओं का स्थान 128 देशों में 21वें स्थान पर है, लेकिन आर्थिक भागीदारी, शैक्षणिक मामलों एवं स्वास्थ्य दृष्टि से भारतीय महिलाओं की पूरे विश्व में रैंकिंग क्रमशः 122, 116, एवं 126 है। यदि संपूर्ण भारत में वास्तविक रूप से हम महिलाओं की स्थिति सुधारना चाहते हैं तो इसके लिए राजनीति के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में भी महिलाओं को आगे लाना होगा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महिला सशक्तिकरण वर्तमान युग की एक बड़ी आवश्यकता है। विश्व की लगभग

आधी-आबादी महिलाओं की है और समाज की इस महत्वपूर्ण धुरी को बिना सशक्त बनाये न तो समानता की बात संभव है और न ही सामाजिक न्याय की। केवल सरकारी योजना एवं कानून बना देने से ही संभव नहीं है। बल्कि इसके लिए यह अति आवश्यक है कि लोगों में जागरूकता लाई जाए तथा नैतिकता को ऊपर उठाया जाए। सरकारी योजनाओं एवं कानूनों से सतही ही परिवर्तन भले ही लाया जा सकता है लेकिन क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए परिवार के अंदर महिलाओं के प्रति संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक उदार एवं व्यावहारिक बनाने पर बल दिया जाना एवं मानसिकता में बदलाव लाना नितांत आवश्यक है।

व्याख्याता, राजनीति विज्ञान
विभाग, बीरचन्द्र पटेल स्मारक
महाविद्यालय, देसरी (वैशाली) बिहार

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय साहित्य

कमअकें	150.00	बिराज बहू	100.00
विप्रदास	200.00	गृहदाह	225.00
चरित्रहीन	200.00	नारी का मूल्य	100.00
पथ के दावेदार	250.00	अरक्षणीया	100.00
परिणीता	100.00	शुभदा	100.00
लेन-देन	200.00	ग्रामीण समाज	125.00
आखिरी परिचय	250.00	दत्ता	150.00
श्रीकांत	250.00	वैकुण्ठ का दान-पत्र	100.00
शरत्चन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां	200.00	जागरण	100.00
शरत्चन्द्र की अमर कहानियां	200.00	चन्द्रनाथ	80.00
शेष प्रश्न	250.00	षोडशी-रमा	175.00
कमला	150.00	विजया	150.00
शारदा	150.00	देवदास	100.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

आधुनिक राज्य के विकास के चरण

डॉ. पंकज कुमार

स्वजन समूह—स्वजन समूह समाज को जन्म देता है और समाज अंततः राज्य का निर्माण करता है। रक्त संबंधों का जाल बुनता जाता है जो जनसमूह का निर्माण करता है। उस समूह में विस्तार व उपविभाजन की सारी संभावनाएँ निहित हैं। शुरू में सम्बंध मातृ पक्ष से निर्धारित होते थे। मातृ सत्तात्मक परिवार का अर्थ माता या स्त्री का शासन नहीं क्योंकि आदिम समाज में स्त्री का स्थान इतना ऊँचा नहीं माना जाता था।

सम्पत्ति—प्रारम्भ में निजी सम्पत्ति नहीं थी, परिवार पर नियंत्रण की भावना सम्पत्ति पर नियंत्रण की प्रेरणा देती है। पुरुष अपनी संतान व स्त्री को भी सम्पत्ति समझने लगता है। पुरुष की यही प्रवृत्ति पितृ सत्तात्मक परिवार की स्थापना करती है। इसकी पहचान केवल सम्पत्ति स्वामित्व नहीं बल्कि सम्पत्ति उत्तराधिकार भी मुख्य लक्षण है। इससे वंश परम्परा का महत्त्व बढ़ता है। पिता की सत्ता कबीले के सरदार का रूप धारण करती है तथा समाज विकास की दिशा में आगे बढ़ता है। मैकाइवर के अनुसार “सम्पत्ति की वृद्धि का अर्थ पुरुष के सामाजिक प्रभुत्व की वृद्धि है इसके साथ ही अन्य ऐसी शक्तियाँ सक्रिय हो जाती हैं जिनसे पितृत्व का महत्त्व बढ़ता है और अस्तित्व सुनिश्चित हो जाता है।”

रीति रिवाज—आदिम समाज में जादू-टोना व धर्म रीति रिवाज का अंग होता था। गेटेल के अनुसार “वंश परम्परा तथा धर्म एक ही बात के दो पहलू हैं।” वंश परम्परा व धर्म में इतना गहरा संबंध था कि जाति का प्रधान महापुरोहित होता था। प्राचीन काल में धर्म ने राज्य संगठन को अत्यधिक सहायता पहुँचाई। मैक्लिथड के अनुसार फ्रेजर की आलोचना मैक्लिथड ने की। ‘आदिवासियों का सम्पूर्ण जीवन रीतिरिवाज से बंधा था। रीति-रिवाजों के अच्छी तरह स्थापित होने के बाद सामाजिक संस्थाओं में नेतृत्व के प्रतिमानों का विकास होता है।

शक्ति—मैकाइवर के अनुसार “आदिम कबीले का सरदार तो सामुदायिक रीति-रिवाजों के सहारे काम चला सकता था, जिसका वह संरक्षक था। परंतु जो शासक शस्त्र सेनाओं का संगठन करता है तथा नियमित कर वसूलता है, सम्पत्ति व संबंधों के विवाद का समाधान करता है जैसे एक विशेषाधिकार युक्त वर्ग की आवश्यकता होती है जिसके हित उसके अपने लोगों के हित से लगभग एकाकार हों।” शक्ति की भूमिका युद्ध व विजय में स्पष्ट होती है जिससे शासन क्षेत्र के विस्तार के साथ ही राजनीतिक शक्ति भी सुदृढ़ होती है। शक्तिशाली शत्रु का खतरा छोटे समूहों को एकता में बंधने को विवश करता है। दूसरे युद्ध में विजेता पक्ष पराजित पक्ष पर प्रभुत्व कायम करता है। जैक्स कहते हैं कि “जन समाज का राजनैतिक समाज में परिवर्तन शांतिपूर्ण उपायों से नहीं हुआ है, यह युद्ध द्वारा हुआ है।” मैकाइवर के अनुसार “युद्ध के अवसर पर

नायकत्व की आवश्यकता ने राज के विस्तार में आवश्यक सहायता पहुँचाई। राज्यों ने शक्ति व क्षेत्र विस्तार में युद्ध का ही अवलंबन किया।”

नागरिकता—राज्य के निश्चित रूप में आने पर नागरिकता का स्वरूप विकसित हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय राजनीतिक सम्प्रभु और कानून के रूप में देखने को मिलती है। मैकाइवर ने राजनीतिक चेतना को प्रमुख तत्व माना है। राज्य की स्थापना इस कारण हुई क्योंकि मनुष्य में स्वभावतः सामाजिक जीवन की इच्छा है। विकासात्मक सिद्धांत समाजशास्त्रीय, मानव वैज्ञानिक व ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर राज्य की निर्माण प्रक्रिया का पता लगाता है। मैकाइवर ने सेवाधर्म राज्य का समर्थन किया। उसका तात्पर्य यह नहीं कि राज्य सदा से सामान्य हित का साधन रहा। उसका अभिप्राय यह है कि पिछले युगों में राज्य के अंतर्गत सामान्य हित की भावना व शोषण की भावना मिली-जुली रही है। परंतु आधुनिक युग में सामान्य हित की भावना प्रधान हो गई। वर्गों के अनुसार “मानव प्रकृति के सार्वभौम सिद्धांतों की क्रमिक पूर्णता ही राज्य है।” गारनर के अनुसार “राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। राज्य न कोई आविष्कार की वस्तु है और न कोई बनावटी मशीन।” लीकॉक कहते हैं कि राज्य का उद्गम एक क्रमिक विकास के आधार पर हुआ है इसका इतिहास मानव जाति के ज्ञात तथा अज्ञात काल तक फैला हुआ है। “राज्य अपूर्ण और अव्यवस्थित रूप से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मानव जाति के पूर्ण तथा विश्वव्यापी संगठन का रूप ले रहा है।” लास्की कहते हैं कि “राज्य एक ऐतिहासिक गौरव है और वह इतना प्राचीन है कि जनसाधारण के लिए इसका वर्तमान स्वरूप ही स्थाई प्रतीत होता है। यह हमारे जीवन का एक ऐसा अविच्छिन्न भाग हो गया है कि इसके विकास संबंधी तथ्य को सरलता से स्मरण भी नहीं किया जा सकता।”

राज्य विकास को प्रभावित करने वाले कारक

राज्य के विकास में निम्नलिखित तत्वों का योगदान रहा—

(1) प्राकृतिक सामाजिक प्रेरणा, (2) रक्तसंबंध, (3) मजहब या धर्म, (4) शक्ति, (5) आर्थिक गतिविधियाँ, (6) राजनीतिक चेतना,

1. प्राकृतिक सामाजिक प्रेरणा

विल्सन के अनुसार “यद्यपि विधि-विधान या सामाजिक अवस्था को किसी व्यक्ति ने ही बनाया है, फिर भी सरकार अपने आप नहीं बन गई। इसके विकास में मनुष्य की सूझ-बूझ या चयन का प्रभाव रहा है।”

2. रक्त संबंध

सर हेनरी मेन कहते हैं कि “....समूहों की एकता में सूत्र का प्रारम्भिक बंधन रक्त संबंध था।” मैकाइवर के अनुसार “रक्त संबंध समाज को जन्म देता है और समाज अंत में राज्य को।”

3. मजहब या धर्म

गैटेल कहते हैं कि “रक्त संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उसके कर्तव्यों की धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।” गिलक्राइस्ट कहते हैं कि “कुटुम्ब उतना ही धार्मिक संघ था जितना स्वाभाविक।” विल्सन कहते हैं कि “रक्त सम्बंध धर्म का ही एक रूप था। यह रक्त संबंध का चिह्न और उसकी एकता का प्रतीक था।” जैक्स के अनुसार “कुटुम्ब के संगठन में एक मनुष्य एक ही देवता की पूजा करते थे, एक ही धर्म को मानते थे और मिल जुलकर धार्मिक कार्य करते थे। उस समय धर्म ही कानून होता था।” गैटेल इस पर कहते हैं कि “राजनीतिक विकास के प्रारम्भिक एवं अत्यंत कठिन काल में धर्म ही बर्बरता पूर्ण अराजकता का नाश कर सका। इस अनुशासन तथा सत्ता के प्रति आदर भाव को उत्पन्न करने में जो शासन का आधार है सहस्रों वर्ष लगे।” गिलक्राइस्ट के अनुसार “जादूगर से राजा बनने का चरण आसान है।”

4. शक्ति

जैक्स के अनुसार “युद्ध ने सम्राट को जन्म दिया।” मैकाइवर कहते हैं कि “राज्य का उदय शक्ति के द्वारा नहीं हुआ है, यद्यपि शक्ति ने राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया है।” शक्ति ने रक्त सम्बंध के महत्व को कम करके प्रादेशिक महत्व कायम किया। व्लंशली के अनुसार राज्य के लिए शक्ति का उपयोग अनिवार्य है। ह्यूम के अनुसार “राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी शक्तिशाली मानव दल के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमाकर उन पर हुकूमत लादी होगी।” ग्रीन कहते हैं कि “राज्य का निर्माण साधारण बल प्रयोग के द्वारा नहीं वरन् उस बल प्रयोग के द्वारा होता है जो लिखित अथवा

अलिखित कानून के अनुसार आंतरिक तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए किया जाता है।”

5. आर्थिक गतिविधियाँ

आर्थिक गतिविधियों के परिवर्तन के साथ-साथ राज्य का रूप परिवर्तित होता गया।

आखेट (शिकार) : धनवान और निर्धन का भेद नहीं

पशुपालन : धनवान और निर्धन में भेद उत्पन्न

कृषि : स्थायी निवास

उद्योग व्यापार : सम्पत्ति का रिवाज वर्ग उत्पन्न और वर्ग संघर्ष का जन्म

राज्य अथवा सरकार : कानून

6. राजनीतिक चेतना

गिलक्राइस्ट के अनुसार ‘राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह में, जिनमें रक्त संबंध व धर्म भी शामिल है, राजनीतिक चेतना है, जो सबसे मुख्य तत्व है।’ व्लंशली कहते हैं कि “मनुष्य में सामाजिक जीवन की इच्छा राज्य निर्माण के कारण होती है।” बुडरो विल्सन के अनुसार “संगठन की भावना स्वाभाविक है और वह मनुष्य और परिवार के साथ उत्पन्न हुई है।” गैटेल कहते हैं कि “....सामाजिक संगठनों के उन प्रारम्भिक रूपों में जो राज्य नहीं थे और बाद के रूपों में जो राज्य थे, कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। वास्तव में धीरे-धीरे सामाजिक अवस्थाओं के पहले रूप दूसरे में विलीन हो गए।” सुमनर और केलर कहते हैं कि “यह कहना कि राज्य किस समय सबसे पहले दिखाई दिया, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह कहना कि कब नैतिक कानून बने या बच्चा कब जवान हुआ या युवक कब एक प्रौढ़ बन गया।”

राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत

उदारवाद राज्य को कल्याणकारी राज्य की संज्ञा देता है। उदारवाद के अनुसार राज्य समाज में सार्वजनिक व्यवस्था स्थापित करने और विभिन्न समूहों तथा वर्गों के

हितों की रक्षा करने वाली राजनीतिक व्यवस्था है। राज्य तथा राज्य की प्रकृति के मार्क्सवादी सिद्धांत का आधार इस बात को सर्वथा अस्वीकार करता है कि राज्य एक न्यासधारी अथवा पूरे समाज का प्रतिनिधि है। इस विचार के समर्थक हैं एंजिल्स, तथा लेनिन। मार्क्स ने **राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं दी।** उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति वर्ग विभाजन का परिणाम है। **ग्राम्शी कहता है** कि राज्य का जन्म तीन प्रकार की सामाजिक शक्तियों के संघर्ष के कारण होता है :

- नेतृत्व की शक्ति,
- नेतृत्व विरोधी शक्ति,
- सहायक शक्तियाँ जो नेतृत्व की शक्ति की समर्थक हैं।

एंजिल्स ने बताया, “राज्य का अस्तित्व अनंतकाल से नहीं है। ऐसे समाज भी रहे हैं जिनमें राज्य नहीं था।”, एंजिल्स ने राज्य की उत्पत्ति के पहले युग को ‘आदिम साम्यवाद’ कहा और उसके तीन रूप बताए—

- जंगली अवस्था : व्यक्ति जंगलों, पेड़ों पर रहते थे, हथियार बनाते थे।
- बर्बर अवस्था : पशुपालन, खेती, लोहे के हथियार बनाते थे।
- संक्रांति अवस्था : सभ्यता के विकास के एकदम पूर्व की अवस्था।

वी.आई.लेनिन ने लिखा है—“प्रकटतः राज्य का कार्य, वर्ग संघर्ष दबाना व व्यवस्था कायम करना है। किंतु उसका अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि वर्ग संघर्ष को शांत करने का कोई उपाय नहीं रह गया है, क्योंकि यदि वर्गों में सुलह संभव होती तो राज्य का उदय ही न होता और न वह अपने को कायम रख पाता।” राज्य धनवान वर्ग के हाथ की कठपुतली है, वह सर्वहित व जनकल्याण का साधन नहीं हो सकता।”

संदर्भ

- राजनीति विज्ञान के सिद्धांत – जौहरी
- राजनीतिक सिद्धांत – संधू

प्रभुसत्ता की अवधारणा

अखलाख अहमद

आधुनिक राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य हैं। राज्य की कानूनी धारणा के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य का आवश्यक तत्व है जिसके अभाव में किसी मानवीय समुदाय को राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस तरह राज्य के चार तत्वों में प्रभुसत्ता एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जिसके बल पर राज्य ऐसे कानून और आदेश जारी करता है जिनका पालन राज्य सीमा के अंदर प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है, अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले संसाधनों का वितरण या आवंटन कर सकता है, दंड की व्यवस्था कर सकता है, विदेशी राज्यों के साथ संधियाँ और समझौते कर सकता है। प्रभुसत्ता ही राज्य को ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिसका उपयोग वह शत्रु राज्य से युद्ध करने में कर सकता है। प्रभुसत्ताधारी, किसी अन्य व्यक्ति या समुदाय की सलाह मानने को बाध्य नहीं हो सकता, वह रीति-रिवाजों, परंपराओं आदि का पालन करता है किंतु इन्हें परिभाषित करने का अधिकार भी संप्रभु के पास ही होता है। प्रभुसत्ता मूलतः एक कानूनी संकल्पना है। इसे सामाजिक या दूसरे संदर्भों में लागू करने पर अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं। जैसा कि बहुलवाद से जुड़ी हुई तर्क क्षुंखला से प्रकट होती है।

प्रभुसत्ता के अर्थ को लेकर पश्चिम के राजनीतिक विचारकों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। उल्लेखनीय है कि यूनानी विचारक 'प्रभुसत्ता' शब्द से परिचित नहीं थे, यह अरस्तू द्वारा संप्रभुता के स्थान पर 'राज्य की सर्वोच्च शक्ति पदबंध' के उपयोग से स्पष्ट हो जाता है। मध्य युग में भी 'राज्य की सर्वोच्च शक्ति और राज्य की परम सत्ता जैसे पदबंधों का प्रयोग किया गया है। जीन बोंदा ने 1576 में अपनी पुस्तक 'सिक्स बुक्स फॉर द रिपब्लिक' में सर्वप्रथम 'सोवरनिटे' शब्द का प्रयोग करते हुए निम्न परिभाषा दी, "प्रभुसत्ता नागरिकों एवं प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जो कानून के नियंत्रण से परे है।"

प्रभुसत्ता से आशय उस न्यायोचित सत्ता से है जिसके माध्यम से राज्य राजनीतिक प्रक्रिया संपन्न करने में सफल होता है। सरल शब्दों में प्रभुसत्ता का अर्थ है सर्वोच्च सत्ता अर्थात् एक ऐसी सत्ता जिसके ऊपर कोई और सत्ता न हो। प्रभुसत्ता ही राज्य का एक मात्र ऐसा तत्व है जो राज्य को समाज की अन्य संस्थाओं जैसे परिवार, शिक्षा संस्थान आदि से अलग करता है। **सी.एच. मैकलवेन** का कहना है कि "प्रभुसत्ता वह केंद्रीय सूत्र है जिसके अंतर्गत हम अपनी आधुनिक राजनीति के उलझे हुए तथ्यों को विवेक संगत बनाने का प्रयास कर सकते हैं।" **गारनर** ने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल साइंस' में लिखा है कि "प्रभुसत्ता राज्य की ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह कानून की दृष्टि से केवल अपनी

इच्छा से बंधा होता है अन्य किसी की इच्छा से नहीं, कोई अन्य शक्ति उसकी अपनी शक्ति को सीमित नहीं कर सकती।" इसी प्रकार **लास्की** का मत है, "संप्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव समुदायों से भिन्न है।" व्युत्पत्ति की दृष्टि से संप्रभुता का तात्पर्य राज्य की सर्वोच्च सत्ता है, इस आधार पर **जेलीनिक** ने कहा है कि "संप्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके आधार पर उसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त कोई कानून द्वारा बाध्य नहीं कर सकता अथवा उसको अपनी शक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति सीमित नहीं कर सकती।" इस प्रकार राज्य की शक्ति असीमित हो जाती है। कुछ विचारक प्रभुसत्ता शब्द का आशय निकालने में बड़ी भ्रमित अवस्था में पहुँच जाते हैं जैसे **गिडिंग्स** ने प्रभुसत्ता के संबंध में कहा है कि "सारे शब्द कोष में कोई ऐसा अन्य शब्द नहीं है जिसके साथ तत्वमीमांसक मदारी ने ऐसा खिलवाड़ किया हो।...न्यायविदों व राजनीतिक सिद्धांत शास्त्रियों ने लक्ष्यों से अपनी दृष्टि हटाकर अमूर्तताओं में अपना दिमाग उलझा दिया है और राजनीति विज्ञान के लिए प्रभुसत्ता ऐसी वस्तु बन गई है जो कभी न थल पर थी और न कभी जल पर।"

प्रभुसत्ता का विकास

एक निश्चित भू-भाग पर सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रभुसत्ता की धारणा एक आधुनिक धारणा है और इसकी उत्पत्ति वास्तव में आधुनिक राष्ट्रराज्य के उदय के साथ जुड़ी हुई है। आधुनिक रूप में प्रभुसत्ता सिद्धांत की उत्पत्ति **सोलहवीं सदी** में तब हुई जब मध्यकालीन मान्यताएँ और संस्थाएँ लुप्त होती जा रही थीं तथा राष्ट्र-राज्यों का उदय हो रहा था। इन्हीं राष्ट्र-राज्यों का औचित्य स्थापित करने के लिए प्रभुसत्ता सिद्धांत को स्थापित किया गया।

किंतु आधुनिक युग में प्रभुसत्ता की धारणा का आशय यह नहीं है कि प्राचीन और मध्य युग के लोग इस धारणा से पूर्णतः अनभिज्ञ थे। अभिप्राय केवल इतना है जिस संदर्भ में वर्तमान युग में संप्रभुता का प्रयोग किया जा रहा है, पहले इस संदर्भ में विशेष बल नहीं दिया जाता था तथा सर्वोच्च सत्ता के लिए इस शब्द 'संप्रभुता' का प्रयोग भी नहीं किया जाता था। प्रभुसत्ता की धारणा का वर्तमान रूप में विकास तीन चरणों में हुआ है :

प्राचीन काल के यूनानी नगर राज्य आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और स्वाधीन थे। यहाँ राजा की सत्ता के अलावा संपूर्ण समुदाय की सर्वोच्च सत्ता भी होती थी। तथा यूनानी कानून को अपना स्वामी मानते थे। अरस्तू ने भी राज्यों का वर्गीकरण सर्वोच्च सत्ता की स्थिति के आधार पर किया था। अर्थात् सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में है या कुछ व्यक्तियों के हाथों में सरकार का स्वरूप

इसी से निर्धारित होता है। रोमन राज्यों में भी जनता ही सर्वोच्च सत्ता का स्रोत होती थी और शासक अपनी शक्ति और औचित्य सिद्ध करने के लिए जनता की इच्छा का ऋणी होता था।

प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा की उत्पत्ति मध्यकाल में होती है। सामंतवादी व्यवस्था स्तरित श्रेणीक्रम में होती थी जहाँ प्रत्येक सत्ताधारी अपने-अपने क्षेत्र का **अधिपति** होता है। प्रभुसत्ता से अभिप्राय था इन अधिपतियों या अधिराजों पर **आधिपत्य**। यहाँ 'अधिपति' का आशय उन छोटे-छोटे अर्धस्वतंत्र राज्यों पर शासन करने वाला से है जो अपने ऊपर एक अन्य सत्ता को स्वीकार करता है। और **आधिपत्य** का आशय है सर्वोच्च शासक (Supreme lord) जो स्वयं को किसी अन्य सत्ता के अधीन नहीं रखता। इस प्रकार सत्ता के अंतिम स्तर को प्रभुसत्ता की संज्ञा दी जाने लगी। मध्यकालीन युग में सत्ता के तीन केंद्र रहे हैं—चर्च, राजा तथा सामन्त। इस युग में प्रभुसत्ता को लेकर झगड़ा रहा राजा और चर्च में, और अन्ततः राजा की विजय के साथ धर्मनिरपेक्षता के आधार पर प्रभुसत्ता राष्ट्रीय राज्य 16वीं सदी में विकसित हुई।

सामंतवादी ढाँचे के पतन के परिणामस्वरूप आधुनिक राष्ट्र राज्य का उदय हुआ, परिणामस्वरूप मध्ययुगीन मान्यताएँ और संस्थाएँ समाप्त होने लगी। आधुनिक राष्ट्र राज्य में एक निश्चित भूमि पर बसे हुए लोगों को मिल-जुलकर रहने के लिए कानून और व्यवस्था का औचित्य स्थापित किया जाने लगा और लोगों को विभिन्न भेदभावों से ऊपर उठाकर इकट्ठा रहने के लिए सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और भावात्मक आधार प्रदान किए जाने लगे। राष्ट्र राज्य में सर्वोच्च सत्ता (जो प्राचीन काल से ही प्रचलित थी) को राज्य के एकीकरण के लिए आवश्यक समझा जाने लगा और क्षेत्रीय अधिपत्तीय व्यवस्था (जो मध्यकालीन सामंतवादी धारणा थी) को राज्य के विकास के लिए आवश्यक समझा जाने लगा। अतः कहा जा सकता है कि प्राचीन काल की सर्वोच्च सत्ता की

धारणा का मध्यकालीन अधिपतीय धारणा के मिलन के परिणामस्वरूप आधुनिक राष्ट्र राज्य में संप्रभुता की धारणा का विकास हुआ।

संप्रभुता की परिभाषाएँ

बोदा : “संप्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों पर वह सर्वोपरि शक्ति है जिस पर कानून का कोई बंधन नहीं है।” **ग्रोशियस** : “संप्रभुता उस व्यक्ति की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य अन्य किसी के अधीन नहीं होते और जिसकी इच्छा को कोई टाल नहीं सकता। वह शासन करने की नैतिक शक्ति हो।” **ब्लैकस्टोन** : “प्रभुसत्ता वह सर्वोच्च अनिवार्य और अनियंत्रित सत्ता है जिसके आश्रित बड़े-बड़े कानून रहते हैं।” **जेलीनिक** : “संप्रभुता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।” **रूसो** : “सार्वजनिक संकल्प ही संप्रभु है।” **केलसन** : “अपने मौलिक तथा एकमात्र स्पष्ट भाव में प्रभुसत्ता का आशय सर्वोच्च भाव से है।” **गारनर** : “प्रभुसत्ता राज्य की ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह कानून की दृष्टि से केवल अपनी इच्छा से बंधा होता है अन्य किसी की इच्छा से नहीं, कोई अन्य शक्ति उसकी अपनी शक्ति को सीमित नहीं कर सकती।” **विल्सन** : “प्रभुसत्ता कानूनों का निर्माण करने तथा उन्हें लागू करने वाली प्रतिदिन क्रियाशील शक्ति है।” **बर्गेस** : “संप्रभुता राज्य के व्यक्तियों और समुदायों पर भौतिक निरंकुश और असीमित शक्ति है।” **पोलक** : “प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो स्थाई है, न ही हस्तांतरणीय, न यह ऐसे विशेष नियमों के अधीन है जिन्हें यह बदल नहीं सकती, और न यह धरती पर किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी है।” **डुग्वी** : “संप्रभुता राज्य की आदेशकारी शक्ति है। राज्य के रूप में संगणित यह राष्ट्र की इच्छा होती है। यह अधिकार है जिसके द्वारा राज्य के क्षेत्र से सब व्यक्तियों को विधिक रूप से आदेश दिए जाते हैं।”

रसेल : “प्रभुसत्ता राज्य के भीतर दृढ़तम तथा सर्वोच्च सत्ता है जो कानून या किसी वस्तु द्वारा सीमित नहीं क्योंकि तब यह न तो दृढ़तम होगी न सर्वोच्च।” **विलोबी** : “संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।” **लास्की** : “राज्य की प्रभुसत्ता अपने क्षेत्र के भीतर सभी व्यक्तियों एवं संघों को आदेश देती है, यह उनमें से किसी से आदेश नहीं लेती। इसकी इच्छा किसी प्रकार के वैधानिक सीमाओं के अधीन नहीं है।” **ओपनहाइम** : “प्रभुसत्ता सर्वोच्च प्राधिकार है जो हर मौलिक प्राधिकार से स्वतंत्र या उसके ऊपर है।” **जेक्स** : “प्रभुसत्ता वह सत्ता है जो अंतिम अर्थ में राज्य के प्रत्येक सदस्यों के कृत्यों को पूर्ण तौर से नियंत्रित करती है और जिसके विरुद्ध समाज का कोई सदस्य याचना नहीं कर सकता।” **आस्टिन** : “यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञाओं का पालन करता हो और वह निश्चित व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा पालने का आदी न हो तो उस समाज में वह व्यक्ति संप्रभु है और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति सहित वो समाज राजा है।”

प्रभुसत्ता की विशेषताएँ

राजनीति विज्ञान के तकरीबन सभी प्रमुख विद्वानों ने प्रभुसत्ता पर अपने विचार प्रकट किए हैं तथा उसकी विशेषताएँ बतलाए हैं। विद्वानों ने प्रभुसत्ता के निम्न लक्षण गिनाए हैं :

1. पूर्ण

सर्वोच्चता, निरंकुशता आदि भी इसे कहा जाता है। इसका आशय परमपूर्णता या असीमितता (Ilimitability) से भी लिया जाता है। प्रभुसत्ता ऐसी शक्ति है जो किसी अन्य शक्ति पर आश्रित नहीं होती चाहे वह राज्य के भीतर हो या राज्य के बाहर। यदि इसे कानून के रूप में प्रस्तुत किया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि राज्य किसी कानून का निर्माण तथा उसे लागू कर सकता है जो सभी संबद्ध व्यक्तियों पर लागू होता है। कोई अन्य सत्ता नहीं हो

सकती जो राज्य के कानून को स्थगित या निरस्त कर सके। **लास्की** के शब्दों में, “विशुद्ध वैधानिक शब्दावली में इसका यह निहितार्थ है कि व्यवहार में वैधानिक दृष्टि से असीमित शक्ति ऐसी बन जाती है जिसका प्रयोग उस दशा में किया जाता है जिससे प्रत्येक पीढ़ी सुपरिचित होती है।” संप्रभुता के असीमित होने का आशय है कि यह किसी भी अन्य इच्छा से बँधी नहीं होती, यह अपनी इच्छा से भी सीमित नहीं होती। अतएव यह विधि द्वारा भी नियंत्रित नहीं होती। यदि संप्रभु किसी विधान द्वारा सीमित हो जाए तो उस विधि का निर्माता ही असली संप्रभु हो जाएगा। अतः यह कहा जा सकता है कि संप्रभुता मौलिक गुण है। मौलिकता से तात्पर्य है कि यह शक्ति किसी अन्य द्वारा प्रदान नहीं की गई। उल्लेखनीय है कि कोई भी अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ, समझौते प्रभुसत्ता को नष्ट नहीं करते क्योंकि कोई भी प्रभुसत्ता संपन्न राज्य इन्हें अपनाते को बाध्य नहीं होता। ये तभी तक मान्य होते हैं जब प्रभुसत्ता राज्य इन्हें मानने को तैयार होता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय जो अंतर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या तो कर सकता है परंतु उन्हें स्वीकार करने के लिए किसी राज्य को बाध्य नहीं कर सकता। प्रभुसत्ता का परंपरागत सिद्धांत तो अंतर्राष्ट्रीय कानून को कानून के रूप में स्वीकार करने को ही तैयार नहीं है क्योंकि वह किसी प्रभुसत्ताधारी की इच्छा को व्यक्त नहीं करता।

प्रभुसत्ता के इस गुण का कुछ विद्वानों ने विरोध किया है। उनका मत है कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य की प्रभुसत्ता असीमित नहीं है, यह प्रकृति के नियमों, धार्मिक सिद्धांतों, नैतिकता के नियमों, न्याय के शाश्वत सिद्धांतों, रीति-रिवाजों, परंपराओं, अंतर्राष्ट्रीय विधियों आदि से मर्यादित है।

2. सार्वजनीन या सार्वभौमिकता

प्रभुत्व की व्यापकता से संप्रभुता की सार्वजनीनता का भी प्रयोजन राज्य की सीमाओं के अंतर्गत है। राज्य द्वारा बनाए

गए कानून से परे कोई व्यक्ति या समूह अपना अधिकार बताकर प्रभुसत्ता से छुटकारा पाने का दावा नहीं कर सकता। **गारनर** का मत है कि “राज्य में केवल एक ऐसी सर्वोच्च शक्ति हो सकती है जिसे वैधानिक रूप में अपने निवासियों द्वारा अपनी आज्ञा के पालन कराने का अधिकार है। इसके विपरीत कुछ भी मानना राज्य की एकता के सिद्धांत को अस्वीकार करना तथा ‘राज्य के भीतर राज्य’ की संभावना को स्वीकार करना होगा।” राज्य के अंतर्गत जितने व्यक्ति तथा संघ हैं सब इसके आज्ञापालन के लिए बाध्य हैं। राज्य उनको अपने नियमों का पालन करने के लिए विवश कर सकता है तथा विधि उल्लंघन करने वालों को दंड दे सकता है। प्रत्येक संघ चाहे वह धार्मिक हो या सांस्कृतिक, आर्थिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार का हो राज्य संप्रभुता के अधीन होता है। इसी प्रकार किसी राज्य के अंदर यदि कोई अंतर्राष्ट्रीय संघ हो तो वह भी राज्य की सत्ता के ऊपर नहीं है। **फ्री मेसंस** जैसी विश्वव्यापी सुसंगठित संस्था भी राज्य से परे होने या राज्य से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकती। यह संस्था भी विभिन्न राज्यों के कानूनों के अधीन है।

किंतु राज्य स्वेच्छापूर्वक विशेष अवसरों पर कुछ व्यक्तियों अथवा पदार्थों को अपने अधिकार क्षेत्र से स्वतंत्र मान लेता है। जैसा कि **गिलक्राइस्ट** ने उल्लेख किया है कि कुछ देशों में कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों को राज्योत्तर संप्रभुता मिली होती है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, “किसी भी देश में राजदूतावास होता है। राजदूतावास के सदस्य अपने देश के कानूनों के अधीन होते हैं। पर सच्चाई यह है कि यह मात्र अंतर्राष्ट्रीय शिष्टता की बात है और इसे संप्रभुता से वास्तविक मुक्ति नहीं कह सकते। यदि कोई राज्य चाहे तो अपनी संप्रभुता का उपयोग करते हुए इस प्रकार दिए गए विशेषाधिकारों और सुविधाओं को वापस ले सकता है।”

3. स्थायित्व या सर्वकालीनता

स्थायित्व या सर्वकालीनता से आशय है कि संप्रभुता राज्य का स्थाई गुण है। जब

तक राज्य का अस्तित्व रहेगा तब तक संप्रभुता विद्यमान रहेगी। राज्य का विनाश ही संप्रभुता की समाप्ति का कारण हो सकता है। **गारनर** का कहना है, “स्थायित्व से आशय यह है कि जब तक राज्य कायम रहता है तब तक संप्रभुता कायम रहती है। प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालीन पदच्युति तथा राज्य के पुनः संगठन के कारण संप्रभुता का नाश नहीं होता, वह उसी क्षण नए प्रभुत्वधारी के हाथों में पहुँच जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भौतिक पदार्थ में बाह्य परिवर्तन होने पर गुरुत्वाकर्षण का केंद्र एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान को चला जाता है।

4. अदेयता

प्रभुसत्ता या संप्रभुता एक संपूर्ण इकाई है इसके किसी भी गुण का त्याग नहीं किया जा सकता। **गारनर** ने कहा है कि “अपरित्याज्यता से तात्पर्य राज्य के उस गुण से है जिसके कारण वह अपने किसी भी सारभूत तत्त्व को स्वयं नष्ट हुए बिना विलय नहीं कर सकता।” संप्रभुता राज्य का व्यक्तित्व प्रदर्शित करता है। यदि वह व्यक्तित्व न रहे तो राज्य सामाप्त हो जाएगा। पुनः **गारनर** के शब्दों में, “प्रभुत्व का विच्छेदन अथवा हस्तांतरण संभव नहीं क्योंकि वह राज्य के व्यक्तित्व का सार है और उसके हस्तांतरण के साथ उसके व्यक्तित्व का विनाश हो जाएगा। प्रभुत्व राज्य की सर्वोच्च सत्ता है, उसके जीवन का अमरतत्त्व है और राज्य से उसका अलग होना उसकी आत्महत्या के समान है।” **लायबर** के शब्दों में, “प्रभुसत्ता को उसी तरह हस्तांतरित नहीं किया जा सकता जिस तरह वृक्ष को उसके अंकुरित होने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता अथवा जैसे मनुष्य आत्मविनाश के बिना अपना जीवन या व्यक्तित्व किसी अन्य को हस्तांतरित नहीं कर सकता।” जिस प्रकार किसी चुंबक को विभाजित कर देने पर भी उसके चुंबकत्व के गुण को समाप्त नहीं किया जा सकता उसी प्रकार किसी राज्य के टुकड़े कर देने पर भी संप्रभुता का विभाजन नहीं होता।

जब एक राज्य ऐसा करता है तो वह अपने उतने क्षेत्र पर अपनी संप्रभुता को दूसरे राज्य को सौंप देता है। पर इससे उसकी संप्रभुता शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। अपितु दो संप्रभुओं का अस्तित्व हो जाता है जिनका दो विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार होता है।

अठारहवीं शताब्दी में रूसो (1712-78) भी संप्रभुता की अदेयता के समर्थक थे। उनका कहना था कि “शक्ति को प्रत्यायोजित किया जा सकता है पर इच्छा को नहीं। संप्रभुता राज्य के व्यक्तित्व का मूल तत्व है और उसको अलग करना आत्महत्या के समान है।” कुछ लेखकों ने संप्रभुता के इस गुण का विरोध किया है। उदाहरण के लिए अंग्रेज विद्वान **रिची** का कहना है कि संप्रभुता की अपरित्याज्यता इतिहास द्वारा अनुमोदित नहीं होती। किंतु अदेयता से तात्पर्य यह नहीं है कि एक राज्य अपनी भूमि को भी दूसरे को नहीं दे सकता। भारत ने अपनी भूमि के कुछ भाग का त्याग किया जिससे पाकिस्तान नामक संप्रभु राज्य का निर्माण हुआ किंतु उससे भारत की संप्रभुता पर कोई असर नहीं पड़ा। संप्रभुता के अदेयता नामक गुण के प्रति एक भ्रांति यह भी है कि जब किसी देश का शासक अर्थात् संप्रभुताधारी मृत्यु को प्राप्त होता है तो उससे राज्य की संप्रभुता अलग नहीं होती है। यह केवल सरकार या शासन के रूप में परिवर्तन मात्र है : उससे राज्य की संप्रभुता का त्याग नहीं होता।

5. अविभाज्यता या एकता

यह प्रभुसत्ता या संप्रभुता की अंतिम विशेषता है। अविभाज्यता से आशय है कि संप्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता। एक लेखक का कहना है कि “जिस प्रकार शरीर से आत्मा को, अग्नि से तपन को, जल से तरलता को अलग नहीं किया जा सकता।, उसी प्रकार राज्य के प्रमुख गुण संप्रभुता को विभाजित नहीं किया जा सकता।” **गैटेल** ने लिखा है कि “यदि संप्रभुता परमपूर्ण नहीं है, तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है, यदि संप्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का

अस्तित्व हो जाता है।” इसी प्रकार **गारनर** का कहना है कि “प्रभुत्व की एक विशेषता है उसकी एकता। वह राज्य में सर्वोच्च इच्छा (अथवा सत्ता) है, उसका विभाजन अनेक इच्छाओं को जन्म दिए बिना नहीं किया जा सकता और वह प्रभुत्व की भावना के विपरीत होगा।” **हॉब्स** ने तो यहाँ तक कहा था कि ‘एक विभाजित राज्य जीवित नहीं रह सकता।, इसी प्रकार अमेरिकन राजनीतिज्ञ **कैलहॉउन** का कहना है कि “प्रभुसत्ता एक समय वस्तु है, इस विभाजित करना इसे नष्ट करना है। राज्य में यह सर्वोच्च शक्ति है और शायद हम **अर्ध-वृत्त या अर्ध त्रिकोण** की तरह अर्ध प्रभुसत्ता की बात नहीं कर सकते।”

वॉश्ले का भी यही मत है कि संप्रभुता को विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसको विभाजित करना राज्य के अस्तित्व को विनाश करना है। एकता प्रत्येक अंग की आवश्यक दशा है। **विलोबी** भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहता है कि संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है। यह स्पष्ट है कि राज्य में एक से अधिक सर्वोच्च इच्छाएँ नहीं हो सकतीं। इन विद्वानों के अलावा कई अन्य विद्वानों ने संप्रभुता के एकता संबंधी विचार का समर्थन किया है। परंतु कई अन्य विद्वानों का मत है कि संप्रभुता की **अविभाज्यता केवल कल्पना मात्र है**, यथार्थ में संप्रभुता विभाज्य है। बहुलवादियों का यही विचार है। वे लोग संप्रभुता को राज्य और राज्य के अंदर उन अन्य संघों तथा व्यक्ति समूहों में विभाजित करते हैं जो मनुष्य के विभिन्न हितों का पोषण करते हैं। **लावेल** का कहना है कि “एक ही भू-प्रदेश में ऐसे दो संप्रभुओं का अस्तित्व संभव है जो एक ही प्रजावर्ग को विभिन्न मामलों में अपने-अपने आदेश देते हैं।” लावेल ने अपना विचार प्रति पादित करते हुए कहा कि ‘इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि जिन राजनीतिज्ञों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन-विधान की रचना की, वे इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि राजनीतिक प्रभुत्व अपने विषय तथा सत्ता की दृष्टि से विभाजन के योग्य हैं।”

फ्रीमैन ने तो यहाँ तक कह डाला कि “संघीय आदर्श की पूर्णता के लिए प्रभुत्व का पूर्ण विभाजन परम आवश्यक है।” **लार्ड ब्राइस** का कहना है कि वैधानिक संप्रभुता ‘दो संबद्ध सम शक्तियों में अर्थात् एक दूसरे से संबंधित दो बराबर की शक्तियों में विभाजित की जा सकती है।

इस प्रकार बहुलवाद से संबंधित अनेक विद्वानों के अनुसार व्यवहार में अविभाज्यता, परिलक्षित नहीं होती है। **मैकाइवर**, **डुग्वी**, **ब्राइस**, **डायसी**, **सिजविक** तथा कई अन्य विद्वान इसी मत के हैं। किंतु बहुलवाद के ये विचारक संघीय व्यवस्था का गलत अर्थ लगाकर उसे प्रभुसत्ता के विभाजन पर आधारित मान लेते हैं। परंतु सच्चाई यह है कि संघीय व्यवस्था शासन संबंधी शक्तियों, न कि राज्य के प्रभुसत्ता के विभाजन के सिद्धांत पर आधारित है। जैसा कि **गैटेल** ने उल्लेख किया है, “संघीय व्यवस्था में जो वस्तु विभाजित की जाती है वह प्रभुसत्ता नहीं है जो एक इकाई के रूप में संपूर्ण राज्य में निवास करती है, बल्कि इसकी विभिन्न शक्तियों का प्रयोग है जो एक संवैधानिक प्रणाली के अनुरूप विभिन्न प्रशासनिक अंगों में बाँट दी जाती है।”

6. मौलिकता

मौलिकता के अलावा संप्रभुता की उपरोक्त पाँचों विशेषताओं यथा पूर्णता, सार्वजनीनता, स्थायित्व, अदेयता और अविभाज्यता का उल्लेख **गारनर** ने अपनी पुस्तक **पॉलिटिकल साइंस एंड गवर्नमेंट** में किया है। किंतु **मौलिकता** इन पाँचों विशेषताओं के अलावा संप्रभुता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जिसका अर्थ है प्रभुसत्ताधारी के पास शक्ति अपने अधिकार से है, उसको शक्ति किसी ने प्रत्यायोजित नहीं की है।

संदर्भ

1. राजनीतिक सिद्धांत – संधू
2. राजनीति विज्ञान के सिद्धांत – जौहरी

**शोधप्रज्ञ, राजनीतिशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना**

भारतीय राजनीति में महिलाओं की बदलती भूमिका: एक विश्लेषण

डॉ० इकबाल इमाम

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में महिलाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वैदिक काल में पुरुषों की भाँति महिलाएँ भी वैदिक मंत्रोच्चार करती थीं। उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के बराबर सम्मान प्राप्त था। अनेक वैदिक मंत्रों की रचना खुद महिलाओं ने की। उत्तर वैदिककाल में भी महिलाओं की स्थिति कमोबेश ऐसी ही बनी रही। अपाला, घोषा, अण्डाला, विश्ववारा, गार्गी, मैत्रेयी आदि प्रख्यात विदुषियाँ थीं, जिन्होंने मंत्रों की रचना की। लेकिन स्मृतिकाल में महिलाओं की स्थिति में बहुत गिरावट आ गयी, जो गुप्त काल तक वैसी ही बनी रही। फिर अरबों के सिंध आक्रमण, दिल्ली सल्तनत की स्थापना और मुगल काल में महिलाओं की स्थिति में कोई बहुत परिवर्तन नहीं आया।

दिल्ली सल्तनत के दौरान रजिया सुलतान भारत पर राज करने वाली पहली महिला शासक बनी। लेकिन अपने ही भाई-बन्धुओं से संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त हुई। गुलबदन बेगम, नूरजहाँ आदि मुगल काल की महिलाओं के कुछ चर्चित नाम हैं। इस काल में राजघरानों से जुड़ी कई महिलाओं ने राजकाज में हस्तक्षेप किये व राजकुमारों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। विदेशी हमलों के दौरान राजपूत राजपरिवार की महिलाओं द्वारा जौहर करने व सती प्रथा जैसी परंपराओं के कारण हिन्दू समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत दयनीय हो गयी। लेकिन ब्रिटिश काल में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए कई पहल हुई, जिनमें सती प्रथा व बाल विवाह पर रोक, विधवा पुनर्विवाह को बढ़ावा आदि मुख्य हैं। राजारामोहन राय, स्वामी परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशव चन्द्र सेन, विद्या सागर, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारकों ने समाज में महिलाओं को उठाने की बहुत कोशिश की, जिसमें काफी सफलता मिली।

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान महारानी लक्ष्मी बाई, बेगम हजरत महल आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने अंगरेजों से जबरदस्त लोहा लिया। अंगरेजों के विरुद्ध कई किसान व जनजातिय विद्रोहों का नेतृत्व महिलाओं ने किया। एनी बेसेन्ट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष हुईं। सरोजनी नायडू, मैडम ब्लावटस्की, उषा मेहता, राजकुमारी अमृता कौर, प्रभावति देवी, सुचित कृपलानी

आदि स्वतंत्रता संघर्ष के समय की नामचीन हस्तिया हैं, जिनका राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

भारत के संविधान में लिंग पर आधारित किसी भी भेद-भाव व आचरण को वर्जित घोषित कर दिया गया है। स्वाधीनता के बाद राजकुमारी अमृता कौर केन्द्रीय मंत्रिमंडल की पहली महिला मंत्री, सुचिता कृपलानी किसी राज्य की पहली महिला मुख्यमंत्री और सरोजनी नायडू पहली राज्यपाल नियुक्त हुईं। विगत 62 वर्षों में भारतीय लोकतांत्रिक जीवन में महिलाओं की स्थिति उत्तरोत्तर बेहतर हुई है। 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं।

इससे पूर्व वे लाल बहादुर शास्त्री की कैबिनेट में सूचना व प्रसारण मंत्री रह चुकी थीं। श्रीमती गाँधी ने प्रधानमंत्री बनते ही भारत का परचम अन्तराष्ट्रीय राजनीति में लहराया। 1971 के भारत-पाक युद्ध में भारत का सफल नेतृत्व किया और बांग्लादेश को आजादी दिलायी। 1974 में उन्होंने पहले परमाणु परीक्षण द्वारा भारत को परमाणु राष्ट्रों की पांठ में खड़ा किया। 1983 में नई दिल्ली में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के नेता यासर आराफात को पहली बार एक राष्ट्राध्यक्ष के रूप में आमंत्रित करने का किसी ने साहस किया। इस पर आराफात ने श्रीमती गाँधी को ऐसी बहन कहा, जो प्रतिभा में पुरुषों के बराबर है। सम्मेलन में क्युबा के क्रांतिकारी नेता फिदेल कास्त्रों ने 52 पृष्ठों के अपने अभिभाषण को समाप्त करते हुए गुट की नयी अध्यक्ष श्रीमती गाँधी की ढेर सारी प्रशंसा की।

इन्दिरा गाँधी देश की ऐसी पहली प्रधानमंत्री थीं, जिन्होंने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिविपर्स की समाप्ति जैसा साहसिक फैसला किया। उन्होंने 1969 में इन्दिरा काँग्रेस बनायी, 1971 में समय से पूर्व लोकसभा के चुनाव कराने का फैसला किया और दूबारा सत्ता में आयीं। देश की स्थिति को अराजकता की ओर बढ़ता देख उन्होंने 1975 में आपातकाल लगाने की घोषणा की। इससे पूर्व इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने रायबरेली से उनके निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया था। आपातकाल बहुत विवादों भरा काल रहा। 1977 में आपातकाल की समाप्ति के बाद कराये गये

लोकसभा चुनाव वे पराजित हो गयीं और पहली बार जनता पार्टी की गैर काँग्रेसी सरकार केन्द्र में बनी। लेकिन जनता सरकार अपने अन्तरविरोधों के कारण ही गिर गयी। मोरारजी देसाई के बाद चौधरी चरण सिंह प्रधानमंत्री बने, लेकिन लोकसभा का सामना नहीं कर सके। 1980 में हुए चुनाव में इन्दिरा गाँधी और काँग्रेस की जबदस्त वापसी हुई। इन्दिरा गाँधी 15 वर्षों तक मृत्यु पर्यन्त भारत की प्रधानमंत्री रहीं। “वे जब प्रधानमंत्री थीं तो लगता था कि भारत एक महाशक्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे विकासशील देशों की नेता रहीं और उन्होंने भारत के मान को हमेशा ऊँचा रखा।” तमाम विवादों के बावजूद जनता और लोकतंत्र में उनकी जबदस्त आस्था थी- “मैं लोकतंत्र में विश्वास करती हूँ, क्योंकि मैं लोगों में विश्वास करती हूँ। केवल लोकतांत्रिक शासन में ही लोगों की आवाज सुनी जा सकती है, लोग विकास कर सकते हैं।” जॉन ग्रिग (John Grigg) इन्दिरा के संबंध में लिखते हैं- “यह वह महिला है जिसने भारत में मुश्किल और अनुभवी राजनेताओं को पराजित किया है और कई विदेशी आलोचकों को हास्यास्पद साबित किया है। महारानी एलीजाबेथ-I के समान वह भी एक राजघराने से आती है जिसके पास राजा के समान विशाल हृदय है। साथ ही नारी सहजता, राजनीतिक नजाकत और सज्जनता भी है। लेकिन ऐलिजाबेथ से भिन्न वह एक लोकतांत्रिक नेता है, जो मतदाताओं पर निर्भर है।”

भारतीय राजनीति में श्रीमती गाँधी की दो दशकों तक इतनी मुखर भूमिका रही कि वैसी किसी अन्य की मुखरता का उदाहरण भारतीय राजनीति में नहीं मिलता। स्वयं महिलाओं की भूमिका पर वे कहती हैं- “मैं जीवन के हर क्षेत्र में महिलाओं की बढ़ती दिलचस्पी और सहभागिता को देखकर

खुश हूँ। मैं जोर देकर कहती हूँ कि मैं नारीवादी नहीं हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अधिकांश समस्याएँ खासकर विकासशील समाजों की समस्याएँ समान रूप से महिला व पुरुष को प्रभावित करती हैं। फिर भी महिलाओं के लिए खड़े होकर बोलना होगा, क्योंकि उन्हें दबाया गया है। एक ऐसे विश्व में जहाँ आधी आबादी उन्हीं की है, उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में विकास करने और अपना योगदान देने से वंचित रखा गया है। अगर महिलाओं को उपेक्षित रखते हुए उन्हें उनकी प्रतिभाओं व क्षमताओं के इस्तेमाल से वंचित रखा जाय तो कैसे विकास व तरक्की की बात सोची जा सकती है। हम नहीं चाहते कि हमें किसी अलग प्रजाति की तरह देखा जाय। हम मानव हैं और यही चाहते हैं कि हमें सामान्य मानव की तरह देखा जाय।” प्रधानमंत्री बनने पर श्रीमती गाँधी के मंत्रिमण्डल सदस्यों ने जब उन्हें पहली महिला प्रधानमंत्री होने की बधाई दी तो उन्होंने सीधे-सीधे कहा कि इसमें जेंडर कहीं नहीं है, मैं एक व्यक्ति हूँ जिसे अपनी जिम्मेदारी निभानी है। अपनी हत्या से ठीक एक दिन पूर्व 30 अक्टूबर, 1984 को वे ओडिशा में थीं। वहाँ एक जनसभा में उन्होंने कहा कि “मेरे शरीर में जब तक सांस है, मेरे खून की हर बूंद देश के काम आयेगी।” ऐसा कहते हुए वे सीधे लोगों की आंखों में झांक रही थीं, उन लोगों की जो उनसे बेइतहा प्यार करते थे।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी के बाद भारतीय राजनीति में कोई महिला उतनी मुखरता नहीं पा सकी है। पुरुष राजनेता भी नहीं। भारत के पाकिस्तान में उच्चायुक्त रह चुके जी० पार्थसारथी के अनुसार ‘वे (इन्दिरा जी) स्वतंत्र भारत में अब तक की एक मात्र मरदाना प्रधानमंत्री थीं।’ लेकिन उतनी बुलन्दी नहीं छूकर भी आज भारतीय राजनीति

में महिलाएँ काफी मुखर हुई हैं, उनकी भूमिकाएँ महत्वपूर्ण हो गयी हैं। यूपीए अध्यक्ष सोनिया गाँधी राष्ट्रपति प्रतिभा देवी पाटिल, दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित, उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री कुमारी मायावती, पूर्व मुख्यमंत्री जे० जयललिता, बसुंधरा राजे, सुश्री उमा भारती, कृष्णा तिरथ, सुषमा स्वराज, राबड़ी देवी, रेलमंत्री सुश्री ममता बनर्जी, वृदा करात, अम्बिका सोनी, रेणुका चौधरी, लोकसभा अध्यक्ष व पूर्व मंत्री मीरा कुमार, गिरिजा व्यास, महबूबा मुफती, कुमारी शैलजा आदि ऐसे नाम हैं, जिनसे सारा देश परिचित है और इनमें से कई का अपना राष्ट्रीय आभामंडल है। श्रीमती सोनिया गाँधी यूपीए अध्यक्ष होने के साथ-साथ काँग्रेस अध्यक्ष व देश की सबसे शक्तिशाली नेता हैं। वे इन्दिरा जी के बाद भारत की दूसरी महिला प्रधानमंत्री होतीं यदि ‘अन्तरात्मा की आवाज पर उन्होंने इस ‘पद’, को स्वीकार करने से इंकार नहीं किया होता। उनके नेतृत्व में यूपीए ने 2009 के चुनाव में लगातार दूसरी बार सत्ता प्राप्त की है। सोनिया गाँधी के नेतृत्व ने काँग्रेस पार्टी को स्थिरता दी है। साथ ही मतदाताओं का खोया हुआ विश्वास पार्टी में दुबारा जगाया है।

सुश्री मायावती, जे० जयललिता और शीला दीक्षित अपने-अपने राज्यों में लगातार कई बार मुख्यमंत्री रही हैं। शीला दीक्षित तो विगत चुनाव में जीत कर लगातार तीसरी बार दिल्ली की मुख्यमंत्री बनीं। जबकि मायावती ने उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य में अपने बूते बसपा को बहुमत से सत्ता में लाने का करिश्मा कर दिखाया। वहीं जयललिता पाँच वर्षों के अन्तराल पर तमिलनाडू में सत्ता में आती रही हैं और वर्तमान में वहाँ प्रतिपक्ष की नेता हैं। 2009 के लोकसभा चुनाव के बाद गठित लोकसभा में पहली बार किसी महिला ‘मीरा कुमार’

को स्पीकर बनाया गया। उधर सुषमा स्वराज भाजपा के केन्द्रीय नेतृत्व के लिए लगातार सशक्त दावेदारी पेश कर रही हैं। उमा भारती भाजपा से बगावत की राह पर चलकर भी अपनी सियासी मौजूदगी का सशक्त अहसास करा रही हैं। आज भारत में तीन महिलाएँ सर्वोच्च पदों को सुशोभित कर रही हैं- प्रतिभा देवी पाटिल राष्ट्राध्यक्ष हैं, सोनिया गाँधी शासनाध्यक्ष नहीं होकर भी केन्द्र में यूपीए सरकार की सबसे शक्तिशाली नेता व चेयरपरसन हैं, जबकि मीरा कुमार लोकसभा अध्यक्ष की हैसियत से सांसदों को अनुशासन का पाठ पढ़ा रही हैं।

भारतीय राजनीति में इन महिलाओं ने जो स्थान व सम्मान प्राप्त किया है, वह उनकी स्वयं की बनायी सियासी जमीन पर हुआ है। इसमें कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। लेकिन इन महिला राजनेताओं की वर्तमान हैसियत उनके किये गये संघर्षों की भी कहानी है। गौरतलब है कि संसद व राज्य विधानमंडलों में महिलाओं को कोई आरक्षण अभी प्राप्त नहीं है। महिला आरक्षण संबंधी विधेयक संसद में पेश हो चुका है। वर्तमान में भारतीय राजनीति में जो महिला राजनेता हैं, उन्होंने अपनी सियासी हैसियत और मुखरता पुरुष प्रधान भारतीय समाज में पुरुषों के साथ होड़ व प्रतिस्पर्द्धा कर के प्राप्त की है। कई महिला राजनेता अब खुलकर महिला आरक्षण के लिए आवाज उठा रही हैं। लेकिन वे भूल जाती हैं कि उन्होंने राजनीति में स्वयं जो मुकाम बनाया है, वह किसी आरक्षण की बैसाखी के द्वारा नहीं बना। वे भूल जाती हैं कि वे एक ऐसे देश में अपने लिए आरक्षण माँग रही हैं, जहाँ 15 वर्षों तक एक ऐसी महिला 'इन्दिरा गाँधी', प्रधानमंत्री रहीं, जो भारत की सबसे शक्तिशाली प्रधानमंत्री थीं। जनसत्ता के प्रधान संपादक स्व० प्रभाष जोशी के शब्दों में, "वे जब प्रधानमंत्री थीं तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों

पर विश्व भारत की तरफ देखता था। तब लगता था कि भारत एक महाशक्ति है, तीसरी दुनिया का अगुवा देश है।" इन्दिरा गाँधी राजपरिवार से थीं, जिसका उन्हें लाभ भी मिला। लेकिन उन्होंने जितनी चुनौतियों, मुश्किल हालात और कठिनाइयों का सामना किया, और सफलतापूर्वक किया उतना किसी अन्य प्रधानमंत्री ने नहीं किया। उनके राजनीतिक विरोधी अटल बिहारी वाजपेयी ने उन्हें दूर्गा की संज्ञा दी, तो याहया खान ने नफरत से 'वो औरत' और राजनीतिक विरोधियों ने इर्ष्यावश 'वो' कहकर उन्हें संबोधित किया। उनके राजनीतिक विरोधी उनसे इर्ष्या करते थे, जबकि आम भारतीयों की नजर में वे 'प्रियदर्शनी' थीं। चापलुसों ने 'इन्दिरा इण्डिया और इण्डिया इन्दिरा' कहा तो विरोधियों ने तानाशाह। लेकिन वे लोकतांत्रिक नेता थीं और जनता में उन्हें जबरदस्त विश्वास था।'

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति में महिलाओं की भूमिका उत्तरोत्तर मुखर हुई है। संसद व विधानमंडलों में आबादी के अनुपात में उनकी संख्या कम है, लेकिन इसका कारण उनका राजनीति में कम संख्या में होना है। राजनीति में महिलाओं का रूझान बढ़ाने में पंचायतीराज संस्थाओं में दिया गया महिला आरक्षण एक कारगर हथियार हो सकता है। लेकिन वहाँ महिलाओं के नाम पर उनके रिश्तेदारों द्वारा भूमिका निभायी जा रही है। बिहार में पंचायतीराज संस्थाओं में महिला आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दी गयी है, लेकिन वहाँ से भी उत्साहजनक परिणाम नहीं आ रहे। ऐसे में संसद व विधानमंडलों में उन्हें आरक्षण दे देने से उनकी संघर्षशीलता, जुझारूपन और मुखरता कुठित होगी। साथ ही लोकतंत्र में मतदाताओं का अपना मनपसंद प्रतिनिधि चुनने के विकल्प से वंचित हो जाना पड़ेगा।

यह भारतीय लोकतंत्र के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होगा। महिलाएँ राजनीति में खुद आगे आँ तो निश्चय ही विधाई संस्थाओं में उनकी सहभागिता बढ़ेगी। इसके लिए उन्हें आरक्षण की बैसाखी थमाना, एक एथलिट को, जो स्वर्णपदक जीत चुका है और आगे भी जीतने की क्षमता रखता है, उसे बैसाखी थमाकर स्पर्द्धा में दौड़ने की नसीहत करना है।

सन्दर्भ सूची:

1. बीबीसी द्वारा लिया गया जनसत्ता के संपादक प्रभाष जोशी का साक्षात्कार, 31 अक्टूबर 2009
2. न्यूज टूडे, No. 1, 1984, p. 8
3. Trevor Dreiberger, op.cit, p. 82
4. महिला उद्यमिता पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, नई दिल्ली, नवंबर 27, 1981 इन्दिरा गाँधी के शुरुआती भाषण का अंश
5. 'हिन्दुस्तान' शनिवार, 31 अक्टूबर, 2009, पुपुल जयकर का संपादकीय आलेख
6. Indira Reader, Tata McGraw-Hill Publishing Company Ltd. New Delhi, 1985
7. चन्द्र, बिपिन भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, 1996 हिन्दी माध्यम क्रियान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि०वि०, दिल्ली
8. मिश्रा, के० के० राजनीतिक सिद्धान्त और शासन, 2001, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली
9. प्रभात खबर, पटना दिसंबर 22, 2006, महिला आरक्षण पर इकबाल इमाम (इस शोध पत्र के लेखक) का संपादकीय आलेख
10. गाबा, ओम प्रकाश, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, म्यूँर पेपरबैक सेक्टर-5, नोएडा, 2001
11. सईद, एस० एम०, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2009
12. झा, डी० एन० एवं श्रीमाली, के० एम०, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि०वि०, दिल्ली, 2004

एम०ए०, पीएच०डी०, राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

“कन्या भ्रूण हत्या” एक समीक्षात्मक अध्ययन

कुमारी नूतन

सारांश

जब भी हम किसी शिशु को मुस्कुराते हुए या अठखेलियां करते हुए देखते हैं, तो बरबस ही हमारे लबों पर भी मुस्कान आ ही जाती है। अपनी ही धुन में मस्त ये शिशु कल देश की बागडोर संभालने वाले जिम्मेदार नागरिक बनेंगे और देश को उज्ज्वल तथा विकासशील भविष्य देने में मददगार साबित होंगे। परन्तु आज भी हमारे देश में कई परिवार एवं लोग ऐसे मौजूद हैं, जो इन कलियों को खिलने से पहले ही इन्हें नष्ट कर देते हैं। दुनिया में इनका पहला कदम आने से पहले ही इनको गर्भ में ही नष्ट कर दिया जाता है या मार दिया जाता है। आज ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अपने कुल के चिराग को पाने के लिए भ्रूण की जाँच करवाते हैं। “दुधो नहाओं पूतों फलो” पुत्रवती भवः। पुत्र द्वारा मुखाग्नि देने से परलोक सुधरता है। जैसे अनेक शब्द भारतीय संस्कृति में रस-बस गये हैं और कहीं न कहीं कन्या भ्रूण हत्या में उत्प्रेरक का काम कर रहे हैं। यदि इस भ्रूण जाँच में उन्हें यह नजर आता है, कि आने वाली संतान कन्या है, तो इसके लिए भ्रूण हत्या जैसे घिनौने कदम को उठाते हैं। कुछ लोग तो अपनी ही लापरवाही की सजा भी इसी मासूम को देते हैं, जिसने इस दुनिया को अभी ठीक से देखा भी नहीं है। इस दिशा में सरकार द्वारा भी कई प्रकार की कोशिश किया गया, कि इसे रोका जाए परन्तु सरकार भी नाकाम रही है।

अतः सरकार को कुछ नए व ठोस कदम उठाने चाहिए जिससे भ्रूण हत्या जैसे घिनौने अपराध को पूर्ण रूप से रोका जा सके।

प्रस्तुत शोध-पत्र में यह दर्शाने का प्रयास किया गया है, कि कन्या भ्रूण हत्या के कारण स्वस्थ समाज का ढाँचा टूट रहा है तथा स्त्री एवं पुरुषों के अनुपातों में भी विशेष रूप से भिन्नता देखने को मिल रही है। अतः इस शोध-पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया गया है, कि कन्या भ्रूण हत्या के क्या कारण हैं तथा इसे समाज से कैसे दूर किया जाएगा। ताकि एक उज्ज्वल समाज का निर्माण किया जा सके।

भूमिका

भारतीय समाज में पुत्र के प्रति मोह प्रत्येक युग में सदैव देखने को मिलता रहा है और इसी मोह के कारण पुत्री को आम तौर पर अनचाही संतान माना जाता है। हमारा समाज अंधविश्वास, आडम्बर एवं रूढ़िवादी विचारधारा की डफली आज भी इस बदलते प्रगतीशील युग में बजा रहा है, जिसका परिणाम बालिका भ्रूण हत्या है। पुत्र

प्राप्ति के अवसर पर घरों में तालियाँ बजाकर, मिठाइयाँ बाँटकर एवं शोहरों की झंकार से खुशियाँ मनाई जाती है। लेकिन पुत्री के आगमन पर परिवार के सदस्यों एवं बच्चे के माता-पिता में उदासी का भाव दिखाई पड़ता है। भले ही जवानी में आने पर पुत्र अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में ही क्यों न पहुँचा दे या जिंदगी के जीवंत क्षण में माता-पिता को दिन-रात का खाना खिलाए या न खिलाए लेकिन मरने पर मुँह में आग डालकर सीधे स्वर्ग पहुँचाता है। यही है हमारी भारतीय परम्परा और हम चिंतनशील प्राणी हैं इस परम्परा को कायम रखने वाले दानव। आज हमारे समाज और दिमाग में जो क्रूरता बालिका जन्म के साथ समा गयी है। वह पहले के समाज एवं दिमाग में नहीं था। पहले भी समाज में लिंग विभेद की समस्या थी लेकिन कन्याओं के कोमल पैरों को धरातल पर रखने दिया जाता था, भले ही खान-पान, शिक्षा, पहनावा इन सभी चीजों में बालकों की तुलना बालिकाओं पर कम खर्च किया जाता था। अगर हम अपने देश के इतिहास का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि देश की पूरी जनसंख्या (बालिका + बालक) की पूरी आबादी को मिलाने के बाद ही जाना जाता है। 26 अगस्त 1947 को क्या हमारा आधा भारत आजाद हुआ था? तो यहाँ हम कहेंगे। कि नहीं पूरा भारत के लिए यह दिन स्वर्णोज्ज्वल का दिन है। तो देश की पूरी आबादी में आधी आबादी महिलाओं की है और ये महिलाएँ आज इतनी बेबस क्यों हैं, जिन्हें इस समाज में आने से पहले कुचल दिया जाता है। आज पूरा देश सशक्तिकरण की गाण कर रहा है। क्या कन्या भ्रूण हत्या को बिना रोक पाए सशक्तिकरण संभव है। भारत में 1000 प्रति पुरुष पर महिलाओं की संख्या 933 बताया जाता है, जो समाज में पांडव पति विवाह के आगमन का संदेश दे रहा है। फिर हमारा समाज चाहे स्त्री सतीत्व की रक्षा के लिए कुछ भी क्यों न करें समाज में द्रोपदियों की संख्या तीव्र गति से बढ़ेगी।

कन्या भ्रूण हत्या कोई संक्रमण रूपी बिमारी नहीं है, कि जिसका किटाणु तीव्र गति से फैलता है। यह मनुष्य की सोच है, जो कई कारणों से समाज में घटता है:-

1. कन्या भ्रूण हत्या का सबसे पहला कारण पुत्र मोह है। अत्यधिक जनसंख्या वृद्धि न हो और पुत्र रत्न की प्राप्ति हो इसके लिए कन्या भ्रूण हत्या किया जाता है।
2. घरेलू प्रताड़ना भी कन्या भ्रूण हत्या के लिए जिम्मेवार है।
3. बढ़ती मँगई, अशिक्षा और अंधविश्वास कन्या भ्रूण हत्या को बढ़ाने में जिम्मेवार है।

4. दहेज रूपी विष भी इस हत्या के लिए जिम्मेवार है। अभिभावक सोचते हैं कि अधिक बेटी हो जाने पर उसे सही रूप से दहेज नहीं दे पायेंगे और अच्छा घर विवाह नहीं होने पर उसे मार दिया जाएगा। अतः अभी ही भ्रूण हत्या की जाँच करवाई जाए।

5. सामाजिक सुरक्षा की भावना भी इस दारुण कार्य के लिए जिम्मेवार है।

इस संबंध में विभिन्न अध्ययनों को सम्मिलित किया गया है। जो निम्नलिखित हैं।

यदि ध्यान दिया जाए तो गैर सरकारी संगठनों की एक सूचना के अनुसार भारत में प्रत्येक वर्ष बीस लाख से अधिक कन्या भ्रूणों की हत्या की जाती है। 1984 में बंबई में हुए एक अध्ययन में पाया गया कि 8000 गर्भपातों में से 7000 कन्या भ्रूण थे। ऑप्रेशन रिसर्च ग्रुप के एक सर्वेक्षण के अनुसार पाया गया कि 1000 भ्रूण कन्या हत्याओं में 995 मादा भ्रूण थे। (हिन्दुस्तान 8 मार्च 2000) महिलाओं की जनसंख्या घटने का एक कारण मुख्य रूप से यह भी था 1901 में भारत में प्रति एक हजार पुरुषों पर 972 महिलाओं भारत में थी किन्तु 1991 में यह संख्या घटकर 927 हो गयी। हिन्दी क्षेत्रों में यह अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है। जैसे- हरियाणा में 1991 में यह अनुपात 865, बिहार में 911, उत्तर प्रदेश में 879, पंजाब से 882, आसाम में 923, मध्य प्रदेश में 931, महाराष्ट्र में 934, राजस्थान में 910 और पश्चिम बंगाल में 917 है। केवल केरल में यह अनुपात महिलाओं के पक्ष में है यानि प्रति 1000 पुरुषों पर वहाँ 1036 महिलाएँ हैं इसलिए हमें केरल राज्य से सीख लेनी चाहिए।

भारत में पुरुष महिला के अनुपात में 67 का विशेष अंतर (1000:933) देखने को मिलता है, जो यह दर्शाता है, कि कन्या भ्रूण हत्या और बालिका शिशु हत्या

का धंधा कितना प्रखर सीमा पर है। भ्रूणावस्था में माता-पिता को अगर पता चल जाता है, कि होने वाली संतान लड़की है तो फिर मान लिया जाए कि कन्या भ्रूण हत्या निश्चित है जो दण्डनीय अपराध है।

वैसे तो अल्ट्रासाउण्ड का मुख्य उद्देश्य गर्भस्था शिशु के विकास और स्थिरिकरण का पता लगाना होता था। परन्तु इसका उपयोग गलत रूप से किया जाने लगा। इसके अलावा जिस एग्निसिंटेसिस को शरीर की आंतरिक विकृतियों को दर करने के लिए अन्वेषण किया गया, जिसका प्रयोग शिशु के लिंग निर्धारण में किया जाता है। लेकिन जहाँ पर वैज्ञानिक प्रगति नहीं हुई है तो वहाँ पर बालिका वध की आसान विधियाँ खोज ली गयी हैं। लिंग आधारित गर्भपात अब शहर तो शहर गाँवों में भी अपना पैर धीरे-धीरे फैला रहा है।

वैसे इंडियन मेडिकल एसोसिएशन के तथ्य के अनुसार उत्तर भारत में अल्ट्रासाउण्ड कराने और उसके बाद गर्भपात का प्रोब्लम सबसे अधिक है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, यूनीसेफ और एसोसिएशन ने इसे गंभीरता से लिया है और इसके विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर जंग छेड़ दी है। आईएमए ने तो इसे सीधे रूप में हत्या का मामला करार दिया और लिंग निर्धारण के लिए अल्ट्रासाउण्ड करने वाले डाक्टरों से लाइसेंस रद्द करने का फैसला लिया है। इस क्षेत्र में अल्ट्रासाउण्ड पर रोक लगाने तथा नियंत्रण करने के लिए इस क्षेत्र में सबसे पहले 1994 में अधिनियम बनाया गया था और 1994 से इस पर बाकायदा पूर्णरूप से प्रतिबंध है, परन्तु इसके बावजूद भी कन्या भ्रूण हत्या में कभी नहीं आ रहा है। आइएमए का मानना है कि केवल कानून बनाकर इस सामाजिक बुराई को दूर नहीं किया जा सकता है। बल्कि लोगों के विचार धारा को बदलना होगा तब जाकर इसमें सफलता मिलेगी।

एक गैर-सरकारी एजेंसी के अनुसार प्रत्येक वर्ष लगभग 20 लाख कन्या भ्रूण

हत्या कर दिया जाता है। जबकि आईएमए ने यह आँकड़ा 50 लाख के करीब बताया है इसके आगे एजेन्सी के अनुसार भारत में प्रत्येक वर्ष में एक करोड़ बच्चियाँ पैदा होती हैं और करीब 20 लाख को जन्म से पहले ही मौत के घाट उतार दिया जाता है। इस प्रकार महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार देने की बातें करने वाले भारतीय समाज तथा राजनीतिक के लिए यह आँकड़ा शर्मनाक है तथा भारतीय समाज एवं राजनीतिक के लिए एक भयंकर तमाचा है। यह तथ्य इस बात की ओर इशारा करता है, कि भारतीय समाज कई प्रकार की समस्याओं से घिरता जा रहा है क्योंकि प्रारंभिक काल से भारतीय समाज में स्त्रियों को किसी न किसी रूप में शोषित होना ही पड़ता रहा है चाहे वह एक जवान स्त्री हो या बच्ची हो प्रत्येक रूप में शोषण का शिकार होना ही पड़ा है। इसके अलावा दहेज की कुप्रथा तो भारत में सदियों से ही रहा है इस बुराई को आधार बनाकर लड़कियों को मार डालने की कलुषित प्रवृत्ति तो इसी सभ्य और आधुनिक युग की देन है। इसके दुष्परिणाम का उदाहरण राजस्थान का एक आदिवासी गाँव है जहाँ पर 20-25 वर्ष के अधिकांश लड़के अविवाहित हैं इस बारे में पूछने पर बताया गया कि गाँव में लड़कियों की संख्या कम हो रही है, क्योंकि लिंग आधारित गर्भपात कराए जा रहे हैं

अंतर्राष्ट्रीय संस्था यूनीसेफ के अनुसार भारत के मात्र चार राज्यों को छोड़कर प्रत्येक राज्य से कन्या भ्रूण हत्या या नवजात शिशु हत्या का केस दर्ज हुए हैं क्योंकि केवल सिक्किम, नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम में ही अभी लोगों को इस बीमार मानसिकता ने नहीं जकड़ा है। जबकि तमिलनाडु में कल्लार और तोड़ा जातियों में राजस्थान में लड़ाकू राजपूतों में एवं हरियाणा में कई जातियों में नवजात शिशुओं को तंबाकू को चटाकर या जहरीली जड़ी बूटियों को दूध में पिलाकर मार देने के तरीके को प्रयोग में लाया गया है इसके अलावा कई स्थानों पर तो माता-पिता ने

स्वयं अपने बच्चों को जान से मार दिया है।

महाराष्ट्र सरकार ने 1988 में इसके रोकथाम के लिए “रेगुलेशन ऑफ यूज ऑफ प्री-नेटल डायग्नोस्टिक टैक्निक एक्ट” बनाया तथा लागू किया। इसका अनुसरण गुजरात, पंजाब तथा हरियाणा की सरकारों ने भी किया तथा अपने-अपने राज्यों में ऐसे ही कानून बनाया। केन्द्र सरकार भी इस दिशा में विशेष पहल किया है और 1994 में “प्री-नेटल डायग्नोस्टिक टैक्निक एक्ट” बनाया तथा यह 1996 से लागू हुआ। इसके अन्तर्गत गर्भावस्था के दौरान डायग्नोस्टिक केवल पंजीकृत क्लिनिकों तथा प्रयोगशालाओं में ही किया जाएगा। इस दौरान गर्भ के लिंग को बताना कानूनी रूप से अपराध माना गया है। इन कानूनों के कारण कन्या भ्रूण हत्या में कुछ कमी आयी है। आंकड़ों के अनुसार वर्ष 1999 में भ्रूण हत्या और नवजात शिशु हत्या के केवल क्रमशः 61 और 88 मामले ही दर्ज किए गए। भारतीय दंड संहिता की धारा-315 के अंतर्गत यदि जानबुझकर किसी शिशु को जन्म होने से रोकने अथवा जन्मोपरांत मारनेवालों को 10 वर्ष की कारावास का प्रावधान किया गया है। इसके अलावा “प्रीनेट डायग्नोस्टिक टैक्नीक रेगुलेशन तथा प्रिवेंशन और मिसयुज एक्ट” 1994 के तहत लिंग निर्धारण को बताने वाले क्लिनिक अथवा प्रयोगशालाओं के डाक्टरों के जुर्म सिद्ध हो जाने पर 3 साल तक कैद तथा 10 हजार रूपये तक का जुर्माने का प्रावधान किया गया है।

गत दो दशकों में एक करोड़ कन्या भ्रूण हत्या किए जाने संबंधी आंकड़ें भारत व कनाडा के संयुक्त शोधकर्ताओं द्वारा जनवरी 2006 में जारी एक अध्ययन रिपोर्ट में दिए गए हैं। इस रिपोर्ट में सबसे चौंकने वाला तथ्य यह है कि भारत में कन्या भ्रूण हत्या के लिए शिक्षित महिलाएँ अनपढ़ व अशिक्षित महिलाओं से अधिक उत्तरदायी पायी गयी है।

शोधकर्ताओं ने अध्ययन में यह भी पाया कि पहला बच्चा लड़का होने की स्थिति में लिंग अनुपात में जहाँ कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिला वहीं दूसरी ओर पहला बच्चा लड़की होने पर दूसरे बच्चे की स्थिति में लिंगानुपात प्रति एक हजार लड़कों पर 759 ही था। जबकि पहले दो बच्चों लड़कियाँ होने पर यह अनुपात और भी गिरकर प्रति एक हजार लड़कों पर 719 ही पाया गया है।

आज हम इस बात से पूर्ण रूप से अवगत हैं कि भारत देश में जनवरी, 1996 से प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम, 1996 से प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम, 1994 (संशोधित, 2002) के अंतर्गत गर्भस्थ शिशु के लिंग निर्धारण पर पाबंदी है। इस कानून के बनाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि लिंग निर्धारण परिक्षणों के उपरांत कराए जाने वाले कन्या भ्रूण के गर्भपात पर कानूनी रूप से रोक लगाया जा सके। परन्तु ऐसा नहीं हो सका।

वैसे भारतीय समाज में कुछ लोगों का मत है कि कन्या भ्रूण हत्या आधुनिक समय की माँग है क्योंकि इसके पक्ष में इन लोगों ने निम्नलिखित तर्क दिए हैं:-

1. अगर भ्रूण-हत्या कर दिया जाता है, तो इससे आबादी में हो रही अनावश्यक वृद्धि पर रोक लगता है जो वृहत्तर समाज के हित में हैं। यानि यदि 20 लाख भ्रूणों की हत्या प्रत्येक वर्ष किया जाता है, तो इससे अन्यथा बढ़ने वाली अतिरिक्त 20 लाख की आबादी नहीं बढ़ती। कई जनसंख्या शास्त्री इस मत से सहमत हैं। भारत सरकार के आँकड़े के अनुसार 1991 में 1.30 करोड़ बच्चों का जन्म गर्भपात कराने से रोका गया। इसमें 67 लाख अभिप्रेरित गर्भपात थे जिसमें बालिका भ्रूणों की हत्या अधिकतर थी।
2. जब महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति चिंताजनक है यानी

बचपन से बुढ़ापे तक उन्हें कुपोषण, दहेज-हत्या, असुरक्षा बेरोजगारी, निरक्षरता, बीमारी आदि का सामना करना पड़ता है, तो इससे बेहतर है कि जन्म के पहले ऐसी बालिका भ्रूणों को खत्म कर दिया जाए। प्रो. धर्मा इस मत से सहमत हैं।

3. चूँकि धार्मिक दृष्टि से माँ-बाप को अधिक संस्कार के लिए बेटे की चाह होती है इसलिए जिन माँ-बाप को बेटा नहीं है, उन्हें अपने गर्भस्था बालिका को खत्म करने का नैतिक एवं वैधानिक अधिकार होना चाहिए जिससे परिवार को ज्यादा बड़ा किए बिना बेटे की चाह पूरी हो।
4. चूँकि विवाह के बाद बेटियाँ अपनी ससुराल चली जाती हैं, इसलिए यदि घर में बेटा नहीं हो तो सरकारी सामाजिक सुरक्षा के अभाव में माँ-बाप की बुढ़ापे में देखभाल कौन करेगा? आदि यानि बालिका भ्रूणों को खत्म करके बेटे जनने का प्रयास जायज है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों एवं दलीलों से इस मामले को और जटिल बना दिया गया है। यदि कारण है कि भारत देश के कई भागों में यह कुप्रथा प्रचलित है, किन्तु तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, बिहार में विशेषरूप से प्रचलित है। इस कुप्रथा को बंद करने के लिए केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार लगातार भरसक प्रयास कर रही है। परन्तु जबतक भारतीय समाज की जनता एवं नागरिक इसे दूर करने का प्रयास नहीं करेगी तब तक यह कुप्रथा समाप्त नहीं होगी, क्योंकि यह बात सच है कि जो परिवार प्रजनन के पूर्व यौन-परीक्षण आदि कराने में असमर्थ होते हैं, वे कन्या के जन्म लेने पर उसकी हत्या कर देते हैं। इस प्रकार की समस्याएँ भारतीय समाज में लगातार बढ़ती ही जा रही है जिसे रोकना अति आवश्यक है।

उपर्युक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है, कि भारतीय समाज में महिलाओं का विभिन्न रूप से शोषण किया जाता रहा है जिसमें कन्या भ्रूण हत्या की समस्या विशेष रूप से प्रमुख माना जाता है जो वर्तमान समय में काफी कठोर रूप धारण करता जा रहा है। इसे रोका नहीं गया तो हो सकता है भविष्य में यह कई प्रकार से भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न करने में विशेष भूमिका अदा करे। अतः इस ओर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है तथा इसे रोकने का प्रयास होना चाहिए।

कन्या भ्रूण हत्या को रोकने के लिए प्रयास:-

भारतीय समाज से कन्या भ्रूण हत्या को रोकने तथा इस पर पूर्ण रूप से नियंत्रण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर 1974 में सर्वप्रथम पहल किया गया। सरकार द्वारा वर्ष 1974 में “मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रिग्नेंसी एक्ट” पारित किया गया। इसके अंतर्गत यह प्रावधान किया गया कि यदि गर्भस्थ शिशु के बारे में यह पता चल जाए कि वह असामान्य है और परिवार नियोजन के साधनों के पश्चात् भी गर्भ में ठहर गया हो तो ऐसी स्थिति में गर्भपात कराना गैर-कानूनी नहीं होगा बशर्ते कि यह सारी प्रक्रियाएँ 20 सप्ताह के भीतर हो जाए। इसके बाद यह निर्धारित किया गया कि लिंग चयन में पहली बार दोषी पाए जाने पर तीन साल की सजा और 50,000/- रुपये की जुर्माना होगी। इसके अलावा यदि इसकी पुनरावृत्ति होने पर 5 साल की सजा और एक लाख रुपये जुर्माना होगा। इसके अतिरिक्त भी कुछ प्रयास हैं। जैसे-

1. प्रत्येक परामर्श केन्द्र प्रयोगशाला तथा क्लिनिक के लिए अपना पंजीकरण कराना अनिवार्य है।
2. गर्भपात महिला का पति या कोई रिश्तेदार उसे प्रोत्साहित नहीं करेगा और न परीक्षा कराएगा।

3. गर्भवती महिला की लिखित सहमति होनी चाहिए तथा इन परीक्षाओं को करने वाले व्यक्ति द्वारा किसी को भ्रूण के लिंग के बारे में बताया नहीं जा सकता।
4. भ्रूण के लिंग की जाँच के संबंध में इशतेहार अथवा प्रकाशन प्रतिबंधित है।
5. प्रत्येक केन्द्र के मुख्य स्थान पर “भ्रूण के लिंग की जाँच कराना कानूनी रूप से प्रतिबंधित है” को अंग्रेजी तथा स्थानीय दोनों भाषा में जन-सामान्य के लिए नोटिस लगाना अनिवार्य किया गया है।
6. कन्या भ्रूण हत्या के समाधान के लिए सुझाव को भी देखा जा सकता है। इस समस्या को हल करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप। और विभिन्न सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संगठनों जैसे: इंडियन मेडिकल एसोसिएशन, यूनिसेफ, राष्ट्रीय महिला आयोग, गैर-सरकारी महिला संस्थाओं के साथ-साथ देश भर अनेक धार्मिक नेताओं ने कई प्रकार के विशेष सुझावों को प्रस्तुत किया है। जैसे:-
7. 1994 में बनाया गया प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम जिसे 2002 में इसे संशोधित किया गया है। इसके अंतर्गत इसे सभी प्रयोगशालायों, परीक्षण केन्द्रों तथा परामर्श केन्द्रों का पंजीकरण कराना अनिवार्य होना चाहिए ताकि यहाँ गलत कार्य न हो सके।
8. इस अधिनियम का पालन न करने वाले पर शीघ्रताशील कार्यवाही कर उन्हें शीघ्र ही सजा दिलवाना चाहिए।
9. कानून का कड़ाई से अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

10. बालिकाओं के कल्याण और विकास हेतु बालिका समृद्धि योजना किशोरी शक्ति योजना जैसी केन्द्रीय योजनाएं तथा कन्या विधाधन योजना, बालिकाश्री योजना, कन्या विवाह अनुदान योजना तथा गाँव की बेटा योजना जैसी अनेक योजनाएं राज्य सरकारों द्वारा चलाए जा रहे हैं इसका प्रचार व प्रसार भी विशेष रूप से करना चाहिए।

अतः उपर्युक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है, कि कन्या भ्रूण हत्या की कुरीति के फैलने के कारण हमारे समाज की जड़ में व्याप्त है अर्थात्, कन्या भ्रूण हत्या के विभिन्न कारण हैं जिनमें सामाजिक, आर्थिक हमारा देश जो विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, भाषा-भाषियों का देश है तथा धार्मिक तथा सांस्कृतिक कारण महत्वपूर्ण रूप से विद्यमान देश है तथा यहाँ भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विषमताएं विद्यमान हैं। हमलोग 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर गए हैं परंतु आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपने कुल के चिराग को पाने के लिए भ्रूण की जाँच करवाते हैं। इस दिशा में सरकार को कुछ नए व ठोस कदम उठाने की विशेष आवश्यकता है जिससे कन्या भ्रूण हत्या जैसे अपराध को रोका जा सके। “जिससे इन अधखिले फूलों को भी पूरी तरह से खिलने का अवसर मिल सके।”

संदर्भ सूची:-

- (1) भारतीय समाज-एस.एल. दोषी एवं पी.सी. जैन
- (2) भारतीय महिलाएं-दशा एवं दिशा-सुभाष शर्मा
- (3) बदलते भारत की समस्याएं-क्रोनिक बुक्स
- (4) प्रतियोगिता दर्पण-अप्रैल, 2007 एवं जून, 2008
- (5) योजना-अक्टूबर 2008
- (6) राष्ट्रीय सहारा समाचार पत्र-2008

भीम राव अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।
नीतीश्वर महाविद्यालय

वर्तमान समय में पंचायतों के बदलते स्वरूप: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. अफरोज एकबाल

स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माताओं ने भारत के राष्ट्रपिता स्व. महात्मा गाँधी तथा 1948 में गाँधीवादी पी. के. सन्थानम के प्रस्तावित संशोधन को संविधान सभा ने स्वीकार करते हुए राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांतों के अन्तर्गत भारतीय संविधान के अनुच्छेद-40 में व्यवस्था को लागू किया कि “राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियाँ व अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो। इसी सकल्पना को साकार करते हुए तत्कालिन प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोहन लाल सुरवाड़िया की अध्यक्षता में 1959 में नागौर जिला में पंचायतीराज की नींव रखी गई फिर आंध्रप्रदेश, तामिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात आदि राज्यों में स्थापना किया गया। पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर सातवीं पंचवर्षीय योजना तक पंचायतीराज संस्थाओं की स्थिति काफी हद तक कमजोर रही। वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य सरकारों की कृपा पर निर्भर रही, क्योंकि उन्हें संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था। तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिंंहाराव के नेतृत्व में केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्री श्री बैंकट स्वामी ने संसद के पटल पर एक विधेयक रखा जिसे राष्ट्रपति द्वारा 24 मार्च 1993 को मंजूरी मिल गयी। अतः संविधान में 73 वां व 74 वां संशोधन किया गया। संविधान के 73 वां व 74 वां संशोधन अधिनियम 1992 के फलस्वरूप भारतीय संविधान में भाग-9 को जोड़कर अनुच्छेद-243 (क से ण तक) जोड़ते हुए पंचायतीराज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

देश में आधी आबादी महिलाओं की है इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन्हें भी देश के विकास में पुरुष के समान भूमिका निभाने का अवसर मिलना चाहिए। इस संविधान में महिलाओं के लिए एक-तिहाई (33 प्रतिशत) सीटें आरक्षित की गयी हैं। आज भारत में 09 लाख से अधिक महिलाएं निर्वाचित प्रतिनिधि हैं। जो विश्व के किसी भी देश में नहीं हैं। बिहार में पंचायतीराज अधिनियम 2006 में लागू किया गया है, जिसके द्वारा पंचायतीराज राजव्यवस्था और सशक्त हो गया हैं इस अधिनियम के तहत न्याय पंचायतों/ग्राम कचहरियों का गठन किया गया, जिससे ग्रामीणों को उनके द्वार पर ही उचित न्याय मिल सकें। बिहार पंचायतों का निर्वाचन मई-जून 2006 में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। बिहार देश का प्रथम राज्य है, जहाँ पंचायतीराज में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण मिला है। जिसे केन्द्रीय सरकार ने भी मान्यता प्रदान कर दिया है। इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता है कि 50 फीसदी आरक्षण पूर्व मुखिया, सरपंचों की बहू-बेटियों, पत्नियों को निर्वाचित होने का अवसर देकर विरासत की परंपरा को भी एक सीमा मजबूत

करेगा। किन्तु 2006 के चुनावों में बहुत सारे नतीजे वैसी स्त्रियों तथा पुरुषों के पक्ष में गए हैं। जिनकी कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं है। ऐसे भी नतीजे सामने आए हैं, जहाँ दबंगों ने शिकस्त खाई है और ईमानदार छवि वाले स्त्री-पुरुष प्रत्याशी जीते हैं। ऐसे नतीजे जनता द्वारा विकास और काम के प्रति आग्रह को वरीयता देने की मानसिकता को रेखांकित करते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो पंचायतीराज के बदलते स्वरूप में विभिन्न प्रकार की नयी तस्वीरों को देखा जा सकता है। इसके अलावा कई प्रकार के नए-नए विचारों तथा उपलब्धियों को हम देख सकते हैं। यहां तक राजनीतिक के प्रत्येक क्षेत्र में इसे मुख्य रूप से पाते हैं।

प्रायः पंचायतों की भूमिका अब तक संकुचित अर्थ में जी जाती रही है कि पंचायत का कार्य मात्र आपसी झगडों को निपटाना और दोषी व्यक्ति को दण्डित करना है। इस अर्थ के प्रसार में मीडिया या सिनेमा जैसे मनोरंजन के साधनों की भूमिका भी कम नकारात्मक नहीं रही है। जहाँ ताकतवार व्यक्ति पंचायत में अपने पक्ष में निर्णय करा लेता है और गरीब एवं कमजोर पक्ष पंचों के निर्णय को परमेश्वर का निर्णय मानने को बाध्य हो जाता है। जबकि वर्तमान समय के प्रगतिशील एवं प्रतिस्पर्धि युग में पंचायत से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह या संस्था से है जो परमेश्वर स्वरूप न होकर आम लोगों में से चुने गए प्रतिनिधि हैं और जिनकी सोच तथा भूमिका ऐसे प्रत्येक कार्य से जुड़ी हुई है जो गांव को राष्ट्रीय विकास की मुख्यधारा से जोड़ दें। आज सामान्यतः पंचायतों के लिए जो कर्तव्य एवं दायित्व निर्धारित किए गए हैं, उनमें आर्थिक विकास एवं न्याय से सम्बन्धित योजनाओं को तैयार करना, सामाजिक न्याय की योजनाओं का क्रियान्वयन, भूमिसूधार, लघु सिंचाई, पशुपाल, मत्स्य पालन, शिक्षा, महिला तथा बाल विकास आदि शामिल हैं। किन्तु पंचायत की भूमिका को और अधिक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है। ताकि पंचायत में चुने गए लोग ही नहीं बल्कि गांव का प्रत्येक व्यक्ति विकास को अपना कर्तव्य एवं दायित्व समझे और गांव किसी भी मामले में शहर से कम न हों, यही इरादा होना चाहिए। पंचायतों के द्वारा गांव के विभिन्न प्रकार की समस्या का भी निदान किया जा रहा है और जहाँ तक संभव है वहाँ तक पंचायतीराज अपनी भूमिका को अदा कर रही है तथा बढ़चढ़ कर यह अपने कर्तव्यों का पालन भी कर रही है। पंचायतों के द्वारा आज गांव में विभिन्न प्रकार की विवादों का भी निपटारा किया जा रहा है, जो सराहनीय है।

वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में लोग अब ई-गवर्नेंस के माध्यम से अपने ग्राम पंचायत के कार्यालयों में जन्म और मृत्यु प्रमाण-पत्रों, कर अदायगी, ई-मेल इत्यादी जैसी सेवाओं का लाभ उठा सकेंगे। ग्राम पंचायत के अध्यक्ष या सरपंच सूचना एवं संचार

प्रौद्योगिकी की शुरुआत के बाद इनके माध्यम से पंचायत कार्यालय में अपने कम्प्यूटर पर पंचायत केन्द्रित स्कीमों की निगरानी, वित्तीय लेखा-जोखा और रिपोर्ट भेजने और ग्राम सभा एवं पंचायत बैठकों के रिकार्ड रखने का काम कर रहे हैं। पंचायतीराज के लिए सूचना प्रौद्योगिकी पर विशेषज्ञ समिति ने सिफारिशें सौंप दी है। यह रिपोर्ट बहुप्रणाली प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण का अभिन्न हिस्सा बनने के लिए सूचना व संचार प्रौद्योगिकी के प्रयोग की सिफारिश करती है। इस समिति ने हार्डवेयर एवं सिस्टम सॉफ्टवेयर, एप्लीकेशन सॉफ्टवेयर, ओपन स्टैंडर्ड्स क्षमता निर्माण, राष्ट्रीय पंचायती पोर्टलों और सुविधा प्रबंधन पर विस्तृत सिफारिशों की है। पंचायत स्तर पर सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की शुरुआत न केवल प्रौद्योगिकी को साथ प्रयोग की अनुमति देगी बल्कि प्रौद्योगिकी को समझने का भी लोगों को अपार अवसर प्रदान करेगी। चाहे वह प्रौद्योगिकी सॉफ्टवेयर, हार्डवेयर, नेटवर्किंग, ऊर्जा आपूर्ति से संबंधित हो या किसी अन्य मुद्दे से हो जिसकी वजह से ऐसी प्रौद्योगिकी का विकास हो पंचायतीराज में लागू किया जाए। ऐसी पहल जमीनी एवं बड़े स्तर पर रोजगार के अवसरों का निर्माण करेगी। जैसाकि इसने शहरी क्षेत्रों में संचालन सेवओं, निर्वाह और कई अन्य सहायक क्षेत्रों के रूप में दिया है। यह पहल ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के प्रयोग की संस्कृति को इस सीमा तक फैलाएगी जहां तक किसी और प्रयास से संभवतः नहीं पहुंच सकते।

पंचायत के बदलते स्वरूप के अन्तर्गत पंचायत ने विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा किया है। जो काफी सराहनीय है इसके विवरण निम्न है।

रोजगार एवं ग्राम पंचायतें:- ग्रामीण भारत में करीब 73 प्रतिशत परिवार और कुल जनसंख्या की लगभग 75 प्रतिशत आबादी निवास करती है। आज भी गांवों से महानगरों की ओर ग्रामीणों की पलायनवादी संस्कृति बढ़ रही है। जिससे महानगरों में नागरिक सुविधाओं का ढाँचा चरमरा रहा है, और कई जगह तो स्थानीय आबादी और बाहर से आए लोगों के बीच तनाव के भी हालात निर्मित होकर, कई कड़वे तथ्य कुलबुलाते रहे हैं। देश में

आर्थिक उदारीकरण शुरू हुए लगभग 16 वर्ष बीत गए हैं लेकिन करीब 30 करोड़ लोग ऐसे हैं जो गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। उनके पास अपना व्यवसाय शुरू करने के लिए पूंजी का अभाव है। ऐसे लोगों को ग्राम पंचायतें, जिन्हें की स्थानीय सरकार भी कहा जाता है, अपने गांव में उपलब्ध संसाधनों, लोगों की क्षमताओं एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रोजगार के अवसर सृजन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कुटिलता, प्रकृति की मार एवं लचर सत्तासीन सरकारों एवं कमजोर प्रशासन तंत्र की वजह से देश में बेरोजगारी बढ़ी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बेरोजगार सदैव सजग सक्रिय और सचेत रहे। इसके अलावा सत्ता के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का श्रेय पंचायतीराज को ही जाता है। जाहिर है कि त्रिस्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था का दीप प्रज्वलित कर 73 वें संविधान संशोधन का मकसद ग्राम पंचायतों के ढाँचे और कार्यकलापों में परिवर्तन करके, विकास कार्यों में ग्रामीण लोगों की सहभागिता और रोजगार को बढ़ाना रहा है। आज देश में रोजगार विहिन आर्थिक विकास बढ़ रहा है, जिससे ग्रामीणों की आर्थिक दशा निरंतर बिगड़ती जा रही है।

किसी भी राष्ट्र का भविष्य बहुत कुछ इस बात निर्भर करता है, कि ग्रामीण क्षेत्र का किस गति से विकास हो रहा है। यह युग गति की सर्वोच्च स्थिति जानने का है। इसकी क्रम में ग्रामीण भारत के चहुँमुखी विकास को गति प्रदान करने के लिए भारत निर्माण योजना शुरू की गयी है। इसके अन्तर्गत 2005-2006 से 2008-09 के दौरान गांवों में विकास कार्यों पर 1,74,000 करोड़ के अपेक्षित निवेश के साथ चार वर्ष में बुनियादी ढाँचे का निर्माण किया जा सके। यदि देश के विकास में ग्रामीण रोजगार की योजनाएँ गंभीर विचार-विमर्श से बनें तो एक शक्ति सम्पन्न, उन्नतशील और विकसित राष्ट्र का निर्माण होगा। इसके अलावा लघु एवं कुटीर उद्योग अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं, जो बड़ी मात्रा में गांव के प्रत्येक वर्ग और तबके को रोजगार से जोड़ते हैं। लघु एवं कुटीर उद्योगों में स्थानीय संसाधनों तथा

मानवीय श्रम का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित रूप से होता है। मौसमी प्रवृत्ति होने के कारण देश के किसान लगभग छः माह बेरोजगार रहते हैं, क्योंकि न तो उनके पास पर्याप्त भूमि है और न ही खेती बाड़ी का पर्याप्त कार्य है। ऐसे में यदि लोग स्थानीय कृषि उत्पादन एवं वहां की आवश्यकताओं में तालमेल रखते हुए, छोटे उद्योग लगाए तो रोजगार भी मिलेगा और गांव का आर्थिक विकास भी होगा। वास्तव में भारी उद्योग में रोजगार के अवसर कम होते हैं लघु और कुटीर उद्योग में अधिक। इसलिए लघु एवं कुटीर उद्योग लगाने के लिए ग्राम पंचायतें विषय विशेषज्ञों के गांव में बुलाकर जिला उद्योग केन्द्र के माध्यम से प्रशिक्षण व्यवस्था आयोजित कर सकती है। परम्परागत उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने, माल की गुणवत्ता का उन्नयन करने लागतों को घटाने तथा उच्च प्रौद्योगिकी का उपयोग करने से औद्योगिक सफलता बढ़ जाती है। साथ ही पूंजी निर्माण में स्वयं सहायता समूह मददगार हो सकते हैं।

आपदा प्रबंधन में पंचायत का योगदान:- लगभग भारतीय लोकतंत्र में अब तक का महान्तम प्रयोग कहा जाने वाला 73 वां संविधान संशोधन अधिनियम के सोलह वर्ष पूर्ण हो जाने के उपरांत, आम जनता की अपेक्षाएँ ग्राम पंचायतों और पंचायत समितियों के प्रति बढ़ी है। ग्रामीण जनता अब पंचायत को केवल विकासोन्मुख संस्थाओं के रूप में ही नहीं देखती, बल्कि इसे यह स्थानीय स्तर की समस्त समास्याओं का बेहतर समाधान करने वाले महत्वपूर्ण अधिकरण के रूप में भी देख रही है। ऐसे में पंचायतीराज के सशक्तिकरण के साथ ही यह चिंतन भी शुरू हुआ है कि पंचायतीराज संस्थाओं के माध्यम से ग्राम स्तरीय सेवाओं में किस प्रकार सुधार किया जाए। इसी पृष्ठभूमि के आलोक में अचानक घटने वाली आपदाओं या संकटों के समाधान में भी पंचायत को महत्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी गयी है। वस्तुतः आपदा अचानक घटने वाली वह घटना है जिससे सामान्य जनजीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। कभी-कभी यह इतनी भयानक होती है कि आम जनजीवन से लेकर जीव जन्तुओं पर भी कहर ढा जाती है। यद्यपि आपदा रोकी नहीं जा सकती किन्तु अगर

जनसाधारण को इनकी विभिन्निकाओं से बचने की जानकारी हो, तो नुकसान कम से कम हो सकता है। चूंकि देश की अधिकांश आबादी जो गांवों में रहती है, वह कम पढ़ी-लिखी एवं आपदा संबंधी बचाव के तरीकों से अज्ञान होती है, उन्हें आपदा सम्बन्धी बातों की व्यापक जानकारी देकर आपदा प्रबंधन में उनकी भागीदारी प्राप्त की जा सकती है। आज की बदलती परिस्थितियों एवं पंचायतीराज के वैधानिक गठन के पश्चात जो आपदाओं से निबटने में स्थानीय जागरूकता एवं जन सहभागिता की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है।

पंचायतीराज के वैधानिक गठन के बाद लगभग सभी राज्यों में ऐसी व्यवस्था की गयी है, जिससे पंचायत अपने क्षेत्रों में आपदा के दुष्परिणामों को कम करने के लिए आवश्यक कदम उठा सके। उदाहरणस्वरूप बिहार पंचायतीराज अधिनियम- 2006 की धारा 10 (क) के अनुसार ग्राम पंचायतों के कार्यों एवं योजनाओं तथा अन्य कार्यकलापों, जो उस ग्राम से संबंधित हो, का पर्यवेक्षण करने और उनसे संबंधित रिपोर्ट बैठक में प्रस्ताव करने के लिए ग्राम सभा एक या एक से अधिक निगरानी समितियों को गठित कर सकेगी, जिसमें वैसे व्यक्ति होंगे जो ग्राम पंचायत के सदस्य नहीं हों। इसी प्रावधान के तहत ग्राम सभा यदि चाहे तो आपदा प्रबंधन समिति का गठन भी कर सकती है। संविधान के अध्याय 3 की धारा 22 के तहत ग्राम पंचायत को निम्नलिखित कार्यों के निष्पादन का अधिकार दिया गया है। जो निम्नलिखित इस प्रकार है।:-

1. पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए वार्षिक योजनाओं को तैयार करना।
2. वार्षिक बजट को तैयार करना।
3. प्राकृतिक संकट में सहायक कार्य करना।
4. लोक सम्पत्ति से अतिक्रमण हटाना।
5. स्वैच्छिक श्रमिकों को संगठित करना और सामुदायिक कार्यों में सहयोग करना तथा आगे बढ़ाना।
6. गाँवों के अनिवार्य सांख्यिकी आंकड़ों को सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध करना। आदि

इस प्रकार उपर्युक्त सभी कार्य पंचायत के सामान्य कार्य हैं, जिनके अंतर्गत ग्राम पंचायत आपदा प्रबंधन पर कार्य कर सकती है। पंचायत अपने क्षेत्र में पहले आई आपदाओं एवं उनसे हुए क्षति के विषय में आंकड़े इकठे करके एक नक्शा बनवा सकती है तथा समाधान कर सकती है।

पंचायतीराज अधिनियम 2006 के अध्याय 04 की धारा 42 के अनुसार पंचायत समिति क्षेत्र में प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित जनजीवन को तत्काल राहत देने के प्रयोजनार्थ पंचायत समिति प्रमुख को एक वर्ष में कुल पच्चीस हजार रुपये तक की राशि स्वीकृत करने की शक्ति है। इसी अध्याय की धारा 47 में कहा गया है कि पंचायत समिति, प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित व्यक्ति को राहत देगी। बिहार पंचायतीराज अधिनियम 2006 में दिए इन प्रावधानों के अलावा आपदा प्रबंधन के क्षेत्र में पंचायत समिति अपनी विशेष बैठक बुलाकर प्रस्ताव को पारित करके जिला परिषद से समाधान के लिए अनुरोध कर सकती है। इसके अतिरिक्त अध्याय 6 की धारा 69 के तहत जिला में प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित लोगों को तत्काल राहत देने के लिए उसे एक वर्ष में कुल एक लाख रुपये तक की राशि स्वीकृत करने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार देखा जाए तो ग्रामीण स्तर पर आपदाओं से निपटने के लिए पंचायत एक विशेष तथा महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इसके साथ ही पंचायतों को एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके लिए पंचायत को तीन प्रकार के कार्य को करना होगा। प्रथम तो यह कि अपने क्षेत्र में आने वाली आपदाओं की पहचान कर उसका हल ढूंढना होगा तथा दूसरा यह है कि आपदा के समय प्रभावित क्षेत्र के व्यक्तियों से संपर्क को बनाकर सुरक्षित स्थानों की जानकारी देना होगा और अंतिम में तीसरा यह कि आपदा के बाद जखमी लोगों को प्रत्येक राहत एवं बचाव कार्य करना होगा। इसके साथ ही पंचायतीराज संस्थानों की एकमात्र चिंता अधिक से अधिक निर्माण कार्य को स्वीकृत कराकर उनका क्रियान्वयन करना रहा है। कुछ विद्यालय भवन या कुछ अतिरिक्त

कमरे, आंगनबाड़ी भवन, कुछ उप स्वास्थ्य केन्द्र भवन, कुछ किलोमीटर सड़कों, खरंजा व नालियां निर्माण कार्य की स्वीकृत करा कर अपनी एक विशेष छवि को बनाने में सफल रहा है और लगातार उपलब्धि प्राप्त कर रहा है।

निष्कर्ष:- इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि पंचायतीराज ने भारतीय समाज के विकास में अपनी विशेष एवं महत्वपूर्ण भूमिका को अदा किया है जो काफी सराहनीय है। वैसे भी सही में देखा जाए तो पंचायतीराज लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार रहा है। परन्तु मूलतः विकेन्द्रीयकरण पर आधारित शासन व्यवस्था भारतीय ग्रामीण समाज को शसक्त बना सकता है। लेकिन यह बात भी पूर्णतः सत्य है कि शासन के उच्च स्तरों पर कोई भी लोकतंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता है, जब तक कि निचले स्तर पर लोकतांत्रिक मान्यताएं एवं मूल्य सशक्त नहीं हों। इसलिए लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में पंचायतीराज हि वह एक महत्वपूर्ण माध्यम है जो शासन को सामान्य जन के दरवाजे तक लाता है। इस बारे में विद्वानों ने कहा है कि “ पंचायतीराज व्यवस्था भारतीय ग्रामीण समाज की रीढ़ है”

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. फीमेल दी-प्रजेन्टेशन इन पंचायतीराज न्यू क्यूसट, -मई-जून-(1785) रोहिणी गवनकर।
2. रोल ऑफ वूमन इन पंचायतीराज दि एडमिनिस्ट्रेटर-टवरू गोस्प।
3. भारत में स्थानीय शासन-के. एल. शर्मा।
4. 73 वें संविधान संशोधन एवं पंचायतीराज अधिनियम 1993।
5. बिहार में पंचायतीराज व्यवस्था-डॉ. खगेन्द्र कुमार।
6. बिहार समाचार, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, बिहार सरकार।
7. योजना-अगस्त 2005, जनवरी 2002, अगस्त 2008 एवं अगस्त 2009।
8. कुरुक्षेत्र-मई 2007 व अगस्त 2008।
9. प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहाय, दैनिक हिन्दूस्तान, द हिन्दु आदि समाचार पत्रों कटिंग।
10. बिहार पंचायतीराज अधिनियम-2006।

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग,
गर्वमेन्ट, पी.जी. कॉलेज, नारायण
नगर, पितौरागढ़ (उत्तराखण्ड)

साम्प्रदायिकता: उद्भव एवं विकास—एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल एवं गजनफर आलम

Abstract

साम्प्रदायिकता वह संकीर्ण मनोवृत्ति है जो धर्म, साम्प्रदाय व पंथ के अपने आर्थिक व राजनीतिक स्वार्थों के पूर्ति के लिए पायी जाती है। जिसका परिणाम धार्मिक समूहों में तनाव एवं संघर्ष के रूप में होता है। भारत में समय-समय पर आक्रमणकारी के रूप में विभिन्न धर्मों, प्रजातियों एवं संस्कृतियों के लोग आते रहें हैं। कई सांस्कृतिक एवं धार्मिक समूहों का तो भारतीय समाज में सामंजस्य हो गया, कई उसमें विलीन हो गये, किंतु कईयों ने पृथक अस्तित्व बनाये रखा और समय-समय पर धार्मिक एवं सांस्कृतिक तत्वों को जन्म दिया। साम्प्रदायिकता के समान ही भारत में क्षेत्रवाद, जातिवाद एवं भाषावाद की समस्याएँ भी मुँह बाये खड़ी हैं। ये चारो समस्याएँ एक-दूसरे से संबंधित हैं, एक-दूसरे को उत्पन्न करती हैं। राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में ये सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। रेमण्ड हाउस डिक्सनरी के अनुसार “साम्प्रदायिकता अपने ही जातीय समूह के प्रति न कि समग्र समाज के प्रति तीव्र निष्ठा की भावना है।” अतः साम्प्रदायिकता की निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती हैं।

1. साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध धार्मिक समूहों से है अर्थात् एक धर्म के व्यक्ति अपने को एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित मानते हैं, किंतु जहाँ एक धर्म में ही विभिन्न मत-मतांतर हैं वहाँ साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध एक धर्म में ही विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों से होता है।
2. साम्प्रदायिकता में यह भाव विद्यमान होते हैं कि अपना ही धर्म या पंथ श्रेष्ठ है, अपनी भाषा एवं संस्कृति श्रेष्ठ है।
3. साम्प्रदायिकता में अन्य धर्मों, भाषाओं एवम् संस्कृतियों के प्रति घृणा, तिरस्कार एवम् उपेक्षा के भाव पाये जाते हैं। ये विरोधी भाव ही साम्प्रदायिक तनाव एवम् संघर्ष पैदा करते हैं।
4. साम्प्रदायिकता पारस्परिक स्नेह एवम् सहयोग के स्थान पर सामाजिक एवम् राजनीतिक अलगाव पैदा करती है।
5. साम्प्रदायिकता का आधार लोगों में उत्पन्न यह वास्तविकता या काल्पनिक भय है कि अन्य धार्मिक समूह उनके सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देंगे और जान-मान की क्षति पहुँचायेंगे आदि।

प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया

गया है कि साम्प्रदायिकता के उद्भव के कौन-कौन से कारक थे तथा उसके विकास में कौन-कौन से कारकों ने सहयोग प्रदान किया। दूसरी ओर इसके अधतन विध्वंसात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

परिचय: साम्प्रदायिकता सामुदायिक मस्तिष्क की उपज है। यह आर्थिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी हैं इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है, बल्कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय भी जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णाता के लिए धर्म का सहारा लेती है, जिससे तनाव बढ़ता है।

भारत में उग्र साम्प्रदायिकता का उदय चाहे 19वीं एवं 20वीं सदी में हुआ हो किन्तु इसका इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीन समय से ही अनेक आक्रमणकारी समूहों के रूप में भारत आते रहे, लेकिन मुस्लिम आए तो वे एक नई संस्कृति और धर्म लेकर आये। जिसका संघर्ष हिन्दू-संस्कृति से हुआ। दोनों में समन्वय की भावना बढ़ी लेकिन मौलिक मतभेद समाप्त नहीं हुए। कहीं धार्मिक कट्टरवादिता ने आग में घी का काम किया। हिन्दू साम्प्रदायिकता के आलोचकों ने इसकी मूल की खोज दयानंद सरस्वती के आर्य समाज के आन्दोलन से की जो ईसाईयत और इस्लाम के खिलाफ रहा। हिन्दू महासभा के नेता वीर सावरकर ने हिन्दू को परिभाषित करते हुए कहा “जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि और पुण्य भूमि समझता है वही वास्तव में हिन्दू होता है” ऐसी व्याख्या इस्लाम विरोधी थी क्योंकि मुसलमान भारतवर्ष को पुण्य भूमि स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते। 1925 में डॉ. केशवराय बलिराम हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की जिसमें हिन्दू समुदाय को सैन्य प्रशिक्षण प्रदान करना शुरू किया। संगठन ने हिन्दू राष्ट्रवाद की कल्पना प्रस्तुत करते हुए गैर हिन्दुओं को इससे विमुख कर दिया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय 1920 में अहमद बरेलवी द्वारा चलाये गए जिहाद आन्दोलन से हुआ। 1875 में अलीगढ़ आन्दोलन ने वैमणस्यता को बढ़ाया। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में मौलाना मौदूदी द्वारा स्थापित जमाते इस्लामी,

1953 में अलीगढ़ और 1961 में नई दिल्ली में हुए मुस्लिम कन्वेंशनों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन संगठनों ने मुस्लिम सामुदाय को सक्रिय करके एक दबावकारी गुट बना दिया ताकि विशेष अधिकार प्राप्त किया जा सकें। अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति ने उग्र साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कहना था कि यदि साम्प्रदायिकता के इतिहास का तटस्थ अध्ययन करें तो यह ज्ञात होगा कि जब-जब हिन्दू-मुस्लिम एकता के करीब पहुँचे, कार्यों में सामान्यस्य हुआ, अधिकारों की मांग की तब-तब साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हुआ। बाँटो और खाओ की नीति का पहला लाभांश मार्ले-मिण्टो सुधार के रूप में देखने को मिला। लेकिन मूलरूप से 1919 के सुधारों ने आधुनिक राजनीतिक साम्प्रदायिकता का उद्घाटन किया। फलतः देश दो भागों में बँट गया।

अध्ययन उद्देश्यः प्रस्तुत अध्ययन “साम्प्रदायिकता उद्भव एवं विकास एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण” को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है।

- 1) साम्प्रदायिकता के उद्भव के कारणों का पता लगाना।
- 2) इसके विकास में किन-किन कारणों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है इसकी खोज करना।
- 3) इसके पीछे समाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों में कौन से कारण अधिक उत्तरदायी हैं, इस पर प्रकाश डालना।
- 4) साम्प्रदायिक हिंसा का प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास पर प्रकाश डालना।
- 5) साम्प्रदायिकता के अधतन विध्वंसात्मक पहलुओं की खोज करना।
- 6) इस शोध-पत्र द्वारा यह पता लगाया जायेगा कि सरकारी स्तर पर इसके रोक थाम के लिये क्या प्रयास किये जा रहे हैं।

7) इस शोध-पत्र के माध्यम से यह सुझाव दिया जायेगा की सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर क्या प्रयास किये गये।

शोध की उपकल्पनाएँ: किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए समाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन सफलतापूर्वक तबतक संभव नहीं है जब तक अध्ययन से संबंधित विषय का आरंभिक ज्ञान ना हो। फलतः अध्ययन विषय को दिशा व वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए अध्ययन से संबंधित निम्नलिखित उपकल्पनाओं का निर्माण किया गया है।

- 1) साम्प्रदायिकता का बीजारोपण प्राचीन काल में ही हो गया।
- 2) साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मानसिकता है जिससे भारत के विकास में अवरोध उत्पन्न हो रहा है।
- 3) साम्प्रदायिकता राष्ट्र निर्माण में बाधक है, जिससे सांस्कृतिक एवं समाजिक एकता नष्ट होती है।
- 4) साम्प्रदायिकता को शिक्षा, सहिष्णुता एवं समाजिक विकास से रोका जा सकता है।
- 5) भारत सरकार के कानून में ढिलापन भी इसके लिए कम जिम्मेवार नहीं है।
- 6) गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक साम्प्रदायिकता तनाव देखे जाते हैं।
- 7) राजनीतिक व्यवस्था साम्प्रदायिकता तनाव को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।
- 8) साम्प्रदायिक तनाव भूमण्डलीकरण के इस दौर में कम होता प्रतीत हो रहा है।
- 9) हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक साम्प्रदायिक होते हैं, क्योंकि उन्हें सांस्कृतिक लोप का डर बना रहता है।

अध्ययन पद्धति:

- (1) प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक श्रोतों के तहत पुस्तकालय में उपलब्ध

अध्ययन विषय से संबंधित विभिन्न पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, इन्टरनेट, पेपर कटिंग आदि का उपयोग किया गया है।

- (2) प्रस्तुत शोध अध्ययन में यथा संभव प्राथमिक श्रोतों का भी प्रयोग किया गया है, निकटवर्ती क्षेत्र जैसे- भागलपुर, सीतामढ़ी, भोजपुर, मऊ, गाजीपुर, जहानाबाद आदि जगहों पर जाकर अनुसूचि के माध्यम से सूचनाओं को एकत्रित किया गया है।

अध्ययन समीक्षा: समाजशास्त्रियों ने सामाजिक तनाव और दंगों पर बहुत कुछ अनुसंधान कार्य किया है। इन दंगों का विश्लेषण विभिन्न विचार धाराओं द्वारा किया गया है। उदाहरण के लिये विपिनचन्द्रा, कम्यूनेलिज्म इन मॉडर्न इंडिया -1984 में भारतीय साम्प्रदायिकता को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखते हैं। दूसरी ओर एस. सी. दूबे, ट्रेडिशन एण्ड डेभलेपमेंट -1990 में साम्प्रदायिकता की व्याख्या प्रकार्यात्मक संदर्भ में करते हैं। असगर अली इंजीनियर ने कम्यूनेल राइट्स इन पोस्ट इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया के भारती साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक और आनुभविक स्तर पर विश्लेषण किया है। ये अध्ययन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित होने पर भी साम्प्रदायिक तनाव का होना प्रजातांत्रिक मूल्यों का अभाव बताता है। कुछ समूहों में होने वाले तनाव जैसे- हिन्दू-मुसलम तनाव, हिन्दू-खिक्ख तनाव, हिन्दू-ईसाई तनाव, आदि।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के व्यवहारिक विकास को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के समक्ष एक बड़ी आन्तरिक चुनौती है। साम्प्रदायिकता के अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ है धर्म निरपेक्ष भारत के अस्तित्व को नकार देना और इसी अर्थ में विभाजनकारी प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज के प्रति इनसे शक्तिशाली और वास्तविक खतरा है। यह होना चाहिए

था कि औद्योगिक सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के द्वारा हमारे समाज में धर्मनिरपेक्ष शक्तियाँ अत्यधिक सशक्त होती और धार्मिक कठमुल्लेपन की भावना में कमी आती, लेकिन हुआ इसके विपरीत, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियाँ अत्यधिक बलवती होती गई। समकालीन भारत में साम्प्रदायिकता दो विशिष्ट कारणों से खतरनाक आयाम ग्रहण कर चुकी है—

(क) साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति शहरों की दीवारों को तोड़कर सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों के सौहार्दपूर्ण वातावरण में तेजी से फैल रही है।

(ख) इसने क्रमशः जन आंदोलन का रूप ले लिया है। जैसे— रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद।

विश्लेषण: आम तौर से साम्प्रदायिकता का अर्थ समाज को धार्मिक दृष्टि से देखने का एक नजरिया माना जाता है। यह एक नकारात्मक नीति है, जो राष्ट्र निर्माण के बाधक तत्वों में सर्वाधिक प्रबल परिलक्षित होती है। यदि पूरे दक्षिण एशिया को ध्यान में रखकर साम्प्रदायिकता को परिभाषित किया जाए तो यह “सामाजिक धार्मिक समूहों की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वे दूसरे समूहों के हितों को नुकसान पहुँचाकर अपने लिए और अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक ताकत को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।” साम्प्रदायिकता आधुनिकीकरण तथा परिवर्तन विरोधी अवधारणा है, जो राष्ट्रवाद के विरोध के साथ-साथ बहुजातीय, बहुधार्मिक तथा बहुभाषायी समुदायों के सह अस्तित्व के लिए चुनौती है। इसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है।

विपिन चंद्रा ने अपनी पुस्तक ‘भारत का स्वतंत्र संघर्ष’ में सांप्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण बताए हैं, जिनमें आपस में तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म मानने वालों के सांसारिक हित—यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक

और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे होते हैं। साम्प्रदायिक विचार धारा के उदय का यह पहला आधार है। इसका दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषीय समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है। साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस चरण में आकर साम्प्रदायिक चरित्र जोर देकर यह कहने लगता है कि दो समुदायों या समूहों के हित एक ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि व्यक्ति, दल या आन्दोलन में साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से आरंभ होता है। दूसरे चरण जिसे ‘उदार साम्प्रदायिकता’ कहा जाता है से होते हुए अंतिम चरण ‘उग्र साम्प्रदायिकता’ के रूप में परिणत हो जाता है।

साम्प्रदायिकता आधुनिक युग की देन है। अंग्रेजी शासन से पहले मध्ययुगीन प्रणालियाँ, पुरानी तकनीकें, यातायात तथा संचार की धीमी गति, उत्पादन की प्रकृति की इच्छा पर निर्भर करना तथा घरेलू उद्योग की प्रधानता थी। इन आर्थिक परिस्थितियों में सामाजिक संगठन के स्वाभाविक स्वरूप जाति, कुटुम्ब, जनजाति एवं गाँव थे। इनमें आर्थिक हितों को लेकर टकराव नहीं थे।

अंग्रेजों में आगमन के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। कृषि और उद्योग के क्षेत्र में नये प्रयोगों का शुभारंभ हुआ। अर्थव्यवस्था बदलनी शुरू हुई तो समाज में बदलाव स्वतः होना स्वाभाविक है। आधार बदलेगा तो अधिरचनाएँ बदल ही जायेंगी। जैसे कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में विकास अंग्रेजों के द्वारा संतोषजनक तो नहीं हुआ, यदि हुआ

भी तो असंतुलित विकास, जिसने सामाजिक तनावों में पर्याप्त वृद्धि अवश्य कर दी।

असंतुलित विकास ने समाज में पुराने सामाजिक तनावों को उजागर किया तथा अलगाव एवं शत्रुता को उत्पन्न किया। जैसे-जैसे अंग्रेजी प्रभुत्व ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ करना शुरू किया वैसे ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ब्रिटिश शासन के प्रति दो विभिन्न प्रकार की अवधारणाओं ने जन्म लिया। आरंभ में हिन्दुओं ने राजनीतिक सत्ता के इस हस्तांतरण को प्राचीनता से आधुनिकता में आगमन माना। किन्तु मुसलमानों ने इस नवीन शासन को बिल्कुल भिन्न प्रकार से देखा। उन्होंने अंग्रेजों को अपने राजनीतिक सत्ता का हनन करने वाला माना। विशेषकर मुसलमानों के कुलीन वर्ग में अपमान एवं पराजय की गहरी भावना घर कर गई। इतना ही नहीं परंपरागत कारीगरी में आयी गिरावट, हिन्दू व्यापारियों में तथा महाजनों के हाथों धन के एकत्रीकरण में मुसलमानों की मुश्किलों को और बढ़ाया। परिणामतः शुरू में अंग्रेजों का हिन्दुओं के साथ तादात्म्य स्थापित रहा तो आगे चलकर मुसलमान इनके प्रिय हो गये। स्पष्ट है ये दोनों धर्मों का उपयोग अपने स्वार्थ की पूर्ति एवं परिस्थिति को अपने अनुरूप करने के लिए करते रहे।

भारत में अंग्रेजों की नीति ‘फूट डालो एवं शासन करो’ की रही है। भारतीय समाज में जो भी विभाजन मौजूद थे, उन्होंने उसे प्रोत्साहित किया ताकि राष्ट्रीय एकता के उदय को रोका जा सके। इस लिए उनकी यह नीति सिर्फ साम्प्रदायिकता के स्तर पर ही व्यक्त नहीं हुई। उन्होंने एक अंचल को दूसरे अंचल के खिलाफ, एक प्रांत को दूसरे प्रांत के खिलाफ, एक जाति को दूसरे जाति के खिलाफ, एक भाषा को दूसरे भाषा के खिलाफ, सुधारवादियों को पोंगापंथियों के खिलाफ, लड़ाकुओं को नरमपंथियों के खिलाफ, वामपंथियों को दक्षिणपंथियों के खिलाफ और यहाँ तक कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग के खिलाफ भिड़ा देने की कोशिश की, किन्तु उन्हें

सफलता साम्प्रदायिकता के आधार पर ही मिली।

जिस साम्प्रदायिकता का बीजारोपण अंग्रेजों के द्वारा औपनिवेशिक काल में किया गया, उसका प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन पर भी पड़ा। एक सामान्य लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु यद्यपि सभी दल कटिबद्ध दिखे, फिर भी समय-समय पर उनमें मतभेद अवश्य उभरे। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन सशक्त हुआ, वैसे-वैसे यह तत्व भी अपनी जड़ मजबूत करता गया। भारत शासन अधिनियम 1909 में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व का ऐसा बीज पड़ा जिसकी परिणति राष्ट्र के विभाजन के रूप में देखने को मिलता है। जवाहरलाल नेहरू ने साम्प्रदायिकता को प्रगति तथा प्रतिक्रिया के बीच के संघर्ष के रूप में वर्णित किया है। यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों और धार्मिक सुधार के क्षेत्रों में सभी प्रकार के क्रांतिकारी शक्तियों का विरोध करती हैं। यह समाजवाद एवं सामाजिक समानता की भी विरोधी है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण के मूल्यों को अपनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। संविधान द्वारा जाति, धर्म, लिंग के आधार पर विभेद को अस्वीकार कर व्यस्क मताधिकार के आधार पर संसदीय लोकतंत्र की परिकल्पना को मूर्त रूप दिया गया। राजनीति का द्वार सर्वसाधारण के लिए खोल दिया गया। माना गया कि तकनीकी एवं आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अंततः साम्प्रदायिक संघर्ष एवं तनाव में कमी आ जायेगी। इसप्रकार के विकास से नवीन प्रकार की सामाजिक एवं आर्थिक व्यक्तियों का विकास होगा और यह साम्प्रदायिक राजनीति के संगठित आधार को कमजोर कर देगा। किन्तु स्वतंत्रता के 67 वर्ष के बाद भी शिक्षा, शहरीकरण, आधुनिकीकरण के बावजूद भी साम्प्रदायिक हिंसा एवं उन्माद न केवल जारी है, अपितु उसके एक विकराल रूप ग्रहण कर लिया है।

साम्प्रदायिकता के कारणों की छानबीन

की जाये तो व्यक्तिगत सोच, आर्थिक विकास का मनोनुकूल न होना, अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक विभेद आदि तो है ही किन्तु सबसे प्रभावशाली कारण रहा है— राजनीतिक, जिसके तहत सत्ता प्राप्ति या बनाए रखने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से धर्म को आधार बनाकर हितों की पूर्ति की जाती है।

जहाँ तक व्यक्तिगत सोच की बात है यह वह स्थिति है जहाँ कोई व्यक्ति अपने धर्म में इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि अन्य सभी धर्मों से वह अपने धर्म को श्रेष्ठ समझने लगता है, तो ऐसे व्यक्ति के अभिव्यक्त विचारों से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। हालांकि यह स्थिति व्यवहारिक रूप में कम ही देखने को मिलती है।

आर्थिक कारण का एक पक्ष इस वास्तविकता में ही निहित है, कि संसाधनों की कमी है और मांग अपेक्षाकृत अधिक है। इसका एक कारण बढ़ती हुई जनसंख्या भी है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जनता का मानना था कि उनकी मुश्किलें एवं दरिद्रता विदेशी शासन का कारण है और जब एक बार अंग्रेज भारत छोड़कर चले जायेंगे तो उनकी सारी समस्याओं का सामाधान स्वतः हो जायेगा। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में विकास के लिए नियोजन के साधन को अपनाया गया और समाजवादी समाज की स्थापना करने को लक्ष्य के रूप में घोषित किया गया। लेकिन व्यवहार न तो राजनीतिज्ञ, न तकनीकी विशेषज्ञ और न ही नौकरशाह पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रमों को जनता के हित की ओर व्यापक रूप से अग्रसर कर सकें। परिणामस्वरूप भारत में सत्ता पर उस वर्ग का अधिकार हो गया जो इस देश की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। गरीबी, अज्ञानता, अन्याय तथा शोषण अभिन्न रूप से एक-दूसरे से जुड़े हैं। भेद-भाव पूर्ण राजनीति में पक्षपात पूर्ण व्यवहार के संदेह पैदा होते हैं, एवं संदेह से तनाव बढ़ता है।

साम्प्रदायिकता को धर्म के द्वारा परिपक्व नहीं किया जाता अपितु जनता की धर्मनिरपेक्ष एवं उचित समस्याओं के सामाधान न करने पर इसकी वृद्धि होती है। अल्पसंख्यकों के मामले में इस प्रकार की समस्याओं के लिए प्रबुद्ध वर्ग द्वारा धर्म पर आधारित भेद-भाव को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। यह केवल धर्म नहीं अपितु असुरक्षा की भावना है, जो साम्प्रदायिक आधार पर संगठित होने की अवधारणाओं को आधार उपलब्ध कराती है। यह राजनीति है जो संकुचित भिन्नताओं के स्तरों पर कार्य करती है न कि इस्लाम, सिक्ख, हिन्दू या इसाई आदि। उदाहरण के लिए मुसलमानों के राजनीति एवं मत डालने के व्यवहार पर किये गये बहुत से अध्ययन इसको सिद्ध करते हैं। ये अध्ययन राजनीतिक वास्तविकताओं तथा जन साधारण के विषय में मुस्लिम प्रबुद्ध वर्ग की अवधारणा की भिन्नताओं को भी उजागर करते हैं।

यह विडम्बना ही है कि साम्प्रदायिकता का आधार 'धार्मिक' होता है। किन्तु इसका मूल कारण राजनीतिक है। विभिन्न समुदायों के साम्प्रदायिक संगठनों को बनाये रखने में सबसे बड़ा हित शासक वर्ग का है। ये संगठन साधारण जनता को धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित करते हैं। शासक वर्ग नैतिक तौर पर साधारण जनता की एकता से भयभीत होता है, क्योंकि इसकी एकता शासक वर्ग के लिए सबसे बड़ा खतरा है। जनता को विभाजित करने के लिए इसका वर्गीय स्वार्थ है। जनता के विभाजन को बनाये रखने के लिए यह शांत किन्तु खतरनाक तरीकों का चालाकी से इस्तेमाल करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनेताओं के द्वारा धार्मिक भावनाओं को उकसाकर तुष्टिकरण की नीति अपनायी गयी। सभी धर्मों के समान रूप से सम्मान करने के आलोक में नेताओं ने जो सरकार के अंदर थे, धर्म के आधार लोगों से पहचान बनाने का प्रयास किया, जिसमें वे सफल रहे। इस पहचान के साकारात्मक एवं नाकारात्मक दोनों पक्ष थे और इसी आधार पर जनता से

मतों के लिए कहा गया। उदाहरण के लिए कांग्रेस ने मुसलमानों को उनकी धार्मिक जहाजों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए इस आधार पर आश्वस्त किया कि वे कांग्रेस का समर्थन करते रहे। दूसरी ओर नेहरू युग के दौरान भी पहचानों का उद्घाटन करने के समय नारियल तोड़ा गया। आधुनिक भारत के बांधों और कारखानों आदि की आधारशिला रखने से पूर्व यज्ञों को सम्पन्न किया गया, ज्योतिषों से सलाह ली गयी, संस्कृत के मंत्रों का उच्चारण किया गया तथा सार्वजनिक आयोजनों के अवसर पर राजनीतिक नेताओं ने अपने माथे पर तिलक धारण किये।

इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे सम्प्रदायों की भावना को ठेस पहुँचाकर, उनमें सम्प्रदायिक सोच उत्पन्न करने की प्रत्यक्ष कार्यवाही दृष्टिगत होता है। एकतरफ मुसलमानों के मत को प्राप्त करने के लिए शासकों ने अपनी कुंठाओं का इस्तेमाल किया तो दूसरी ओर हिन्दूओं को खुश करने के लिए समर्पण करते रहे।

यदि कांग्रेस की शुरु से लेकर विभिन्न प्रधानमंत्रियों की साम्प्रदायिकता सम्बन्धी नीति की समीक्षा की जाये तो कहा जा सकता है— 'साम्प्रदायिकता के बीजों का रोपण नेहरू के समय हो गया था, इसने वृक्ष का आकार श्रीमती गाँधी के समय लिया, फल राजीव गाँधी के समय लगे तथा नरसिंहा राव के शासन में फल की प्राप्ति हुई। जहाँ तक कांग्रेस से भिन्न पार्टियों की बात है तो भारतीय जनता पार्टी खुले तौर पर साम्प्रदायिक मांगों को सामने रखती है, एवं पूर्ण बहुमत में आने पर हिन्दूओं के हितों का पोषण करना उसका लक्ष्य होगा, कहते नहीं थकती। इसी तरह कम्युनिष्ट पार्टी भी साम्प्रदायिकता से अछूती नहीं है, क्योंकि यह पार्टी भी टिकट बंटवारे के समय धर्म की महत्ता का ध्यान अवश्य रखती है।

इनके अलावा क्षेत्रीय दल भी इसी तरह की नीति का पालन करते रहें हैं। बिहार में वर्तमान शासन से पूर्व 15 वर्षों तक राष्ट्रीय

जनता दल की सरकार थी। इस दल का मुख्य मुद्दा था 'साम्प्रदायिकता का विरोध' था। इस सन्दर्भ में कहना यह है सम्प्रदायिकता को मुद्दा बनाकर राजनीति करना, एक नये तरह की साम्प्रदायिकता को जन्म देना है।

कुल मिलाकर सभी राजनीतिक दल लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण कर रहे हैं इस सन्दर्भ में आशीष नन्दी का कहना ठीक ही है कि धर्म के नाम पर दंगों को संगठित किया जाना भारतीय समाज में सबसे अधिक धर्मनिरपेक्ष घटना है वे उनको इस प्रकार आयोजित करते हैं, जैसे कि एक राजनैतिक रैली या एक हड़ताल को संगठित किया गया हो। यदि मुख्यमंत्री को हटाना हो, चुनाव अभियान में मदद करनी हो या फिर किसी एक गुट की सहायता करनी हो— दंगों को करवाया जाता है। भारत में कुछ राजनैतिक दलों के पास आज ऐसे व्यवसायी हैं जो दंगा कराने में पूर्ण रूप से निपुण हैं। मेरठ का दंगा हो, या भागलपुर का, या फिर गुजरात का, सभी में राजनैतिक संलिप्तता पायी गयी है।

आज राजनीति और धर्म में गहरा सम्बन्ध कायम हो जाने से साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं में वृद्धि हो रही है। मस्जिद, मंदिरों, गुरुद्वारों तथा मन्दिरों का इस्तेमाल न केवल राजनीतिक कार्यों के लिए किया जा रहा है अपितु वे हथियारों एवं शस्त्रों के लिए संचय स्थान भी बन गये हैं। चुनावी राजनीति में प्रत्याशियों द्वारा नामांकन, प्रचार, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व आदि ने लगभग सभी राज्यों में साम्प्रदायिकता की प्रक्रिया की गति को बढ़ाया है। आज स्थिति इतनी विकट हो गई है कि नौकरशाही एवं पुलिस बलों में भी साम्प्रदायिकता प्रवेश कर चुकी है।

प्रफुल्ल विद्वई ने अपने आलेख के माध्यम से बताया है, जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र के प्रो. अमरजीत सिंह नारंग ने अपनी पुस्तक में संकलित किया है— 6 दिसम्बर 1992 की रात को मसूरी स्थित लाल बहादुर राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी ने बाबरी मस्जिद गिराने पर एक पार्टी का आयोजन किया गया।

इस पार्टी में अखिल भारतीय तथा सेन्ट्रल सिविल सर्विसेज के लिए चुने गये अधिकारियों ने भाग लिया। पुलिस के एक उच्च अधिकारी विभूति राय द्वारा साम्प्रदायिक पक्षता पर किये गये अध्ययन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के पर्याप्त सबूत उपलब्ध हैं कि पुलिस द्वारा की गई कार्यवाहियों में साम्प्रदायिक पक्षपात विद्यमान रहता है। जनवरी 1993 में बम्बई में पुलिस द्वारा मुसलमानों की सम्पत्ति लूटे जाने एवं जलाने के कारण मार्च 1993 में बम्बई में बर्बर बम विस्फोट हुए। श्रीमती इन्दिरागाँधी की हत्या के बाद सिक्खों की की गई हत्याएँ पुलिस के पक्षपात कार्यवाहियों का एक और स्पष्ट दृष्टांत है। इतना ही नहीं 2002 में गुजरात में हुए दंगे को 'नियोजित दंगा' बताया गया, जिसमें प्रशासनिक अधिकारियों की भूमिका संदिग्ध बतायी जाती है।

***भारत में महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक दंगे**



उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता एक जटिल समस्या है, जो दिन प्रतिदिन गहराता ही जा रहा है। सृजन के बदले यह विध्वंसात्मक विचारधारा है। आज इस समस्या से निजात पाने की आवश्यकता तीव्रता से महसूस हो रही है, ताकि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को अंतिम रूप देकर लोकतांत्रिक मूल्यों को वास्तविक रूप में स्थापित किया जा सके। ऐसा नहीं है इस समस्या के निदान हेतु पहल ही नहीं किया गया सरकारी स्तर पर दो पहल स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ते हैं—

1. जनप्रतिनिधित्व अधिनियम में संशोधन करके सरकार ने धर्म, जाति आदि को आधार बनाकर चुनाव लड़ने का निषेध किया है।
2. दंगों को नियंत्रित करने के लिए 'रैपिडएक्शन फोर्स' का गठन किया गया है।

सुझाव एवं निष्कर्ष: किन्तु उपर्युक्त पहल पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए एवं स्थिति बद् से बद्तर होती जा रही है। आवश्यकता इस दिशा में कुछ और सशक्त पहल करने की है। इस सन्दर्भ में निम्न सुझाव कारगर साबित हो सकते हैं।

1. शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाना तथा व्यापक करने से इस समस्या को नियंत्रित किया जा सकता है क्योंकि शिक्षा वह औषधि है जिससे सारी मानसिक व्याधि को दूर किया जा सकता है।
2. सामाजिकरण के साधन को सशक्त करना। बच्चा पहले परिवार में पलता है, फिर स्कूल एवं कॉलेज से सीख कर सामाजिक एवं राजनीतिक सोच विकसित करता है। यदि ये साधन सही रहे तो उसके विचार में कभी विकार उत्पन्न नहीं होगा।
3. धर्म को सही अर्थ में परिभाषित करना। धर्म नैतिकता का पोषक है। दुनिया का कोई भी धर्म यदि शास्त्रों के आलोक में बात की जाये तो स्पष्ट तौर पर हिंसा का निषेध करता है। गीता, रामायण, कुरान, तौरैत, सब पर यह बात समान रूप से लागू होती है।
4. इस समस्या के सामाधान हेतु राजनीतिक दलों को अपने क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्रहित में सोचना होगा।
5. सरकार के तरफ ऐसी परिस्थितियों के सृजन का प्रयास होना चाहिए जिसमें 'एक सामान नागरिक संहिता' आसानी से कार्यान्वित किया जा सके।

6. मीडिया की भूमिका समाज में सदा से प्रभावकारी रही है। यदि मीडिया अपने दायित्वों का निर्वहन निष्पक्षता पूर्वक करे तो निश्चय ही प्रभाव साकारात्मक होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश आज 'यलो जर्नलिज्म' की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण आपसी प्रतिद्वन्द्विता ने 'तिल का ताड़' बनाने की प्रवृत्ति विकसित कर दी है, जिसका प्रभाव समाज पर नाकारात्मक रहा है।
7. प्रशासनिक अधिकारियों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वे धर्म, जाति आदि से ऊपर उठ सकें। यदि फिर भी उनकी सलिप्तता पायी गयी तो उन्हें अविलंब कठोर दंड दिया जाना चाहिए।
8. छात्रों में राष्ट्रभक्ति की भावना विकसित करने के लिए कक्षा-6 से प्रयास शुरू होने चाहिए, ताकि वह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों का विरोध कर सकें।

यदि उपर्युक्त सुझावों पर पहल किया गया तो निश्चित रूप से इस दिशा में साकारात्मक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। वैसे किसी भी जटिल सामाजिक समस्या का पूर्ण सामाधान एक लंबे प्रयास के बाद ही फलीभूत होता है। साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मनोवृत्ति है जिससे राष्ट्र निर्माण में बाधा पहुँचती है। अतः विभिन्न समुदायों को चाहिए कि वे स्वार्थी कुत्सित हितों का त्याग करते हुए राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल हों। समुदाय को राष्ट्र निर्माण में बदलने, राजनीतिक संचेतना की वृद्धि करें और लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ धर्म निरपेक्षता की भावना को मन से स्वीकार करें। तभी भारत एक विवेकशील राष्ट्र बन सकेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. एम. एन. श्रीनिवास एण्ड ए.एम.शाह-हिंदूइज्म, इंटरनेशनल, इनसायक्लोपिडिया ऑफ द सोशल साइन्सेस, मैकमिलन कम्पनी प्री प्रेस, न्यूयार्क।
2. Ibid
3. असगर अली इंजीनियर- कम्पूनल राइट्स इन पोस्ट इनडिपेन्डेंट इंडिया।

4. Ibid
5. टी.एन.मदन- रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली।
6. ए. वार्थ-रिलिजन ऑफ इंडिया, लो प्राइज पब्लिकेशन ऑफ इंडिया।
7. एस. एल. दोषी एवं पी. सी. जैन-भारतीय समाज: संरचना और परिवर्तन, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, जयपुर-2002।
8. Ibid
9. ए. एस. नारंग-भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजली पब्लिसिंग हाउस- 2004।
10. Ibid
11. रजनी कोठारी-पॉलिटिक्स इन इंडिया, ओरिएण्ट लॉग मैन्-1970।
12. विपिन चन्द्रा- कम्प्यूनेलिज्म इन मॉडर्न इंडिया,-1984।
13. एस.सी.दूबे- ट्रेडिशन एण्ड डेवलपमेन्ट इन इंडिया।
14. एस. एम. सईद- भारतीय राजनीति व्यवस्था, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ-2000।
15. Ibid
16. प्रफुल्ल विदवई-मुखिया एण्ड विनायक रिलीजन, रिलीजियसिटी एण्ड कम्पुनिलिज्म, मनोहर पब्लिशिंग हाउस, 1996।
17. विपिन चन्द्रा-भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली -2006।
18. Ibid
19. बी. एल. ग्रोवर- भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली-2000।
20. Ibid
21. सुमित सरकार- आधुनिक भारत-(1885. 1947), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-1999।
22. Ibid
23. योजना, कुरुक्षेत्र एवं विभिन्न दैनिक समाचार पत्र से एकत्रित तथ्य।
24. प्रतियोगिता दर्पण-स्वदेशी बीमानगर, आगरा- मार्च-2006 एवं सितम्बर-2007।

डॉ. बिन्देश्वर प्रसाद मंडल

वरीय व्याख्याता एवं विभागाध्यक्ष,
समाजशास्त्र विभाग, बी. एन. कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

एवं

गजनफर आलम

शोधप्रज्ञ, एवं नेट (यू.जी.सी.),
समाजशास्त्र विभाग, पटना
विश्वविद्यालय, पटना

ग्रामीण सामाजिक विकास में पंचायतीराज की भूमिका: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

मो. इरशाद अली

भारतीय समाज प्रारम्भिक काल से गाँवों का समाज माना जाता रहा है। भारत देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचायतीराज व्यवस्था की स्थापना के लिए गंभीर रूप से प्रयास किया गया क्योंकि यह प्रयास भारत के ग्रामीण सामाजिक विकास के क्षेत्र में जनता की सीधी रूचि एवं भागीदारी और सत्ता का विकेन्द्रीकरण जरूरी था। जिसके फलस्वरूप सबसे निचले स्तर से विकास को लेकर सहभागिता बढ़ती रहती है। इसी सोच के परिणाम स्वरूप 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के साथ पंचायतीराज व्यवस्था के रूप में एक नया अध्याय का प्रारम्भ हुआ। इसके अलावा दूसरी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण सामाजिक विकास के लिए गाँव पंचायतों के साथ ही सहकारी संस्थाओं की सक्रिय भागीदारी पर भी पूर्ण रूप से बल दिया गया।

ग्रामीण सामाजिक विकास के लिए 1940 में अनेक राज्यों में पंचायतों की स्थापना के लिए कानूनों को बनाया गया तथा 1946 में लोकप्रिय सरकारों के गठन के बाद पंचायतों तथा जिला परिषदों का गठन किया गया ताकि अधिक से अधिक ग्रामीण समाज का पूर्ण रूप से विकास किया जा सके। इस बारे में भारत देश के राष्ट्रपिता स्व. महात्मा गाँधी ने देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण सामाजिक विकास के लिए गाँवों की पंचायतों को सामाजिक ढाँचे का आधार बनाने का महत्वपूर्ण सुझाव दिया था क्योंकि महात्मा गाँधी का ग्राम स्वराज्य का सपना भी यही था कि “प्रत्येक गाँव की पंचायत को गणतंत्र के रूप में सभी अधिकारों से संपन्न, स्वशासन और आत्मनिर्भर के रूप में बनाया जाना चाहिए।”

इस बारे में पंचायतीराज व्यवस्था के महत्व को स्वीकारते हुए संविधान के निदेशक सिद्धांत के अन्तर्गत भाग-(4) के अनुच्छेद (40) में यह बात कहा गया है कि राज्य सरकारें ग्रामीण सामाजिक विकास के लिए ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए विशेष रूप से प्रयास करेंगी तथा उन्हें ऐसी शक्तियाँ एवं अधिकारों से संपन्न करने के लिए प्रयास करेंगी जिससे वे स्वशासन की इकाईयों के रूप में कार्य करने में सक्षम हो सकें क्योंकि स्थानीय स्वशासन की इकाईयाँ होने के फलस्वरूप पंचायतीराज संस्थाएँ संविधान के अंतर्गत राज्यों के विषय होते हैं। इसी के द्वारा ग्रामीण विकास पर विशेष रूप से बल देने का भरपूर प्रयास किया

जाने लगा और इसके विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर भी विचार विमर्श किया गया।

एक समय भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था कि हम सच्चे लोकतंत्र को केन्द्र में बैठे व्यक्ति नहीं चला सकते, बल्कि इसे तो प्रत्येक गाँव के निचले स्तर के लोगों द्वारा ही चलाया जा सकता है। वैसे तो भारत को गाँवों का देश कहा जाता है क्योंकि इस देश की अधिकांश आबादी गाँवों में जीवन व्यतीत करती हैं। इसलिए सच पूछा जाए तो ग्रामीण सामाजिक विकास और प्रगति पर सम्पूर्ण देश का विकास निर्भर करता है। इसलिए हमें सबसे पहले विकास की शुरुआत ग्रामीण क्षेत्रों से करनी चाहिए। क्योंकि यदि ग्रामीण क्षेत्रों का विकास नहीं हुआ तो देश का विकास करना एक कोरा सपना होगा। इसलिए इन्हीं सब बातों को देखते हुए भारत सरकार ने स्वतंत्रता के बाद से ही ग्रामीण प्रशासन और व्यवस्था को मजबूत करने का पूर्ण रूप से प्रयास किया और इसको सफल बनाने के लिए लगातार प्रयासरत रहने लगे।

दरअसल ग्रामीण सामाजिक विकास का अर्थ है ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के प्रत्येक क्षेत्रों में सुधार करना। यह लक्ष्य एकीकृत क्षेत्र-विकास दृष्टिकोण को अपनाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण में आर्थिक गतिविधियों को सामाजिक गतिविधियों से जोड़ा जाता है तथा जनसंख्या एवं दूरी की सीमाओं के अनुसार इन्हें विभिन्न स्थानों पर केन्द्रित किया जाता है। इसके साथ-साथ विभिन्न पहलुओं पर भी विचार मंथन किया जाता है और यह देखने का प्रयास किया जाता है कि किस प्रकार से ग्रामीण सामाजिक विकास को तेजी से प्राप्त किया जाए। इसके अलावा इसकी प्रगति के लिए लगातार लोग प्रयत्नशील रहते हैं ताकि ग्रामीण क्षेत्र को विकास के मार्ग से अच्छी तरह से जोड़ा जा सके।

भारत के स्वतंत्रता के बाद पंचायतीराज का स्वरूप:- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचायतीराज व्यवस्था को काफी मजबूत करने का विशेष प्रयास किया गया ताकि ग्रामीण सामाजिक विकास को प्राप्त किया जा सके तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था को आधार देने के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए गए जो निम्नलिखित विवरण के रूप में स्पष्ट है:-

बलवंतराय मेहता समिति (1957):-
वैसे तो पंचायतीराज व्यवस्था की नींव सर्वप्रथम बलवंत राय मेहता समिति द्वारा रखी गयी। जिसने अपनी रिपोर्ट 24 नवम्बर 1957 को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया था जिसका विवरण निम्न है:-

- पंचायतीराज का ढाँचा त्रिस्तरीय होगा। यह ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद होंगे।
- पंचायतें पूर्ण रूप से निर्वाचित इकाईयाँ होनी चाहिए।
- पंचायत का अपने क्षेत्र के अन्तर्गत होने वाले सभी विकास कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए तथा सरकार का कार्य केवल नियोजन, निरीक्षण और निर्देशन तक सीमित होना चाहिए।
- केन्द्र या राज्य सरकार के निर्देशन और नियन्त्रण ब्लॉक स्तर पर होना चाहिए। इसके अलावा समस्त आर्थिक सहायता पंचायत समिति के माध्यम से जांच की जानी चाहिए।
- सफाई, जल आपूर्ति, प्रकाश व्यवस्था, सड़कों का रख-रखाव तथा भूमि प्रबन्धन आदि ग्राम पंचायत का अनिवार्य कर्तव्य निर्धारित किया जाना चाहिए।

अशोक मेहता समिति (1977):- इस व्यवस्था को और अधिक सक्रिय बनाने के लिए भारत सरकार ने अशोक मेहता समिति का गठन किया, जिसने अपनी रिपोर्ट 12 दिसम्बर 1977 को सौंपा जिसमें निम्नलिखित सिफारिशें शामिल थी जो इस प्रकार हैं:-

- इसके अन्तर्गत पंचायतीराज का ढाँचा त्रिस्तरीय न होकर द्विस्तरीय होना चाहिए। पहला जिला स्तर पर तथा दूसरा मण्डल स्तर पर। इसके अलावा जिला स्तर पर जिला

परिषद और ब्लॉक स्तर पर मण्डल पंचायत।

- पंचायतीराज संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों को लाभान्वित तथा विकास करने के लिए कार्यक्रम तैयार करना होगा।
- पंचायतीराज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए।
- जिले की समस्त विकासपरक गतिविधियों का जिसका संचालन अब तक राज्य सरकार द्वारा किया जाता रहा है अब जिला परिषद द्वारा ही किया जाना चाहिए।

जी.के.राव (1985):- इस समिति का गठन 25 मार्च 1985 को किया गया था। इसने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर 1985 को प्रस्तुत किया था जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए जो निम्न हैं:-

- इसके अन्तर्गत कहा गया कि किसी भी योजना को तैयार करने, निर्णय लेने और उसे लागू करने का कार्य पंचायतों को सौंपा जाए, क्योंकि ये जनता से अधिक निकट है।
- कार्य संपादन के लिए जिला परिषदों की विभिन्न समितियाँ गठित की जानी चाहिए।
- पंचायत समिति या ग्राम व मण्डल पंचायत स्तर पर बच्चों, महिलाओं व प्रौढ़ों के कल्याण के लिए उपसमिति का गठन होना चाहिए।
- राज्य सरकारों द्वारा दी जाने वाली धनराशि को निर्धारित करने का कार्य वित्त आयोग को दिया जाना चाहिए जिसकी नियुक्ति प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद होना चाहिए।

एल.एम. सिंधवी समिति (1986):- इस समिति का गठन 16 जून 1986 को किया गया था जिसकी अध्यक्षता एल.एम. सिंधवी ने किया था। इस समिति ने अपनी

रिपोर्ट 27 नवम्बर 1986 को प्रस्तुत किया था जिसमें पंचायत का अवलोकन व मूल्यांकन करने के बाद पंचायतीराज व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का सुझाव दिया गया ताकि इसके द्वारा ग्रामीण समाज के विकास को पुरा किया जा सके। इसके अलावा इनमें प्रमुख सिफारिशों से पंचायतीराज प्रणाली के कुछ पहलुओं को संवैधानिक दर्जा दिलाना था क्योंकि इसे राजनीतिज्ञों और नौकरशाही हस्तक्षेपों से दूर रखा जाए ताकि ग्रामीण सामाजिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। समिति ने प्रथम बार पंचायतों से सम्बन्धित संविधान संसोधन विधेयक का मसौदा भी तैयार किया।

इस प्रकार उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि भारत में पंचायतीराज की अवधारणा नई नहीं है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इसके उद्देश्य ज्यादा नवीन एवं महत्वपूर्ण हो गए हैं। सामाजिक आर्थिक न्याय की अवधारणा को वास्तविक स्वरूप प्रदान करने के लिए पंचायतीराज व्यवस्था जिन उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ी है उनमें एकता और विकास दो अहम बिंदु थे। इसके अलावा ग्रामीण समाज की जिस एकता, सांप्रदायिक सौहार्द, सहभागिता, लोकतांत्रिक मूल्यों सत्ता में भागीदारी, आत्म निर्भरता, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की भावना को लाने का प्रयास किया गया उसमें पंचायतीराज व्यवस्था कुछ सीमा तक तो सफल हुई जो सराहनीय है। वित्तीय आत्मनिर्भरता के कारण आज लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की यह पद्धति स्थानीय आवश्यकताओं को पुरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इस पद्धति के माध्यम से पंचायतों को दिए गए अधिकारों के प्रयोग से धरातलीय ग्रामीण विकास का स्वरूप लगातार बदल रहा है।

आज गाँव की चौखट पर विभिन्न प्रकार की समस्याओं को दिन-प्रतिदिन पंचायतीराज के द्वारा निदान किया जा रहा है। इसके

अलावा पंचायती प्रयासों एवं राष्ट्रीय सरकार के माध्यम से सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्रों का सम्पर्क विभिन्न मार्गों से जोड़ा जा रहा है ताकि ज्यादा से ज्यादा ग्रामीण सामाजिक विकास को और आगे बढ़ाया जा सके। इसका उदाहरण प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना है, जिसने ग्रामीण समाज को न केवल गतिशील बनाने का प्रयास किया बल्कि बेरोजगारी एवं बेकारी जैसी विकराल समस्या को भी दूर करने में विशेष प्रकार से भूमिका निभाया है। उपेक्षित एवं पिछड़ा क्षेत्र माने जाने वाला भारतीय ग्रामीण समाज जिसमें काम का विकल्प केवल पलायन माना जाता था जबकि उसी समाज में आज के समय में सरकार द्वारा रोजगार की गारंटी का बिगुल बज चुका है जिसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के बेरोजगार लोगों को प्रदान करना लक्ष्य के रूप में माना गया है ताकि गाँव के लोग दो वक्त की रोटी का जुगाड़ कर सकें।

इस प्रकार देखा जाए तो सही मायनों में पंचायतीराज संस्थाओं द्वारा भारत के विकास को नया स्वरूप प्रदान किया जा रहा है। केवल शहरों को संसाधनों का केन्द्र मानने वाले आज ग्रामीण क्षेत्रों को भी तवज्जो दे रहे हैं। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों भी पंचायतों के प्रयासों से अनुकूल बनती जा रही हैं और आधारभूत संरचना के कारण ग्रामीण क्षेत्रों का भी रूख कर रही हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों के बुनियादी ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन करने के लिए भारत निर्माण की योजना जिसके छः क्षेत्र-ग्रामीण विद्युतीकरण, जल आपूर्ति, सड़कें, आवास, संचार और सिंचाई का दायित्व भी ग्राम पंचायतों की सक्रियता पर ही निर्भर करेगा। निसंदेह आज पंचायतीराज व्यवस्था ग्रामीण सामाजिक विकास की नई तस्वीर प्रस्तुत करता आइना बनता जा रहा है।

पंचायतीराज की समस्याएँ:- इस बात को कभी नहीं भूलाया जा सकता है कि

ग्रामीण सामाजिक विकास में पंचायतीराज ने अपना महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है किंतु फिर भी ग्रामीण समाज की मूलभूत समस्याएँ हैं जैसे-पेयजल, सड़क सम्पर्क, बिजली, प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा और संचार सुविधाएँ तो हैं ही, इसके अलावा बेरोजगारी भी बहुत बड़ी समस्या है। गाँवों के शिल्पकार बेरोजगार हैं उनके हुनर का उन्हें लाभ नहीं मिल रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में सब्जियाँ, फल, फूल और दूध आदि के लिए समुचित मार्केटिंग व्यवस्था का संकट है। इन्हीं समस्याओं को प्राथमिकता के आधार पर हल करने की सबसे बड़ी चुनौती पंचायतीराज के सामने है जिसे हल करना अति आवश्यक है। ताकि ग्रामीण समाज के विकास में इन बाधाओं को पूर्ण रूप से दूर किया जा सके।

इसके अलावा निरक्षरता भी एक बड़ी समस्या है जो ग्रामीण समाज को विकास के मार्ग से दूर किये हुआ है क्योंकि आज भी ऐसे ग्राम प्रधान चुने जाते हैं जो अंगूठा छाप होते हैं और इसका पुरा लाभ गाँव के दबंग लोग उठाते हैं और प्रधान का इस्तेमाल करते हैं यही स्थिति महिलाओं का भी है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि ग्राम प्रधान के लिए योग्यता और शिक्षा का कोई मापदंड को निर्धारित किया जाना चाहिए। जिससे उनमें इतनी समझ पैदा हो सके कि पंचायतों के अधिकार और कर्तव्य क्या हैं और उनका किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। बरसाती पानी के संरक्षण, स्टॉप डैम का निर्माण तथा गाँव के प्राकृतिक संसाधनों का सही ढंग से पालन करने की कार्ययोजना भी ग्राम पंचायत स्तर पर ही तैयार की जानी चाहिए।

पंचायतों की चुनाव होने से जहाँ गाँवों में जागरूकता पैदा हुई है वहीं धनबल और बाहुबल का प्रयोग भी ज्यादा होने लगा है इसके साथ-साथ जातिवाद और भाई-भतीजावाद का जहर भी तेजी से बढ़ने

लगा है इसके अलावा दल-बदल की नीति में भी प्रगति हो रहा है। इसलिए इस प्रकार की कुत्सित हथकंडों को रोकने के लिए कठोर नियमों को बनाना होगा। गाँवों से पलायन की समस्या भी काफी मात्रा में देखने को मिल रहा है इसका मुख्य कारण है कुशल व्यवसाय एवं रोजगार का अभाव होना। गाँवों में अभी तक सहभागी बनने की भावना का विकास उतना अधिक नहीं हो पाया है जितना होना चाहिए था बल्कि वे लाभ के लिए सहभागी बनते हैं जो अनुचित है। इसके कारण स्वरूप लोग गाँव के विकास में पूर्ण रूप से सक्रिय भागीदार बनने के बजाए योजनाओं का लाभ निजी स्वार्थ के हित में उठाने का अवसर खोजते रहते हैं।

इसकी अगली समस्या यह है कि पंचायतीराज संस्थाओं पर आज भी राज्यों का ही नियंत्रण देखने को मिलता है जिसके कारणस्वरूप राज्य सरकारें अपनी सुविधा की दृष्टि से ग्राम पंचायतों के कामकाज में हस्तक्षेप करती हैं जिससे पंचायतीराज की स्वतंत्रता को खतरा रहता है। वैसे तो पंचायतीराज संस्थाओं को सरकार की ओर से विभिन्न कार्यक्रमों के लिए मिलने वाली असहायता राशि में लगातार वृद्धि हो रही है परन्तु इन सबके बावजूद बहुत बड़ी संख्या में ऐसी ग्राम पंचायतें हैं जो आर्थिक दृष्टि से लगभग लड़खड़ाती रहती हैं।

उनके पास ऐसे संसाधन नहीं हैं जिससे उनकी आय के स्रोत बन सके अथवा बढ़ सकें। आज भी ग्राम पंचायतों की बैठकों में कोरम पूरा न होने की शिकायतें मिलती रहती हैं, क्योंकि महिला समस्याओं, दलितों, पिछड़ों और कमजोर वर्गों के लोगों को उनकी भागीदारी से वंचित रखने की मनोवृत्ति पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो पायी है जो एक बहुत बड़ी समस्या है। सरकारी अधिकारियों की पंचायत के बारे में उदासीनता अभी भी बनी हुई है जिसके कारणस्वरूप

पंचायतों तक सही सूचनाएँ नहीं पहुँच पाती हैं। इसलिए इन समस्याओं को हल करना अति आवश्यक है।

पंचायतीराज के समस्याओं का समाधान:- उपर्युक्त विवरणों से पता चलता है कि पंचायतीराज के सामने कई प्रकार की समस्याएँ हैं। जिसके कारणस्वरूप ग्रामीण समाज का विकास करना काफी कठिन है इसलिए इसका समाधान करना अति आवश्यक है जो निम्न विवरणों द्वारा सम्भव है।

- सबसे महत्वपूर्ण समाधान यह है कि पंचायतों के निर्वाचन में भाग लेने वाले उम्मीदवारों की संपत्ति का ब्यौरा निर्वाचित होने के तुरंत ही पता करना चाहिए तथा उनके कार्यकाल के बाद तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा समीक्षा करना चाहिए।
- इसके अलावा पंचायतों में मतदान को अनिवार्य बना दिया जाए और उसमें भाग न लेने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए।
- किसी भी चुनाव से पूर्व या पश्चात किसी प्रकार के भोज एवं धन उपार्जन जो चुनाव को प्रभावित करते हैं उसे पूर्णतः रोकना चाहिए।
- ग्रामीण समाज में राजनीति को लेकर ग्रामीण पृष्ठभूमि में व्याप्त गुटबंदी को समाप्त करना चाहिए तथा पंचायतीराज व्यवस्था का निर्वाचन राजनीतिक दलों के आधार पर नहीं होना चाहिए।
- पंचायतीराज के राजनीतिक चुनाव में शैक्षणिक योग्यता के मानक को अविलम्ब लागू करना चाहिए ताकि सामाजिक माहौल सही हो सके।
- प्रत्येक क्षेत्र के विकास के लिए सरकारी अधिकारियों का रवैया

पंचायतों के प्रति उदार एवं पथ प्रदर्शक के रूप में होना चाहिए।

- सूचना के अधिकार के महत्व को समझते हुए सूचना के अधिकार 2005 के अंतर्गत आने वाले सभी क्षेत्रों को स्पष्ट करते हुए एक व्यापक रूप में जागरूकता अभियान को चलाना चाहिए जिसके द्वारा शिक्षक, अधिवक्ता और विद्वान लोग विकास के मार्ग में विशेष योगदान दे सकें।
- जिस प्रकार राजस्थान और आंध्र प्रदेश के पंचायतीराज व्यवस्था अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि दो से अधिक संतान पैदा करने वाले व्यक्ति को चुनाव के लिए अयोग्य माना जाए ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण भारत में भी इसे कठोरता के साथ लागू करना चाहिए।
- विभिन्न राज्यों में पंचायतीराज संस्थाओं के नाम तथा इसके महत्व को एक समान रूप में कर देना चाहिए ताकि एक साधारण व्यक्ति भी इसे सुगमता एवं सरलता से समझ सके।
- इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार की सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन से पूर्व नौकरशाहों को चाहिए कि सम्बन्धित ग्राम पंचायत के साथ उदारता एवं खुले विचारों से योजना का लाभ बताएँ तथा हानियों पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए और इसे विकास के मार्ग से जोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास करना चाहिए।

निष्कर्ष:-

इसमें कोई दो राय नहीं है कि पंचायतीराज व्यवस्था में अनेक समस्याओं एवं खामियों के बावजूद इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है इसने ग्रामीण

सामाजिक विकास में एक विशेष एवं महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है। पंचायतों के चुनावों ने ग्रामीण समाज में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की है और राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि भी हुई है। आवश्यकता केवल इतनी है कि इसे सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार एवं गुटबंदी आदि बुराईयों से दूर रखा जाए। इसके लिए सरकार तो लगभग प्रयास कर रही है। साथ ही साथ सरकार ने 27 मई 2004 को अलग से पंचायतीराज मंत्रालय की स्थापना भी की है जिसके द्वारा पंचायतीराज के विभिन्न प्रकार की खामी एवं समस्याओं को दूर किया जा सके। इस बारे में भारत के स्व. प्रधान पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था कि “जिस प्रकार देश की तरक्की के लिए गाँव की तरक्की जरूरी है ठीक उसी प्रकार गाँव की तरक्की के लिए पंचायतीराज की तरक्की जरूरी है।”

संदर्भ ग्रंथ:-

1. बिहार में पंचायतीराज व्यवस्था:- डॉ. खगेन्द्र कुमार
2. पंचायतीराज के उभरते मुद्दे:- डॉ. मनोज कुमार, अखलाक अहमद
3. रोल ऑफ बूमेन इन पंचायतीराज दि एडमिनिस्ट्रेटर टवस ग्प्या।
4. भारत में स्थानीय शासन: के. एल. शर्मा
5. 73वें संविधान संशोधन एवं पंचायतीराज अधिनियम 1993
6. बिहार पंचायतीराज अधिनियम:- 2006
7. सच्चिदानन्द:2007 एमपावरमेंट ऑफदलितस थ्रू पंचायतीराज: द बिहार एक्सपीरीयंस
8. बिहार समाचार, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग बिहार जून 2008
9. कुरुक्षेत्र, पंचायतीराज विशेषांक, मई 1997 एवं अगस्त 2008
10. योजना: अगस्त-2005, जनवरी: 2002 अगस्त-2007
11. कुरुक्षेत्र:- मई 2007 व अगस्त 2008

शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना-5

भारतीय समाज में बालिकाओं का शोषण तथा भेदभाव

डा० रंजना एवं डा० लालेश्वर प्रसाद यादव

अपराध समाजिक विचलन का विशेष रूप है। सभी समाजों में कुछ-न-कुछ अपराध अवश्य पाए जाते हैं लेकिन अपराध एक तुलनात्मक अवधारणा है। विभिन्न युगों और विभिन्न समाजों अथवा विभिन्न परिवारों में अपराध की प्रकृति में कुछ भिन्नता देखने को मिलती है। भारत में कुछ समय पहले तक एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना, बाल-विवाह करना, दहेज लेना और देना तथा सती प्रथा को प्रोत्साहन देना सामान्य व्यवहार थे लेकिन आज ऐसे व्यवहार अपराध हैं। क्योंकि भारतीय संविधान हर क्षेत्र में महिला और पुरुष को बराबर का हक देता है लेकिन इस सामंती समाज अथवा परिवार में बेटियों के प्रति नजरिया पुराना और रूढ़िवादी है।

सामंती अथवा पितृसत्तात्मक समाजों में बेटियों का स्थान बेटों से नीचे माना जाता है। आज हमारे समाज में अथवा परिवार में जिधर भी देखा जाए सभी जगह बेटों का ही बोलबाला दिखाई देता है। बच्चे के रूप में अधिकांश लोग बेटा ही चाहते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि यही बेटा आगे चलकर उनका वंश चलायेगा, उनकी देखभाल करेगा, कुल का नाम रौशन करेगा तथा मृत्यु के बाद मुखाग्नि देगा तथा बेटियाँ तो पराई धन होती हैं जो विवाह के बाद दूसरे परिवार में चली जाएगी। शायद यही एक वजह है कि आज शहरों में अनेक ऐसी दुकानें खुल गई हैं, जो अल्ट्रा-सोनोग्राफी करती हैं, और यह जानने के बाद कि गर्भ में लड़की है उसकी हत्या कर दी जाती है। अजन्मी लड़कियों की हत्या आज हमारे समाज की सबसे बड़ी समस्या है। इसी संदर्भ में नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने एक बार कहा था कि “भारत को अपनी वर्तमान 1.03 अरब की आबादी में से साढ़े तीन करोड़ गायब हुई औरतों का हिसाब देना होगा ये गायब हुई औरतें दरअसल वे लड़कियाँ हैं, जिन्हें कोख में ही मार दिया जाता है। रात-दिन लैंगिक समानता का ढोल पीटते रहने वाले इस समाज में यह क्यों और कैसे संभव हो पा रहा है?” यह हमारे समाज में तथा परिवार में बालिकाओं के प्रति भेदभाव का सबसे अच्छा नमूना है।

भारतीय समाज में अथवा परिवार में लड़की के जन्म के समय

से ही भेदभाव बरता जाता है। सच तो यह है कि प्रकृति ने मादा या स्त्री को अधिक मजबूत बनाया है लड़कों में मृत्युदर अक्सर ज्यादा होती है। हमारे बड़े-बुढ़े भी तो यही कहते हैं कि बेटा तो रूखी-सुखी खाकर भी पल जाती है। यह भी कहा जाता है कि अपने आप जो बच्चे मरते हैं उसमें भी लड़के ही ज्यादा होते हैं। मादा में जिन्दा रहने की शक्ति अधिक होती है यह प्रकृति का उसूल है, पर कुदरत के इस उसूल को भी हम भारतवासियों ने पलट दिया है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि:—5-6 साल के बीच मरने वाले बच्चों में लड़कियाँ ज्यादा होती हैं। 1918 में 0-4 वर्ष के बीच मरने वाले बच्चों में लड़कों की मृत्यु दर 21.1 थी। जबकि लड़कियों में यह दर 24.4 थी। लड़कियों के प्रति निरंतर भेदभाव का नतीजा यह है कि बहुत बड़ी संख्या में कन्या भ्रूण हत्या और कन्या शिशु हत्याएँ हो रही हैं। यूँ कहने को तो बेटा को लक्ष्मी कहा जाता है, देवी कहा जाता है, पर यह भी सच्चाई है कि उसी लक्ष्मी या देवी का हम निरादर करते हैं, उसके साथ अन्याय करते हैं।

आमतौर पर परिवार में बेटे की पैदाइश पर ज्यादा खुशी होती है और बेटा के पैदा होने पर खामोशी छा जाती है। यही नहीं बेटा की माँ को ताने और उलाहने सुनने पड़ते हैं। कई बार तो उन्हें तलाक भी दे दिया जाता है। हालांकि अब विज्ञान द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि बच्चे का लिंग निर्धारण माँ द्वारा नहीं पिता द्वारा होता है। जिस दुनिया में लड़की का पैदा होना ही अशुभ है, वह लड़की अपमान एवं उपेक्षा में पल बढ़कर जब माँ बनती है तो उसकी संतान स्वभावतः असंतुलित मानसिकता की होती है। फिर ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ की जगह यदि ‘मातु भवन्तु सुखिनः’ का आदर्श अपना लिया जाए तो समाज से यह अन्याय कलंक स्वयं मिट जाएँगे।

कन्या वध तथा भ्रूण हत्या से होने वाली मौतों से कहीं ज्यादा मौतें लड़कियों को परिवार में संतुलित भोजन और उचित देखभाल न मिलने के कारण होती हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एन० एफ० एच० एस०)-2 के अनुसार किशोरावस्था में विवाहित हो जानेवाली 1.9 प्रतिशत लड़कियाँ खून की जबरदस्त कमी और

45.9 प्रतिशत शून की सामान्य कमी का शिकार होती है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अगर यह कमी समय रहते पूरी न की जाये तो गर्भधारण करने के बाद महिला के स्वास्थ्य के बिगड़ने की संभावना भी प्रवल हो जाती है। सर्वेक्षण से यह भी पता चला है कि 51.8 प्रतिशत महिलाएँ (15-49 वर्ष की) पोषण संबंधी रक्ताल्पता से ग्रस्त होती हैं। जिसे किशोरावस्था में अच्छा पोषाहार देकर दूर किया जा सकता था। भारतीय परिवार में पोषाहार के संदर्भ में अभिभावकों द्वारा बचपन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक स्त्री-पुरुष में भेदभाव किया जाता है। यही महत्वपूर्ण कारण है कि लड़कियाँ कुपोषित होती हैं। पंजाब राज्य के एक सर्वेक्षण के अनुसार एक युवा एवं प्रौढ़ महिला पुरुष के मुकाबले प्रतिदिन एक हजार कैलोरी कम खाती है।

यह भेदभाव दक्षिण के मुकाबले उत्तर भारत में ज्यादा पाया जाता है क्योंकि उत्तर भारत में लड़कों के वनिस्पत लड़कियों अधिक कमजोर और कुपोषित है। इसके पीछे कारण यह है कि परिवारों में पोष्टिक खुराक पुरुषों और पुत्रों को दी जाती है। हद तो तब हो जाती है जब बहुत से घरों में औरते और बच्चियाँ मर्दों के खाने के बाद बचा-खुचा खाकर जीवन-निर्वाह कर लेती हैं। खुराक का यह भेद-भाव केवल गरीब परिवारों में ही नहीं है बल्कि अपनी संपन्नता पर हेकड़ी भरने वाले उच्च परिवारों में भी देखा जा सकता है। प्रोटीन की कमी और उससे होने वाली बीमारियाँ लड़कियों में ज्यादा पाई जाती हैं। गाँव में किए गए अध्ययन से पता चलता है कि कम आय तथा अधिक आय वाले दोनों ही तरह के परिवारों में केवल 5 से 7 प्रतिशत लड़कियों का पोषण ठीक था बाकी 90 से 96 प्रतिशत लड़कियाँ कम या अधिक मात्रा में कुपोषित थीं।

हमारे देश में लाखों बच्चियों का तो बचपन ही नहीं होता है। जब वे हाथ-पैर चलाने के लायक होती हैं, तभी उन्हें कोई काम पकड़ा दिया जाता है। जैसे-झाड़ू-बुहारी, लकड़ी बीनना, अपने से छोटे भाई-बहनों को देखना इत्यादि। कुछ और बड़ी हो जाये तो कुएँ से पानी लाना, दाल-रोटी पकाना, खेत पर काम करना, चारा-पानी देना इत्यादि। काम की कोई गिनती नहीं दिन चढ़े शुरू होता है और रात ढले तक खत्म नहीं होता है। खाते-पीते घर का भी काम तो लड़कियों को करना पड़ता है। बेटों से अक्सर घर का काम नहीं करवाया जाता है। बेटों पर दोहरा बोझ नहीं होता है। जाँच पड़ताल से पता चला है कि कुछ घरों में लड़कियाँ दिन में 7-8 घंटे काम करती हैं। इन लड़कियों के मेहनताना का हिसाब लगाया तो पता चला कि हर लड़की बीस साल की उम्र तक इतना काम करती है कि उसकी मजदूरी 40,000 रुपये से अधिक बैठती

है। बेटे घर का इतना बोझ उठाती हैं, फिर भी उसे परिवार पर आर्थिक बोझ माना और कहा जाता है। उसका काम और मेहनत किसी को दिखता नहीं। उसके काम का न मान है और न दाम। यह कैसा न्याय है? यह सच है कि अन्य किसी भी प्रवृत्ति ने मनुष्यता को उतना नुकसान नहीं पहुँचाया है जितना कि लिंग भेद की प्रवृत्ति ने। दुनिया की आधी आबादी को उपेक्षित रखकर किसी भी अमन-चैन की कल्पना करना वेबुनियाद है।

चाहे कुपोषण हो या शिक्षा इन दोनों ही मामलों में बालिकाओं की स्थिति खराब है। वैसे भी आज तक हम बालिकाओं को यह मान्यता देने में नाकाम रहे हैं जो बालको को दिया करते हैं। यह स्थिति लड़कियों के स्वास्थ्य कुपोषण और स्कूल छोड़ने जैसे कारकों में भी मौजूद है।

एन०एच०एस०-2 के मुताबिक 6-11 वर्ष के लड़के-लड़कियाँ कभी स्कूल नहीं गए। इसका एक मुख्य कारण निम्न आर्थिक स्तर है। ऐसे लड़के की संख्या 7 फीसदी है और लड़कियों की संख्या 14 फीसदी है। हमारे निर्धनता गरीबी समेत तमाम कारकों की वजह से शिक्षा प्राप्ति में लड़कों और लड़कियों दोनों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है लेकिन जिस तरह रजिया सुल्तान की असफलताओं के तमाम कारणों में से एक कारण उनका स्त्री होना भी कुछ लोग मानते हैं, उसी तरह लड़की को शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर स्कूल छोड़ने वाले बच्चों के प्रतिशत से समझा जा सकता है। आँकड़े वैसे ही तस्वीर साफ करने के लिए काफी हैं।

वर्ष	प्राथमिक		माध्यमिक		माध्यमिक					
	लड़के	लड़कियाँ	कुल	लड़के	लड़कियाँ	कुल	लड़के	लड़कियाँ	कुल	कुल
1960-61	61.7	70.9	64.9	75.0	85.0	78.3	-	-	-	-
1970-71	64.9	70.9	67.9	74.6	83.4	77.9	-	-	-	-
1980-81	56.2	62.5	58.7	68.0	79.4	72.7	79.8	86.6	82.5	
1990-91	40.1	46.0	42.6	59.1	65.1	60.9	67.5	76.9	71.3	
1992-93	43.8	46.7	45.0	58.1	65.2	61.1	70.0	77.3	72.3	
1999-00	38.7	42.3	40.3	52.0	58.0	54.5	66.6	70.6	68.3	
2001-02	38.4	39.9	39.0	52.9	56.9	54.6	64.2	68.6	66.4	

हमारे भारतीय समाज में लड़कियों के शिक्षा के विस्तार में कुछ कारण विशेष रूप से बाधक हैं जो इस प्रकार हैं:-

1. परिवार में अभिभावकों द्वारा लड़कियों पर अनेक पाबंदियाँ लगाई जाती हैं। उन्हें उपदेश दिये जाते हैं कि वे लड़कियाँ हैं इस कारण उन्हें शांत, सौम्य, सहनशील, आज्ञाकारी, शर्मिली और विनम्र होना चाहिए। उन्हें चुस्त एवं भड़काउ परिधान नहीं पहनना चाहिए, यही नहीं लड़की का परिवार से निकलकर लड़कों से पूछ-ताछ करने पर भी आपत्ती की जाती है।

2. माता-पिता लड़कियों के पढ़ाई के प्रति उदासीन दृष्टिकोण। इस उदासीनता के पीछे कुछ तर्क छिपे रहते हैं। जैसे एक तो माता-पिता यह कह देते हैं कि यदि लड़कियों को अधिक पढ़ाई जाय तो उनकी शादी के लिए अधिक शिक्षित लड़के की खोज करनी होगी। परिणामस्वरूप समान शैक्षिक लड़के के माता-पिता अपने लड़के के शिक्षा के बदले अधिक दहेज की माँग करेंगे। दूसरे तर्क वे यह देते हैं कि लड़की विवाह के बाद घर छोड़ देगी और प्राप्त की गई शिक्षा और कौशल उसके साथ चला गया। उस पर लगाई गई लागत बेकार हो जाएगी। तर्क यह भी दिया जाता है कि क्या होगा लड़की को पढ़ा-लिखा कर, आखिर करना तो उसे चूल्हा-चौका ही है और चूल्हा-चौका का ज्ञान उसे घर में रहकर लेना है। लड़की के प्रति शिक्षा के मामले में यह उदासीनता प्राथमिक स्तर पर न भी लेकिन माध्यमिक या उच्च स्तर पर अवश्य पाया जाता है।
3. लड़की को कैसी शिक्षा देनी है इसका निर्णय माता-पिता के द्वारा किया जाता है तो ऐसी स्थिति में माता-पिता के दबाव और तनाव के कारण उनकी पढ़ाई से रूची खत्म हो जाती है।
4. कुछ माताएँ पढ़ने वाली लड़की से काम लेती हैं, उनमें अक्सर दोष निकालती हैं जिससे वे अपना आत्मविश्वास खो बैठती हैं।
5. परिवार की कमजोर आर्थिक स्थिति बालिकाओं को मज्जधार में पढ़ाई त्यागने के लिए विवश करती है, भले ही शिक्षा निःशुल्क हो, क्योंकि

लड़कियों को विद्यालय द्वारा स्वीकृत पोशाक तो चाहिए ही और वह पोशाक निरंतर साफ होती रहनी चाहिए। उस पर भी उनके लिए महँगी किताबें तथा कॉपियाँ आदि तो चाहिए। यदि स्कूल तथा कॉलेज दूर हो तो यातायात का खर्च भी चाहिए। सोचने वाली बात यह है कि जहाँ दो वक्त की रोटी की व्यवस्था करना कठिन हो वहाँ इन आतिरिक्त खर्चों की पूर्ति कैसे होगी। यह स्थिति उस समय और भी चिंतनीय हो जाती है जब परिवार में स्कूल जाने वाली आयु के बच्चों की संख्या अधिक हो, अधिक दूरी के स्कूलों तथा कॉलेजों में लड़कियों का जाना आर्थिक दृष्टि से तो अव्यवहारिक होता है सुरक्षात्मक दृष्टि से भी लड़कियों का दूर के स्कूल तथा कॉलेज में जाना संभव नहीं हो पाता है।

6. विवाह के बाद लड़कियाँ अक्सर स्कूल का मुँह नहीं देख पाती। ऐसे में यदि उनका विवाह कम उम्र में हो जाए तो वे शीघ्र ही या कम उम्र में ही बच्चे को बिदा कर देती हैं, एक ओर लड़की की विदाई होती है तो दूसरी ओर बस्ते की।

वर्तमान समय में सबसे ज्वलंत समस्या यह है कि बालिका शिक्षा का उन्नयन तथा गुणात्मक विकास कैसे किया जाए। इस संबंध में निम्नलिखित सुझाव अपेक्षित हैं—

1. बाल विवाह जैसे परंपराएँ समाप्त होनी चाहिए। जिन राज्यों में लड़कियों के विवाह की औसत आयु कम है, उन राज्यों में आंध्रप्रदेश सरकार की बालिका संरक्षण योजना की तरह की योजनाएँ चलानी चाहिए, ताकि बाल विवाह पर अंकुश लगे

तथा लड़कियों की पढ़ाई जारी रहे।

2. संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में जहाँ महिलाएँ काम करती हैं। शिशु सदन की स्थापना की जानी चाहिए ताकि लड़कियों को स्कूल छोड़कर अपने भाई-बहनों की देखभाल के लिए घर पर रूकना न पड़े।
3. शिक्षा के सभी स्तरों पर लड़कियों के शिक्षा-संस्थानों का विस्तार किया जाए ताकि कम दूरी पर लड़कियों को स्कूल कॉलेज उपलब्ध हो सके। इस बारे में यह सुनिश्चित होना आवश्यक है कि उनमें पर्याप्त बुनियादी सुविधाएँ हो। यदि स्कूलों तथा कॉलेजों में पर्याप्त संख्या में अच्छे शिक्षक हैं और बेहतर शैक्षणिक सामग्री उपलब्ध हैं अन्य बुनियादी सुविधाएँ भी हैं तो स्वतः ही आकर्षण बढ़ेगा।
4. जो लड़कियाँ औपचारिक स्कूलों में न जाने की स्थिति में हो उनकी पढ़ाई की वैकल्पिक व्यवस्था होनी चाहिए। सायंकालीन, रात्रिकालीन तथा अवकाशकालीन विद्यालय इसमें सहायक हो सकते हैं।
5. जो अभिभावक गरीबी रेखा के नीचे गुजर बसर कर रहे हैं उन पर से शिक्षा का बोझ पूरी तरह से खत्म करना आवश्यक है, कोशिश ऐसी होनी चाहिए कि गरीबी अन्मूलन योजना का लाभ उन तक पहुँचे जिससे वे लड़कियों को मजदूरी पर भेजने के लिए विवश न हो।
6. दोपहर के भोजन की चलने वाली योजना को अधिक प्रभावी तथा कारगर बनाना होगा। यह योजना उन लड़कियों को अधिक आकर्षित करेगी जिनके परिवार में रोटी

की व्यवस्था करना प्राथमिक लक्ष्य है।

7. सरकार की संसाधनों की सीमितता को देखते हुए निजी स्कूलों का विस्तार किया जाए लेकिन फीस वृद्धि पर अंकुश रखना आवश्यक है।
8. माता-पिता को लड़कियों की शिक्षा के प्रति उदासीनता का दृष्टिकोण समाप्त करना होगा। परिवार का यह दृष्टिकोण कि लड़कियों को अधिक न पढ़ाया जाए न्यायोचित नहीं है। माताओं द्वारा घर की पूरी जिम्मेदारी लड़कियों पर डाल देना उचित नहीं है। माता-पिता को अपने परिवार का आकार अपनी आमदनी के अनुसार रखना चाहिए जिससे वे आर्थिक विपन्नता के कारण अपनी पुत्रियों की शिक्षा की अवहेलना जानबूझ कर करने के लिए विवश न हो।

आशा है कि उक्त सुझावों से महिला शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति का सिलसिला मात्रात्मक तथा गुणात्मक रूप में उत्तरोत्तर निखरेगा। महिला शिक्षा को सही दिशा मिलेगी। आज भी हमारे भारतीय समाजों में लड़कियों की तुलना में लड़कों को वरीयता देना एक आम सोच है, किन्तु शिक्षा के स्तर पर लड़कियों की स्थिति में धीरे-धीरे बढ़ोत्तरी हुई है एवं बालक-बालिकाओं के बीच का अंतर काफी कम हुआ है।

2001 की जनगणना के अनुसार भारत में पुरुष साक्षरता दर 74 प्रतिशत और महिला साक्षरता दर 54 प्रतिशत है। सरकारी और गैर सरकारी प्रयासों के परिणामस्वरूप पिछले दो दशकों में महिला साक्षरता दर 29.76 प्रतिशत (1981) से 54.76 प्रतिशत (2001) हो गयी है। निरक्षर महिलाओं

की संख्या 1991 में 20 करोड़ से ऊपर थी जो 2001 में 18 करोड़ 96 लाख पर आ गयी। स्कूल में लड़कियों के नामांकन की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन आया है। प्राथमिक स्तर पर 1980-81 में 64.1 प्रतिशत के अपेक्षाकृत 1999-2000 में यह बढ़कर 85.2 हो गया है। माध्यमिक स्तर यह 28.6 प्रतिशत से 49.7 पर आ गया है। इस तरह के शिक्षा के स्तर पर लड़कियों की स्थिति में सुधार आ रहा है।

लेकिन अभी भी बिहार शैक्षणिक रूप से एक रूप से एक पिछड़ा राज्य माना जाता है। क्योंकि यहाँ साक्षरता दर में काफी अंतर है। जिसे यहाँ आँकड़े द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

बिहार में साक्षरता दर

वर्ष	साक्षरता	पुरुष	महिला
1951	13.49	22.68	4.22
1961	21.95	35.86	8.11
1971	23.17	35.86	9.86
1981	32.32	47.11	16.61
1991	37.49	51.37	21.99
2001	47.53	60.32	33.57

इस तरह बालिकाएँ अपने समाज में अनेक प्रकार से भेदभाव तथा शोषण सहते हुए भी अपनी मंजीले पाने में कामयाब हो रही हैं। दुनिया का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ महिलाओं ने अपना परचम न लहराया हो फिर भी समाज में वे उपेक्षित हैं। महिलाओं में आत्मविश्वास बना रहे इसके लिए उन्हें आर्थिक और शैक्षणिक दोनों रूपों में मजबूत होने व करने की जरूरत है। इस क्रम में महिलाओं के लिए शिक्षा के संक्षिप्त पाठ्यक्रम जैसे प्रयास केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड 1958 से कर रहा है। इस योजना का लक्ष्य 15 वर्ष से अधिक आयु की लड़कियों/महिलाओं की

कौशल व्यावसायिक प्रशिक्षण के आलावा शैक्षणिक अवसर प्रदान करना है। इस स्कीम में मुख्य रूप से यह सुनिश्चित करने पर बल दिया गया कि पाठ्यक्रमों की विषय-वस्तु आवश्यकता आधारित हो। जिसका निर्धारण स्थानीय जरूरतों के अनुसार संशोधित हो और प्राथमिक, मिडिल, हाईस्कूल तथा मैट्रिक/माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रमों के शैक्षणिक स्तरों के प्रति एक साथ लक्षित हो। इन सबके वावजूद अगर हमें विजन 2020 को सफल देखना है तो आधी आबादी समेत स्वस्थ नयी पौधों के विकास पर जोर देना होगा। क्योंकि दहलीज से निकलने का संघर्ष करती-नारी और कुपोषित बच्चे जो कल के नागरिक हैं, उन्हें लेकर अगर हम दुनिया में महाशक्ति बनने की सोचते हैं तो यह सोच नहीं सपना है, जिसके सच होने की संभावना शायद ही हो।

संदर्भ सूची

1. प्रतियोगिता दर्पण— अप्रैल 2000, पृष्ठ 31-32
2. योजना—जनवरी 2008, पृष्ठ 16-17
3. राष्ट्रीय स्वास्थ्य सर्वेक्षण—1993
4. समाजिक परिवर्तन—जून 1995, Vol. 15, No - 2
5. कुरुक्षेत्र—मार्च 2007, पृष्ठ 13-15
6. कुरुक्षेत्र—मार्च 2008, पृष्ठ 20-21
7. हिन्दुस्तान, पटना—28 अक्टूबर, 2007, पृष्ठ 9
8. हिन्दुस्तान, पटना—09 जनवरी, 2009, पृष्ठ 7
9. डा० कुमार तपन: भारतीय महिलाओं की दशा—पृष्ठ 320-324
10. कुरुक्षेत्र—मार्च— 2009

डा० लालेश्वर प्रसाद यादव

व्याख्याता, बी० एन० कॉलेज, पटना
विश्वविद्यालय, पटना

डा० रंजना

तदर्थ व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग,
बी० एन० कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय,
पटना,

भारत में महिला सशक्तिकरण: वायदे और क्रियान्वयन

सरिता कुमारी एवं डॉ० रूबी कुमारी

यह सर्वमान्य एवं सर्वानुभूत तथ्य है कि महिला सदियों से भेदभाव एवं शोषण सहते-सहते निःशक्त हो गई है। उसकी योग्यता को दबाकर उसे चूल्हे-चौके में धकेलने वाले पुरुष प्रधान समाज ने प्रत्येक क्षेत्र में उसका एक साधन (वस्तु) के रूप में उपभोग किया है। पुरुष प्रधान सरकारों ने भी महिला विकास का झुनझुना ही बजाया है, ना कि ईमानदारी से उस पर क्रियान्वयन किया।

महिलाओं की उपेक्षा का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महिलाओं को पुरस्कार, सम्मान तक देने में भेदभाव किया जाता रहा है।

उल्लेखनीय जनवरी 2002 को गणतंत्र दिवस में प्रदान किए जाने वाले राष्ट्रीय सम्मानों को इंदिरा गोस्वामी और सितारा देवी ने लेने से इंकार कर दिया था। उनका कहना था कि सरकारों ने हमेशा महिलाओं की घोर उपेक्षा की है। उनसे कम योग्य लोगों को 'पद्मश्री' आदि सम्मान बहुत पहले प्रदान किए जा चुके हैं।

उल्लेखनीय है कि 1954 से अब तक प्रदत्त 41 भारत रत्नों में से मात्र 5 ही महिलाओं को दिए गए। 1971 में इंदिरा गांधी को पहला भारतरत्न मिला था।

पिछले कुछ वर्षों में यूँ तो देश के आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक विकास संबंधी सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने विशेष भूमिका का निर्वहन किया, आजादी के बाद प्रधानमंत्री पद को मुस्तैदी और कुशलतापूर्वक संभाला, राज्यपाल, कैबिनेट मंत्री, मुख्यमंत्री, राजदूत जैसे महत्वपूर्ण राजनैतिक और प्रशासनिक पदों के उत्तरदायित्वों का भली-भाँति निर्वहन करने के साथ-साथ उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, संघ लोक सेवा आयोग एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष का पदभार भी बखूबी संभाला लेकिन विभिन्न स्तरों से होने वाले तथाकथित प्रयासों के बाद भी महत्वपूर्ण पदों पर उनकी संख्या नगण्य सी है। स्वतंत्रता के 61 वर्ष बाद भी देश में वरिष्ठतम प्रबंधकीय पदों पर महिलाओं की संख्या मात्र 3.2 प्रतिशत है जिससे आभास होता है कि इस दिशा में प्रयासों में तेजी लाने की आवश्यकता है।

महिलाओं की यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति केवल भारत में ही नहीं विश्वभर में व्याप्त है। विश्व की आँख भी 1975 में खुली और उसने आँखे मिचमिचाते हुए 8 मार्च को 'अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस'

की औपचारिक रस्म अदायगी शुरू कर दी। 20वीं सदी के ढाई दशक में महिलाओं की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार नहीं हो पाया।

12 दशक पूर्व ही स्वामी विवेकानंद ने विश्वमंच पर कहा था, "औरतों की स्थिति में सुधार लाए बिना कल्याण असंभव है, जैसे कि एक पंख से उड़ान भरना।"

जब तक इस सामाजिक, शैक्षिक राजनीतिक और आर्थिक भेदभाव को खत्म नहीं किया जाता तब तक महिला को मात्र राजनीतिक समानता देने से सशक्त नहीं बनाया जा सकता यों महिलाओं को वर्ष 2001 में सशक्त करने हेतु निम्न सरकारी कदम उठाए गए हैं, जिनकी चर्चा के बाद इनके क्रियान्वयन की बात करना सही होगा। पिछले वर्ष प्रारंभ की गई महिला नीति, योजनाएँ, प्रस्तावित एवं पास कराए गए विधेयक आदि इस प्रकार हैं:

- 1) महिला सशक्तिकरण वर्ष में केन्द्र सरकार ने देश में पहली बार एक 'राष्ट्रीय महिला उत्थान नीति' बनाई, ताकि महिलाओं के उत्थान और समुचित विकासार्थ आधारभूत व्यवस्थाएँ निर्धारित की जा सके। आशा की गई कि इस नीति के सफल क्रियान्वयन से महिलाओं को आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विकास में समान भागीदारी के अवसर प्रदान किए जा सकेंगे।

नीति के प्रमुख बिंदु निम्नांकित हैं:

- (i) देश में महिलाओं की शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा में सहभागिता निश्चित करना।
- (ii) महिलाओं हेतु ऐसा वातावरण निर्मित करना कि वे अनुभव करें कि वे स्वयं सामाजिक तथा आर्थिक नीतियाँ बना सकती हैं।
- (iii) किसी भी प्रकार के भेदभाव को दूर करने हेतु समुचित कानून तथा सामुदायिक प्रक्रिया विकसित करना।
- (iv) इन्हें मानवाधिकारों के उपयोग में सक्षम बनाना।
- (v) सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन हेतु महिलाओं-पुरुषों को समाज में समान भागीदारी निभाने हेतु प्रोत्साहित करना।
- (vi) बालिकाओं एवं महिलाओं के प्रति विविध अपराधों के रूप में व्याप्त असमानताओं को खत्म करना।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त बिंदुओं से संबंधित आवश्यक कानूनों के निर्माण हेतु वर्ष 2003 तक की समय-सीमा रखी गई

है। इस नीति को देशभर में पूरी तरह लागू करने हेतु 10 साल की समय-सीमा रखी गई।

- 1) स्वशक्ति योजना को विश्व बैंक की मदद से 7 राज्यों के 35 जिलों में शुरू किया गया है। स्वयंसेवी संगठनों के जरिए महिलाओं के 'स्वयं सहायता समूह' गठित करके इसका संचालन हो रहा है। अभी तक 91 स्वयंसेवी संगठनों द्वारा 9000 स्वयं सहायता समूहों का गठन हुआ है।
- 2) महिला उद्यमियों हेतु एक ऋण योजना 15 अगस्त, 2001 को प्रधानमंत्री द्वारा घोषित की गई। इस योजना द्वारा महिलाओं को सार्वजनिक बैंकों की मार्फत अधिक मात्रा में बैंक ऋण आसान शर्तों पर मिलेंगे।
- 3) केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा 12 जुलाई, 2001 को 2 योजनाओं की घोषणा की गई- 'महिला स्वयंसिद्धा योजना' और 'महिला स्वाधार योजना'। स्वयंसिद्धा योजना को पहले से चल रही 'इंदिरा महिला योजना' एवं 'महिला समृद्धि योजना' की जगह संचालित करने का फैसला किया गया। इसका प्रमुख लक्ष्य महिलाओं को सामाजिक-आर्थिक रूप से सशक्त करना है। इसके पहले चरण में 116 करोड़ ₹ 650 विकासखंडों में खर्च किए जाएँगे जिससे 9.30 लाख महिलाएँ लाभान्वित होंगी। 'स्वाधार योजना' के अंतर्गत परित्यक्ता, विधवा, निराश्रित एवं प्रवासी महिलाओं को वरीयता दी जाएगी। इसे त्रिस्तरीय पंचायतों के जरिए केन्द्र-राज्य सरकारों के सम्मिलित संसाधनों से संचालित किया जाएगा।
- 4) बालिका समृद्धि योजना में संशोधन करते हुए 'प्रसवोपरांत अनुदान' के रूप में मिलने वाले 500 रुपये अब

बालिका के नाम से ब्याजयुक्त एकाउन्ट में डाले जाएँगे। इसके अतिरिक्त यह बालिका स्कूली पढ़ाई हेतु प्रत्येक सफल वर्ष के लिए वार्षिक छात्रवृत्ति भी ले सकेगी।

- 5) किशोरी शक्ति योजना: प्रथम चरण में भारत के 507 विकास खंडों में लागू की गई है। शेष विकास खंडों में भी यह शीघ्र लागू की जाएगी। इसके अंतर्गत 6400 रु. तक वार्षिक आय वाले परिवार की बालिकाओं का उचित लालन-पालन, शिक्षा, स्वास्थ्य सुनिश्चित किया जाएगा। योजना को दो भागों में बाँटकर चलाया जा रहा है। 'गर्ल टू गर्ल एप्रोच' योजना 11-15 वर्षीय तथा 'बालिका मंडल योजना- 15-18 वर्षीय किशोरियों हेतु बनाई गई है। मंडल योजना में किशोरियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है।
- 6) महिला आरक्षण विधेयक को 'महिला सशक्तिकरण वर्ष' में संसद में पेश भी नहीं किया जा सका। 1998 से प्रस्तावित इस विधेयक की सर्वाधिक दुर्गति भी इसी वर्ष (2001) में हुई। 73व 74 में संविधान संशोधन द्वारा देशभर में ग्रामीण व नगरीय पंचायतों के सभी स्तरों पर महिलाओं हेतु एक-तिहाई सीटें आरक्षित की गईं।

इस व्यवस्था के क्रियान्वयन से देश में सभी स्तरों पर 2,50,000 महिला जन प्रतिनिधि उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह कर रही है। ऐसी ही व्यवस्था 'महिला आरक्षण विधेयक' के माध्यम से संसद व राज्य विधानमंडलों में प्रस्तावित है। यह अलग बात है कि अभी तक कुछ राज्यों में पंचायतों के चुनाव तक नहीं हुए हैं। बहुचर्चित महिला आरक्षण विधेयक के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं:

- 1) संविधान के अनुच्छेद 33 के खंड

(1) के तहत लोकसभा में महिलाओं हेतु स्थान आरक्षित करना;

- 2) अनुच्छेद 330 के खंड (2) के अधीन आरक्षित स्थानों में से यथासंभव एक तिहाई स्थान महिलाओं हेतु आरक्षित होंगे;
- 3) अनुच्छेद 332 क (1) के तहत सभी राज्य विधान सभाओं में भी महिलाओं हेतु स्थान आरक्षित किए जा सकेंगे।

उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने वर्ष 2001 में 5 राष्ट्रीय पुरस्कारों की स्थापना करते हुए महिलाओं को सशक्त बनाने हेतु भारतीय तलाक (संशोधन) एक्ट, 2001 को पारित तथा निम्न अधिनियम विधेयकों को प्रस्तावित किया-

1. महिलाओं विधेयकों को प्रस्तावित किया,
2. परित्यक्ताओं हेतु गुजारा भत्ता (संशोधन) अधिनियम बिल, 2001
3. बालिका अनिवार्य शिक्षा एवं कल्याण विधेयक, 2001

पूर्व उल्लिखित समस्त सरकारी कदमों के आधार पर कहा जा सकता है कि एक वर्ष की अल्पावधि में प्रयास भरपूर किए गए। न्यायपालिका ने भी इस ओर विशेष सक्रियता दिखाई। यदि ये प्रयास जारी रहे तो कार्यान्वयन वर्ष 2002 भी सफलता की तरफ बढ़ेगा। इन रचनात्मक एवं सकारात्मक प्रयासों से महिलाओं की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति तो निरंतर सुधार की ओर बढ़ रही है, किंतु राजनीतिक स्थिति अभी भी दयनीय बनी हुई है।

हमें एक नजर संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व पर भी डालनी होगी, ताकि स्वतः इनके प्रतिनिधित्व को बढ़ाने हेतु आवश्यक मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन सभी सरकारों तथा राजनीतिक दलों को प्राप्त हो सकें।

जहाँ लोकसभा में महिलाओं का प्रतिनिधित्व 5.8 तथा राज्यसभा में

9.3 प्रतिशत रहा है, वहीं राज्य विधानमंडलों में यह 4 प्रतिशत ही है। ऐसा नहीं है कि महिलाओं को सशक्त बनाने हेतु सिर्फ वर्ष 2001 में ही सकारात्मक प्रयास किए गए। आजादी के बाद से निम्नलिखित व्यवस्थाएँ भी स्थापित की गई, हालाँकि इन पर शासकों-प्रशासकों और कर्मचारियों ने ईमानदारी से क्रियान्वयन नहीं किया:

- (i) वेश्यावृत्ति निवारण एक्ट (अधिनियम), 1956 व 1986 में संशोधित।
- (ii) दहेज प्रतिबंध एक्ट, 1961 व 1986 में संशोधित।
- (iii) प्रसूति लाभ एक्ट, 1961
- (iv) समान पारिश्रमिक एक्ट, 1976
- (v) अश्लील चित्रण निवारण एक्ट, 1986 आदि।

लेकिन इतना कुछ होने के बाद भी इन सरकारी व्यवस्थाओं से हमें अपेक्षित लाभ नहीं मिले। सच कहावत है कि 'ताली एक हाथ से नहीं बजती'। सफलता रूपी ताली की आवाज सुनने हेतु दूसरे हाथ यानी समाज को अग्रलिखित बाधा-रूपी समस्याओं को दूर करने हेतु सक्रिय पहल करनी होगी—

1. अशिक्षा का चक्रव्यूह
2. शासकीय निष्क्रियता
3. प्रचार-प्रसार में घोर उपेक्षा
4. पुरुषीय तानाशाही
5. नारी का शोषण

वर्ष	लोकसभा		संसद में प्रतिनिधित्व		राज्यसभा	
	कुल सीटें	महिला सांसदों की सं०	कुल सांसदों की सं०	महिला सांसदों की सं०	कुल सांसदों की सं०	महिला सांसदों की सं०
1952	449	22	4.4	219	16	7.3
1957	500	27	5.4	237	18	7.5
1962	503	34	6.8	238	18	7.6
1967	523	31	5.0	240	20	8.3
1971	521	22	4.2	243	17	7.0
1977	544	19	3.4	244	25	10.2
1980	544	28	5.1	244	24	9.8
1984	544	44	8.1	244	28	11.4
1989	517	27	5.22	244	28	9.7
1991	544	39	7.18	245	24	15.5
1996	543	40	7.18	223	20	9.0
1999	543	43	7.2	237	223	9.2
औसत	523	31	5.8	238	23	9.3

1. अशिक्षा का चक्रव्यूह: अभी भी देश में 51.16 प्रतिशत महिलाएँ साक्षर हो पाई हैं। निरक्षरता के कारण ही महिला भेदभाव, शोषण और उपेक्षा के दलदल में धँसती रही और पुरुष प्रधान समाज और सरकार ने कभी गंभीरता से उसे बाहर निकालने का वास्तविक प्रयास नहीं किया।

आज भी साक्षर ही नहीं, अधिकतर शिक्षित महिलाएँ भी अपने मौलिक एवं मानवाधिकारों के बारे में अनजान हैं।

2. शासकीय निष्क्रियता: देश में कानून होने के बाद भी इनमें से कई महिलाएँ समान कार्य करने के बावजूद असमान पारिश्रमिक पा रही हैं। खुलेआम होते बाल-विवाह ने शासन-प्रशासन के उदारवादी मुखौटे को उतार फेंका है। दहेज प्रताड़ना में मामूली-सी कमी हुई है।

3. प्रचार-प्रसार में घोर उपेक्षा: स्वतंत्रता सेनानी अपने वर्ग का प्रेरणा-स्रोत होता है। सर्वविदित है कि स्वतंत्रता आंदोलनों में लाखों महिलाओं ने हिस्सा लिया, किंतु अंगुली पर गिनने योग्य महिलाएँ— लक्ष्मीबाई, अरूण आसफ अली, मैडम कामा, सरोजनी नायडू, इंदिरा गाँधी आदि का नाम ही आम जनता जानती है।

शायद ही दुर्गा भाभी, सत्यवती, लाडो रानी, दुर्गा बाई, मालिनी सखटे, जमुना देवी, मदान देवी जैसी महत्वपूर्ण हजारों महिला स्वतंत्रता सेनानियों के नाम एवं उनके कार्य 2 प्रतिशत महिलाएँ जानती हों।

4. पुरुषीय तानाशाही: अभी भी महत्वपूर्ण पारिवारिक निर्णय पुरुष वर्ग ही ले रहा है, जबकि घर के अंदर-बाहर इनका सर्वाधिक प्रभाव बालिकाओं, नवयुवतियों और प्रौढ़-वृद्ध महिलाओं पर पड़ता है। शिक्षित एवं सम्पन्न महिलाओं को भी पुरुष वर्ग की तानाशाही सहन करनी पड़ती है जिसे हम मीडिया के विभिन्न साधनों से देखते रहते हैं। जैसे अभी हाल ही में पटना राजधानी में 'चमेली प्रकरण' का एक घटना घटित हुआ। जिसे मीडिया के द्वारा दिखाया गया।

5. नारी का शोषण: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—परिवार, संपत्ति, वर का चयन, शासकीय सेवा, खेल, शिक्षा, विज्ञापन, फिल्म आदि में असंख्य कानून होने के बावजूद जारी है। हम प्रतिदिन इन क्षेत्रों में इनके शोषण के समाचार पढ़ते-सुनते हैं। आज नारी तृतीय विश्व बन गई है जहाँ सुविधाएँ और मानवाधिकार बहुत कम प्राप्त हैं, लेकिन इनके लिए श्रम बहुत अधिक है।

उल्लेखनीय है कि खेल अधिकारी कर्णम मल्लेश्वरी को सिडनी ओलंपिक में भेजने पर ही आशंका व्यक्त कर रहे थे जबकि उसी ने भारत की लाज बचाई। यदि मल्लेश्वरी को यह तनाव न झेलना पड़ता तो वह भारत को स्वर्ण पदक भी दिला सकती थी।

व्यावहारिक सुझाव:

- 1) निरक्षरता: अशिक्षा को भेदने के लक्ष्य को परिवार, पड़ोस, सरकार एवं समाज के प्रत्येक स्तर पर गंभीरता से लिया जाना चाहिए। मीडिया को इस तथ्य को प्रचारित-प्रसारित करने में खास भूमिका निभानी होगी। महिलाओं को विकास के लाभों में बराबरी का हकदार बनाने हेतु सकारात्मक एवं उत्साहवर्धक वातावरण बनाना नितांत आवश्यक है।
- 2) पुरुष प्रधान समाज व सरकार को अपनी सोच बदलनी होगी कि वे विशेषाधिकारी नहीं हैं। महिला वर्ग को भी अपनी दुर्दशा सुधारने हेतु पुरुषवर्ग का मार्गदर्शन, स्वैच्छिक सहयोग आदि स्वीकार करना चाहिए। इन पुरुषों को विश्वसनीयता की कसौटी पर पहले ही परख लेना चाहिए, क्योंकि सभी स्वयंसेवी महिला-पुरुष स्वार्थी, शोषक एवं चरित्रहीन नहीं होते। इन रचनात्मक प्रयासों को धर्म, धन, लिंग व रंगरूप के झूठे एवं दिखावटी सुंदर पत्थरों से बचाना होगा।
- 3) महिला वर्ग को भी मिलती जा रही स्वतंत्रता, सुविधा व भागीदारी को सार्थक सिद्ध करने हेतु सदा सकारात्मक तथा सक्रिय कदम उठाते हुए पाश्चात्य अश्लीलता (उत्तेजक रहन-सहन) का अंधानुकरण बंद करना होगा, क्योंकि छेड़छाड़, अपहरण, बलात्कार जैसे असामाजिक कृत्यों के बढ़ने में यह भी एक कारण बना हुआ है। अतः पश्चिमी सभ्यता और बॉलीवुड के कृत्रिम खुलेपन के अंधानुकरण से बचते हुए 'आ बैल मुझे मार' की कहावत को चरितार्थ नहीं किया जाए।
- 4) डॉ॰ अम्बेडकर के सामाजिक एवं आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता को वर्तमान परिवेश में उचित रूप से

समझते हुए व्यवहार में लागू किए जाने की जरूरत है जो मुख्य रूप से महिला विकास से संबंधित है। महिलाओं एवं पुरुषों की समानता पर आधारित समाज का उनका सपना अभी साकार नहीं किया जा सका है।

- 5) वे कहते थे कि भारतीय महिला श्रम से नहीं घबराती, किंतु आँसुओं की चिंता अवश्य करती है। अतः इनकी चिंताओं- रोजी, रोटी, शिक्षा, असमान व्यवहार को यथाशीघ्र दूर किया जाना चाहिए।
- 6) उनका यह सुझाव अत्यंत कारगर सिद्ध होगा, "जब तक हमारी महिलाएँ आंदोलन में भरपूर हिस्सा नहीं लेती, तब तक पीड़ित, शोषित व अभावग्रस्त लोगों को मानवाधिकार प्राप्त नहीं होंगे।"
- 7) ग्रामीण महिलाओं को भी नेतृत्व प्रदान करने हेतु प्रशिक्षित एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जैसे कि अब तक राष्ट्रीय सेवा समिति (रास) द्वारा 1000 ग्रामीण महिलाओं (18-25 वर्ष) में नेतृत्व क्षमता जागृत करने हेतु विशेष प्रशिक्षण कैम्प लगाए गए। इसी तरह 25 वर्ष से अधिक आयु की महिलाओं के लिए भी कैम्प आयोजित किए जाने चाहिए जो मानसिक एवं शैक्षिक रूप से ज्यादा सबल होती हैं।
- 8) महिलाओं को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने हेतु उन्हें रोजगार के अधिकाधिक अवसर मुहैया कराने हेतु समाज व सरकार को सकारात्मक पहल करनी होगी। हाल ही में श्रम मंत्रालय के रोजगार व प्रशिक्षण महानिदेशालय द्वारा किया गया रोजगार संबंधी परिदृश्य का आकलन द्वारा देखते हैं कि संगठित क्षेत्र में महिला रोजगार केवल 16.3 प्रतिशत है। बिहार में मुस्लिम बालिका सशक्तिकरण हेतु 'औजार' कार्यक्रम

8 अगस्त 2009 को प्रारंभ किया गया। इसके द्वारा बालिका के खाते में 2,500 रू॰ जमा किया जाएगा और उन्हें प्रशिक्षण दिया जाएगा।

निष्कर्ष:

महिलाओं को सशक्त बनाने, सामाजिक विकास व न्याय देने हेतु सरकार-समाज के प्रत्येक वर्ग-जनप्रतिनिधि, शासक-प्रशासक, जनसमुदाय, मीडिया को उपर्युक्त विडंबनामय समस्याओं एवं समाधानार्थ व्यावहारिक सुझावों पर क्रियान्वयन करना होगा। तभी महिलाओं को सशक्त करने की बातें और क्रियान्वयन वर्ष '2002' सार्थक बन सकेगा। बेशक मंजिल दूर है और मार्ग कठिन है, फिर भी जीवन तो चलने का नाम है। अतः सभी को यथाशीघ्र एवं अपनी क्षमतानुसार कदम उठाने होंगे:

हौंसले हो बुलंद, तो यह राह व मंजिल मिल ही जाती है। महिलाओं को समाज में बराबरी का दर्जा दिलाने के लिए केवल लक्ष्य निर्धारित करने से काम नहीं चलेगा बल्कि लक्ष्यों को भली-भाँति प्राप्त करने के लिए आवश्यक संसाधन भी जुटाने होंगे। निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकारी योजनाओं पर कड़ी नजर रखनी होगी। प्रत्येक स्तर पर ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि महिला समानता और सशक्तिकरण की योजनाएँ कागजों तक ही सीमित नहीं रह जाएँ बल्कि धरातल पर उतारी जाएँ।

संदर्भ सूची:

1. योजना अप्रैल, 2002
2. योजना मार्च, 2001
3. कुरुक्षेत्र मार्च, 2005
4. 'हिन्दुस्तान' मार्च, 2009
5. 'दैनिक जागरण' मार्च, 2009

सरिता कुमारी

शोधप्रज्ञा, सामाजिक विज्ञान संकाय,
समाजशास्त्र विभाग (P.U.) ए पटना

डॉ॰ रूबी कुमारी

बी॰एन॰ कॉलेज, समाजशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

बाल अपराध की प्रकृति

डॉ. अनुपम गौतम

बाल अपराध (Juvenile delinquency) की परिभाषा है—“व्यक्तिगत और सामाजिक अव्यवस्था से संबद्ध किसी भी तरह का गैर-सामाजिक व्यवहार।” यह व्यवहार का वह रूप है जो कि समाज के नियमों और प्रतिमानों के विरुद्ध है और जो लोगों को बुरी तरह से प्रभावित करता है। कुछ का विचार है कि वह कोई भी काम, व्यवहार का हटकर है, अतः बाल अपराध सामाजिक और कानूनी दोनों ही तरह की संकल्पना है।

बाल अपराध में वृद्धि करने वाले कारक

बाल अपराध कई हालातों और परिस्थितियों की उपज है। इन हालातों या कारकों को निम्नलिखित समूहों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है:

- i) वे टूटे परिवार, जहां बच्चों को प्यार, अपनापन, स्नेह व सुरक्षा नहीं मिलती।
- ii) रहने की खराब जगह, घरों में और आसपास मनोरंजन के लिए स्थान की कमी।
- iii) गरीबी और माता-पिता द्वारा उपेक्षा।
- iv) बच्चे जो ऐसे व्यवसायों और ऐसी जगहों में काम कर रहे हैं जो अपराधी प्रवृत्ति के लिए अनुकूल हैं।
- v) स्कूल, काम की जगह और आस-पड़ोस में अवांछनीय संगी-साथी।
- vi) सिनेमा और साहित्य का आपत्तिजनक प्रभाव।

ऊपर बताए गए कारक केवल उदाहरण के लिए हैं, अनन्य नहीं। इसका यह मतलब नहीं है कि इसमें से एक या एकाधिक कारणों की उपस्थिति बाल अपराध को अवश्य ही बढ़ाएगी हां, ये तत्त्व एक रूप में या मिले-जुले रूप में, अपराधी व्यवहार को बढ़ा सकते हैं।

बाल अपराध को सुधारने के तरीके

बाल अपराधी की चर्चा करते समय आयु एक महत्वपूर्ण घटक है। भारतीय परिपक्वता अधिनियम के अनुसार परिपक्वता की आयु 18 वर्ष निश्चित की गई है। भारतीय दण्ड-संहिता के अनुसार 7 वर्ष की आयु से कम उम्र के बच्चे द्वारा किया हुआ गलत काम अपराध नहीं माना जाता। सामान्यतया 7 से 21 साल तक के बच्चे किशोर माने जाते हैं। परंतु 1986 के बाल अधिनियम के अनुसार,

भारत में 16 साल की आयु से कम उम्र का लड़का और 18 साल की आयु से कम उम्र की लड़की किशोर माने जाते हैं। पहले बाल अधिनियम के अनुसार अलग-अलग प्रदेशों में किशोरों की अलग-अलग आयु-सीमा होती थी।

यह अनुभव किया जाता है कि बाल अपराधियों से बर्ताव वयस्क अपराधियों से भिन्न तरीके से किया जाना चाहिए। यदि हम एक किशोर को एक वयस्क की भांति ही सजा दें और जेल में बंद कर दें तो वह जेल से बाहर आने के समय तक एक पक्का अपराधी बन चुका होगा, जबकि अगर हम उसे एक भिन्न वातावरण में रहने में मदद करें तो यह संभव है कि वह बदल जाए और अपराधी बनने से बच सके। इसको ध्यान में रखते हुए कुछ अधिनियमों के अंतर्गत बनाए गए प्रावधानों का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

किशोरों के मामलों को अनौपचारिक व सरल वातावरण में सुलझाने के लिए किशोर अदालतों का गठन किया गया है। इन अदालतों का नेतृत्व पूर्णकालिक विशेष मजिस्ट्रेटों, अधिमानतः स्त्रियों द्वारा किया जाता है। किशोरों को अदालत में हथकड़ी या बेड़ी डालकर नहीं लाया जाता। उनके मामलों की पैरवी वकीलों द्वारा नहीं बल्कि विशेष अधिकारियों जन्हें परिवीक्षा अधिकारी (probation officer) कहते हैं, द्वारा होती है।

वे लोग जिन्हें सामाजिक कार्य और सुधारात्मक प्रशासन का प्रशिक्षण प्राप्त है, परिवीक्षा अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। प्रत्येक परिवीक्षा अधिकारी को कुछ बाल अपराधी सौंप दिए जाते हैं। वह अधिकारी (स्त्री या पुरुष) उनके घरों व स्कूलों में जाकर व उनके माता-पिता, मित्रों और पड़ोसियों से मिलकर उनके मामलों की जांच-पड़ताल करता है। वह सुधारात्मक उपायों और बच्चों के पुनर्वास के लिए योजनाएं बनाता है।

अदालत द्वारा मामलों का निर्णय होने तक बाल अपराधियों को “सुधार-गृह” अर्थात् “रिमांड होम” में रखा जाता है। वहां उन पर कड़ी निगरानी रखी जाती है और उनके मानसिक, शारीरिक और नैतिक सुधार के लिए पर्याप्त उपाय किए जाते हैं। लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग सुधार-गृह हैं।

अदालत के निर्णय के पश्चात् वे बच्चे, जिनके अपराध छोटे ही होते हैं, माता-पिता को सौंप दिए जाते हैं और वे बच्चे जिन्हें निगरानी की बराबर जरूरत है देखभाल, उपचार, शिक्षा और

प्रशिक्षण के लिए अनुमोदित स्कूलों और संस्थाओं में रखे जाते हैं। उनसे यह आशा की जाती है कि जब तक वे स्कूलों से बाहर आएंगे, उनकी अपराधी वृत्तियां समाप्त हो चुकी होंगी और वे अच्छी नागरिकता के गुणों से परिपूर्ण हो चुके होंगे।

बच्चों के अधिकार

बच्चों को अपनी शारीरिक और मानसिक अपरिपक्वता के कारण जन्म से पहले भी और बाद में भी, विशेष सुरक्षा उपायों और देखभाल की जरूरत पड़ती ही, 1924 में सबसे पहले बाल अधिकारों की जेनेवा घोषणा में इन विशेष सुरक्षा उपायों की जरूरत के बारे में अभिव्यक्ति की गई। बाद में बाल निधि रक्षा अंतर्राष्ट्रीय इकाई (Save the Children Fund International Unit) द्वारा उसे आगे बढ़ाया गया। यह एक पांच-सूत्रीय विषय था जिसे राष्ट्र संघ (League of Nations) द्वारा दुनियाभर में पहुंचाया गया। आगे आने वाले वर्षों में इसका विस्तार हुआ जो आगे चलकर 1959 की बच्चों के अधिकारों की घोषणा बनी।

1959 की संयुक्त राष्ट्र घोषणा

20 नवंबर 1959 को संयुक्त राष्ट्र जनरल एसेम्बली द्वारा अंगीकृत बाल अधिकारों की घोषणा, बच्चों को “मानव जाति जो सर्वोत्तम दे सकती है” दिलाने की घोषणा करती है। यह इस बात का पुनः समर्थन करती है कि बच्चे अपनी भलाई, व समाज की भलाई के लिए अपने अधिकारों का उपभोग करें। यह माता-पिता, स्त्री-पुरुष और स्वैच्छिक संगठनों, स्थानीय अधिकारी वर्गों और राष्ट्रीय सरकारों सभी से इन अधिकारों को पहचानने और विधायी व अन्य उपायों द्वारा इनके अनुपालन के लिए प्रयास करने के लिए आह्वान करती है।

इस घोषणा में घोषित मुख्य नियम या अधिकार निम्नलिखित हैं:

- i) सभी बच्चे, चाहे जो हो पर बिना किसी अपवाद के या जाति, भाषा,

धर्म, राजनीति या अन्य विचार, राष्ट्रीय और सामाजिक उद्भव, सम्पत्ति, जन्म आदि में बिना किसी भेदभाव के या अपनी और अपने परिवार की दूसरी स्थितियों के विभेदीकरण के बिना इस घोषणा में घोषित अधिकारों के लिए अधिकृत हैं।

- ii) कानूनी रूप में या दूसरी तरह से, बच्चे को विशेष सुरक्षा, अवसर व सुविधाएं मिलनी चाहिए, जिससे कि उसका शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास हो सके, और यह विकास उसकी स्वतंत्रता व प्रतिष्ठा को बनाए रखते हुए एक स्वस्थ व सामान्य तरीके से हो।
- iii) बच्चे को जन्म से ही एक नाम और एक राष्ट्रीयता पाने का अधिकार होना चाहिए।
- iv) बच्चे को सामाजिक सुरक्षा के लाभों से लाभान्वित होना चाहिए और उसे एक स्वस्थ वातावरण में बढ़ने और विकसित होने का अधिकार मिलना चाहिए। यहां तक कि उसे और उसकी माता को विशेष देखभाल और सुरक्षा मिलने का प्रबंध होना चाहिए, जिसमें कि प्रसव-पूर्व और प्रसवोत्तर देखभाल भी शामिल है। उसे पर्याप्त पोषण, रहने का प्रबंध, मनोरंजन और स्वास्थ्य सेवाओं के अधिकारों का उपभोग करने का अधिकारी होना चाहिए।
- v) उस बच्चे को जो कि, शारीरिक, मानसिक या सामाजिक किसी भी रूप में अक्षम है, विशेष उपचार, मिलनी चाहिए और उसकी विशिष्ट स्थिति में आवश्यक देखभाल की जानी चाहिए।
- vi) बच्चे को अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण और सुसंगत विकास के लिए प्यार और सहानुभूति की जरूरत होती है। जैसे ही संभव हो, उसका विकास माता-पिता की जिम्मेदारी और देखभाल में होना चाहिए और हालत

में एक स्नेहपूर्ण, नैतिक और भौतिक रूप से सुरक्षित वातावरण में ही होना चाहिए। कुछ अपवादपूर्ण परिस्थितियों के सिवाय एक कच्ची उम्र का बच्चा अपनी मां से कभी अलग नहीं रखा जाना चाहिए। उन बच्चों की जिनके परिवार नहीं हैं या जिसके पास सहायता के पर्याप्त साधन नहीं हैं, विशिष्ट देखभाल करना समाज और सार्वजनिक अधिकारियों का कर्तव्य है।

- vii) कम से कम, प्रारंभिक अवस्था में तो बच्चे को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। उसे इस तरह की शिक्षा देनी चाहिए जो उसकी सामान्य संस्कृति को उन्नत कर सके, और समान अवसर के आधार पर, उसकी योग्यताओं के विकास, उसकी व्यक्तिगत निर्णय क्षमता, उसे नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति समझ पैदा करने के योग्य बना सके और उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य बना सके। बच्चे को खेल और मनोरंजन में भी वही भावना प्रकट होनी चाहिए।
- viii) हर हालत में बच्चे को ही सबसे सुरक्षा और सहायता मिलनी चाहिए।
- ix) बच्चे की हर तरह की उपेक्षा, निर्दयता और शोषण से रक्षा की जानी चाहिए। उसे किसी भी रूप में व्यापार का विषय नहीं होना चाहिए। एक उपयुक्त अल्पतम उम्र तक किसी भी रूप में व्यापार का विषय नहीं होना चाहिए। एक उपयुक्त अल्पतम उम्र तक उसे रोजगार में भर्ती नहीं करना चाहिए। उसे किसी भी ऐसे व्यवसाय या रोजगार में लगने की अनुमति व कारण विषय नहीं मिलने चाहिए जिनसे उसका रोजगार या शिक्षा प्रभावित हो या उसके शारीरिक,

मानसिक और नैतिक विकास में बाधा पड़े।

- x) बच्चे की ऐसी प्रथाओं से रक्षा की जानी चाहिए जिनसे जातिगत, धार्मिक या किसी और तरह के भेदभाव पनपते हों। सहानुभूति, सहनशीलता, मैत्री, शांति एवं विश्व बंधुत्व तथा संपूर्ण चेतना की भावनाओं के वातावरण में उसका पालन होना चाहिए और ताकि उसकी शक्ति व प्रतिभा उसके अपने साथियों की सेवा में समर्पित हो।

संक्षेप में कहा जा सकता कि 1959 की बाल अधिकारों की संयुक्त राष्ट्र घोषणा में बच्चे को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए, ये हैं—स्नेह का अधिकार, प्यार और सहानुभूति, पर्याप्त पोषण और स्वास्थ्य सेवा का अधिकार, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार, खेल और मनोरंजन के पूरे अवसर मिलने का अधिकार, नाम और राष्ट्रीयता का अधिकार, विकलांग होने पर विशेष देखभाल का अधिकार, संकट के समय सबसे पहले राहत पाने का अधिकार, समाज के उपयोगी सदस्य बनने की शिक्षा पाने एवं व्यक्तिगत योग्यताओं का विकास करने का अधिकार, शांति एवं विश्व-बंधुत्व की भावना के साथ विकसित होने का अधिकार तथा जाति, रंग, लिंग, धर्म, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव पर ध्यान दिए बिना इन अधिकारों का उपभोग करने का अधिकार।

अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा 1979 को अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष घोषित किया। इसमें प्रत्येक देश को अपने बच्चों की दशा की समीक्षा करने तथा बच्चों के पूरे सामर्थ्य को विकसित करने के लिए अपने कार्यक्रमों के नवीकरण तथा तेज करने का अवसर दिया गया है। इसका लक्ष्य प्रत्येक सरकार को अपने कार्यक्रमों का विस्तार करने

के लिए प्रेरित करना था। जिससे अनेकानेक बच्चों को प्रभावित करने वाली प्रतिकूल दशाओं पर काबू पाया जा सके।

बाल वर्ष ने सरकार, निजी संगठनों तथा लोगों को उन बच्चों के लिए बहुत कुछ करने के लिए प्रोत्साहित किया जिन्हें विशेष सहायता की आवश्यकता थी। इस प्रकार बाल वर्ष ने बच्चों के अधिकारों को जीवंत वास्तविकता प्रदान करने के लिए व्यावहारिक कार्यक्रमों के अवसर प्रदान किए।

1989 का संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन

20 नवंबर 1989 को अंगीकृत संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समागम के बाल अधिकारों पर 20वीं शताब्दी का सबसे व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण समझौता अपनाया गया।

इसमें बच्चों की सुरक्षा के लिए सर्वसम्मत मानक निश्चित किए गए हैं तथा प्रत्येक देश के बच्चों के यथार्थवादी तथा निरापद भविष्य को सुरक्षित करने के लिए विकास कार्यक्रमों तथा नीति की महत्त्वपूर्ण रूपरेखा दी गई है। समागम में 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को तब तक बालक माना गया है, जब तक कि वह बालकों पर लागू होने वाले कानून के अंतर्गत इससे पहले वयस्कता प्राप्त नहीं कर लेता।

इस सम्मेलन में 1959 के बाद अधिकारों की घोषणा में निर्धारित सभी अधिकार शामिल हैं। इसमें ऐसे अनेकों अधिकार भी शामिल हैं जिन्हें पूर्ववर्ती घोषणा में शामिल नहीं किया गया था। इन नए अधिकारों में से कुछ नीचे दिए गए हैं:

- i) बच्चा जिसमें अपने विचार स्वयं बनाने की क्षमता है, उसे ऐसे विषयों पर इन विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अधिकार है जो उसे प्रभावित करते हैं। बच्चे की आयु तथा परिपक्वता के अनुसार बच्चे के विचारों को उचित महत्त्व दिया जाएगा। बच्चे को प्रभावित

करने वाली किसी भी बात पर उसे न्यायिक या प्रशासनिक कार्यवाहियों में अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया जाएगा।

- ii) विचार, अंतःकरण एवं धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार।
iii) सभा करने तथा शांतिपूर्ण संगठन के लिए स्वतंत्रता का अधिकार।
iv) अवैध रूप से विदेश में भेजने तथा वहां से न लौटने देने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने का अधिकार।

इस सम्मेलन में निश्चित किए गए अधिकारों को मोटे तौर पर उत्तरजीविता, सुरक्षा तथा विकास नामक शीषकों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उत्तरजीविता अधिकारों में अंतर्निहित है कि बच्चों को निरोग्य रोगों से बचाया जाना चाहिए। सुरक्षा अधिकार इस बात का संकेत करता है कि प्रत्येक बच्चे को शारीरिक, मानसिक तथा यौन शोषण से बचाया जाना चाहिए। विकास में पर्याप्त पोषण, प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल तथा प्रारंभिक शिक्षा के अधिकार शामिल हैं।

यह सम्मेलन एक प्रकार से विशिष्ट है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय कानून में पहली बार किसी समझौते में बच्चों के अधिकार निर्दिष्ट किए गए हैं जिसे मानने के लिए वे राष्ट्र बाध्य हैं जो उनका अनुमोदन करते हैं। इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि समागम में जो दायित्व हाथ में लिए गए थे उन्हें प्राप्त करने में राष्ट्रों ने कितनी प्रगति की है, इसकी जांच करने के लिए एक निर्वाचित कमेटी होगी।

संदर्भ

1. Child Rights in India: Law, Policy and Practice — Asha Bajpai
2. Child Labour and the Rights to Education — Naila Kabir
3. Child Development: Issues, Policies and Programmes — Dolly Singh

समाजीकरण की प्रकृति

रणवीर कुमार

सभी समाज इस प्रश्न के बारे में चिंता व्यक्त करते हैं कि मानव समाज में नवजात शिशु को समाज का सदस्य बनाने के लिए किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए? बच्चा एक जैविकीय अवयव के रूप में पैदा होता है, इसकी नैसर्गिक आवश्यकताएं और आवेग होते हैं। बालक में सीखने और सम्प्रेषण की जन्मजात क्षमता होती है। इसके आधार पर वह खाने की, पचाने की और शौच की शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण करता है और उन्हें नियमित भी करता है।

धीरे-धीरे वह अपने वर्ग-विशेष के व्यवहार करने और अनुभव करने के तौर-तरीके सीखता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा वह किसी समाज के मूल्यों और प्रतिमानों को आत्मसात करता है और उसमें रहना सीखता है, उसे ही समाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं। आत्मसात करने से यहां अभिप्राय है—अपने मन में किसी चीज को इतनी गहराई से बैठा लेना कि वह उसके व्यवहार का अभिन्न अंग बन जाए जैसा कि अच्छे तौर-तरीके का अर्थ होता है—सामाजिक मूल्यों और भूमिकाओं (उसके अनुरूप काम करने को सीखना। दूसरे शब्दों में, अधिकांश मानवीय व्यवहार सीखा जाता है—यह अपने आप नहीं आता।

समाज वैज्ञानिकों ने बालक की सीखने और आत्मसात करने की इस क्षमता और मानव-प्रकृति के लचीलेपन का उल्लेख किया है। सीखने की क्षमता समाजीकरण से प्राप्त होती है और बालक मानव समाज का सदस्य बनने की शिक्षा अपने परिवार से प्राप्त करता है। यह विकास मोटे तौर पर सीखने की प्रक्रिया ही है। अतः इस बात पर बल देना चाहेंगे कि जन्मजात मनोवृत्तियों का निर्धारण आदर्शों, मूल्यों, प्रवृत्तियों, विश्वासों और व्यवहार पद्धतियों के शिक्षण द्वारा होता है।

समान अर्थ और मूल्य

बालकों के समाजीकरण से अभिप्राय है कि वे संबंधित संस्कृति के समान अर्थों और मूल्यों को समझते हैं और उसके अनुरूप जीवन की व्यवहार पद्धतियों को निर्देशित करते हैं। जैसे ही बच्चा बड़ा होता है वह आचरण या व्यवहार संबंधी शिक्षा का उपयोग दूसरे लोगों के साथ किए गए व्यवहार में करता है। अतः बालक समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही समान अर्थों और दूसरों की प्रत्याशाओं को समझते हैं और उनके अनुरूप आचरण करना सीखते हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है। यह एक सतत प्रक्रिया है क्योंकि सामाजिक शिक्षा कभी खत्म नहीं होती। अतः समाजीकरण की प्रक्रिया के लिए बचपन की अवस्था सबसे महत्वपूर्ण होती है जिसमें बालक अपने परिवार के बहुत से मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों, प्रवृत्तियों, संस्कारों और व्यवहार पद्धतियों को आत्मसात करता है या सीखता है। माता-पिता को समाजीकरण एजेंट (अभिकर्ता) के रूप में देखा जा सकता है तथा बालक को समाजीकृत होने वाले के रूप में।

बचपन की प्रारंभिक अवस्था में माता-पिता को समाजीकरण करने वाली सबसे महत्वपूर्ण शक्ति माना जा सकता है। “चेतन या अचेतन रूप से वे बालक को विशिष्ट दिशा में सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। (व्हाइट जी० 1977)

समाजवैज्ञानिकों द्वारा समाजीकरण प्रक्रिया को सतत और गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। यह प्रक्रिया जीवन-भर चलती रहती है। इसके अतिरिक्त, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पुनर्समाजीकरण की भी आवश्यकता होती है।

इस प्रकार, समाज की दृष्टि से देखें तो समाजीकरण समाज का सदस्य बनाने के लिए प्रतिमानों, मूल्यों और विश्वासों को सिखाकर एक बच्चे को प्रशिक्षित करता है। यह एक जैविकीय तत्व को व्यक्तित्व प्रदान करता है, अस्मिता की भावना देता है, और प्रतिमानों, मूल्यों और महत्वाकांक्षाओं से युक्त व्यवहार करने और अनुशासित होने की शिक्षा देता है। समाजीकरण व्यवहार को तो नियंत्रित करता ही है, साथ ही यह वैयक्तिक और आत्म-जागृति की अनिवार्य स्थिति भी बनाता है। (ब्रूम और सेल्जिनिक)।

शिक्षा और समाजीकरण

कुछ समाजों, विशेषकर जनजाति समाजों में बालक का शिक्षण और समाजीकरण औपचारिक शिक्षा संस्थाओं के बिना होता है। फिर भी सीखने की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा सर्वव्यापी (ubiquitous) होती है चाहे कोई जंगल में रहे या मरुस्थल में या शहर अथवा गांव में। सीखने की सार्वभौमिकता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी प्रकार का सीखना समाजीकरण होता है उसी प्रकार जैसे सभी प्रकार की शिक्षा भी समाजीकरण के लिए नहीं होती।

यह भी उल्लेखनीय है कि सब कुछ सीखना समाजीकरण नहीं होता, क्योंकि उससे व्यक्ति जो कुछ सीखता है वह उसकी सभी सामाजिक भूमिकाओं के लिए आवश्यक या संगत नहीं होता। जैसे कहीं-कहीं सिगरेट पीना सीखना, सामाजिक भूमिकाओं को निभाने के लिए असंगत भी हो सकता है। व्यक्ति द्वारा इन मूल्यों और आदर्शों को सीखने की प्रक्रिया (जिसे संस्कृति भी कहा जाता है) लगभग सभी समाजों में एक जैसी होती है। विशिष्ट समाजों में इन मूल्यों में कई कारणों से भिन्नता हो सकती है।

कोई बालक सबसे पहले अपने समाज का सदस्य होता है। साथ ही वह बड़े परिवार वर्ग (बिरादरी, खानदान आदि) का भी सदस्य होता है। इसी में उसके भाई, बहन तथा उसके माता-पिता के दूसरे रिश्तेदार सम्मिलित हो जाते हैं जिस परिवार में उसका जन्म होता है वह केंद्रित या संयुक्त परिवार हो सकता है (दोनों में अंतर जानने के लिए इस पाठ्यक्रम की इकाई-5 देखिए)। इसी तरह वह बड़े समाज का भी सदस्य होता है। इन वर्गों और संस्थाओं का सदस्य होने के नाते प्रत्येक सदस्य को उसके व्यवहार संबंधी मूल्यों तथा प्रतिमानों को मानना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार हम एक साथ कई वर्गों के सदस्य होते हैं। उदाहरण के तौर पर हम परिवार, बिरादरी, खानदान, कुनबा, समाज, स्कूल या कॉलेज के एक ही समय पर सदस्य होते हैं। इसी सदस्यता के अनुरूप हमें पुत्र, पुत्री, पोता, पोती या विद्यार्थी की भूमिका निभानी होती है। वे विभिन्न भूमिकाएं भी एक साथ, एक ही समय पर निभायी जाती हैं। इन वर्गों के प्रतिमानों, अभिवृत्तियों, मूल्यों या व्यवहार पद्धतियों को सीखने की प्रक्रिया जीवन के प्रारंभ में शुरू होती है और जीवन भर चलती रहती है।

समाजीकरण: प्रतिमान और मूल्य

एक ही समाज में, विभिन्न परिवारों के मूल्यों, आदर्शों में जाति, धर्म या सामाजिक वर्ग या धार्मिक वर्ग के आधार पर अथवा गांव या शहर में रहने के आधार पर, किसी जनजाति से संबद्ध होने, या लड़का अथवा लड़की होने के आधार पर, भिन्नता होती है। इन सामाजिक वर्गों को समाजीकरण एजेंसियों के रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, स्वेच्छता पर दिया जाने वाला बल सामाजिक वर्ग के अनुसार घटता-बढ़ता है, साथ ही बोली जाने वाली भाषा स्थान के अनुसार होती है। बालक जन्म से भाषा नहीं जानता बल्कि जन्म के बाद उसे सीखता है। कुछ लोग मांस नहीं खाते या बीफ (गोमांस) या पोर्क (सूअर का मांस) से परहेज करते हैं। यह धार्मिक वर्ग विशेष के सदस्य होने पर निर्भर करता है। इस प्रकार, एक बालक विभिन्न प्रकार के वयस्क बनने की क्षमता रखता है। एक समाज में विकसित वयस्क-व्यक्तित्व दूसरे समाज में विकसित वयस्क-व्यक्तित्व से अलग होता है—इस प्रकार वह दूसरे समाज में भाग लेने के अयोग्य होता है। उदाहरण के तौर पर ऐसा व्यक्ति जो मांस नहीं खाता, सिगरेट-शराब नहीं पीता, वह उस परिवार में अजीब-सा लगेगा, जहां यह सब खाने-पीने की छूट होती है।

क्या समाजीकरण एक तरफा प्रक्रिया होती है जिसे अपने माता-पिता से निष्क्रिय रूप से प्राप्त करता है? इस संबंध में अलग-अलग विचार हैं। हमारा मत है कि यह एक दुतरफा प्रक्रिया है। यह सही है कि बालक वयस्कों की तरह सक्रिय नहीं होता लेकिन वह निष्क्रिय भी नहीं होता।

अभी तक इस बात पर बल दिया गया है कि समाजीकरण प्रक्रिया का उद्देश्य बालक को सामाजिक आदर्शों, मूल्यों, विश्वासों, मनोवृत्तियों और व्यवहार पद्धतियों

को सीखने में सहायता करना होता है। जब हम समाजगत अपेक्षाओं की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि इन विभिन्न समाजगत अपेक्षाओं के स्तर में भी फर्क होता है। जब कोई व्यक्ति जन्म लेता है तब उसका पहला समाजगत अनुभव परिवार के माध्यम से होता है लेकिन जैसे-जैसे वह आधुनिक समकालीन समाजों में विकसित होता जाता है—उसका अनुभव भी बढ़ता जाता है। वह कई एजेंसियों का सदस्य हो जाता है। परिवार के बाद विद्यालय दूसरी एजेंसी है जिसका बालक सदस्य बनता है, बाद में अपने माता-पिता से संबद्ध धार्मिक वर्ग का भी वह सदस्य बन जाता है। फिर भी किसी व्यावसायिक वर्ग का सदस्य बनता है। समाजीकरण प्रक्रिया का विशिष्ट उद्देश्य बालक को संबंधित समाज का सक्रिय सदस्य बनाने के लिए उसके प्रतिमानों को आत्मसात करने में सहायता करता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, एक बालक अपने समाज का सदस्य बनता है। इस प्रकार समाजीकरण एक प्रकार से सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया है जो वर्गगत जीवन को पुष्ट करती है और व्यक्ति के विकास को बढ़ावा देती है। यह व्यक्ति को सामाजिक वर्ग या वर्गों की अपेक्षाओं के अनुरूप बनने के लिए शिक्षित या प्रशिक्षित करती है। अतः वर्गगत प्रतिमानों और व्यवहार की अनुरूपता समाजीकरण प्रक्रिया के लिए अत्यावश्यक होती है जिसके द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण रखा जाता है।

संदर्भ

1. Encyclopaedia of Rural Sociology — Arvind Kumar
2. Rural Sociology — Jayapalan
3. Sociology of Globalisation: Perspective from India — Sakarama Somayaji

भारतीय कृषि: समस्या एवं संभावनाएँ

डॉ. अर्चना

परिचय:-

भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसका देश की जी. डी. पी. में 17.5% योगदान है। यहाँ की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आश्रित है जो अधिकांशतः ग्रामों में निवास करती है। कृषक ने परिस्थितियों के दुष्कर में फंसकर असहाय होकर अपनी जीवन-लीला को समाप्त करने के लिए कमर कस ली है। कुछ कृषक देश के विभिन्न राज्यों जैसे- पंजाब उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र आदि में इसी पथ पर गुजर चुके हैं। इन कृषकों को आत्महत्या से सुगमतापूर्वक तभी बचाया जा सकता है यदि कृषि का उचित विकास हो जाए, जिसके लिए सरकार एवं अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं को ध्यान देना होगा भारत में हरित क्रांति का प्रारंभ 1968 से हुआ जिसके फलस्वरूप गेहूँ और चावल की उत्पादकता और उत्पादन में जबरदस्त वृद्धि हुई। पिछले 10 वर्षों में हरित क्रांति को विराम सा लग गया प्रतीत होता है। खाद्यान्न उत्पादन की दर जनसंख्या वृद्धि की दर से काफी नीचे चली गई है।

अध्ययन उद्देश्य:- प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य यह जानना है कि भारतीय कृषि व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप क्या है? भारतीय कृषि एवं कृषकों की महत्वपूर्ण समस्याएँ क्या हैं, तथा उन समस्याओं के लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी माध्यमों से क्या प्रयास किए जा रहे हैं। दूसरी ओर कृषि का नवीकरण एवं कृषि जनित समृद्धि एवं सुझाव पर प्रकाश डाला जा रहा है।

विश्लेषण:-

भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसका देश की जी. डी. पी. में 17.5% योगदान है। अतः कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। पिछले दो दशकों से अधिक अवधि में औद्योगिकरण के संगठित प्रयास के बावजूद कृषि का गौरवपूर्ण स्थान बना हुआ है। देश का सबसे बड़ा उद्योग होने के कारण, कृषि देश की 70% जनता की जीविका का श्रोत है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व का मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न शीषकों के अन्तर्गत इसके कार्यभाग का विवेचन किया जा सकता है।

- (1) राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा।
- (2) भारतीय कृषि और देश में रोजगार का ढाँचा।
- (3) औद्योगिक विकास के लिए कृषि का महत्व।
- (4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्व।

(5) आर्थिक आयोजन में कृषि क्षेत्र का कार्यभाग।

(6) सामान्य आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास अनिवार्य है।

भारत में हरित क्रांति का प्रारंभ 1968 से हुआ जिसके फलस्वरूप गेहूँ और चावल की उत्पादकता और उत्पादन में जबरदस्त वृद्धि हुई। पिछले 10 वर्षों में हरित क्रांति को विराम सा लग गया प्रतीत होता है। खाद्यान्न उत्पादन की दर जनसंख्या वृद्धि की दर से काफी नीचे चली गई है। भारतीय कृषि विकास में निम्नलिखित कमजोरियाँ पाई गई हैं।

अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है। भारी विनियोग करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं, परन्तु केवल 06% बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40% है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। परिमाणतः नई कृषि-उत्पादन रणनीति के कारण भारत में पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है।

फ्रॉसीन फ्रकनेल यू.एस.ए.आई.डी. विशेषज्ञ ने भारत के किसानों पर नयी कृषि विकास रणनीति के सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव का अध्ययन किया। उनके अध्ययन के मुख्य बातों में कुछ इस प्रकार हैं। बहुसंख्यक ऐसे किसानों ने जिनकी अलाभकर जोतों का आकार 2-3 एकड़ है, उर्वरकों की थोड़ी खुराकों का प्रयोग करके अपने उत्पादन को बढ़ा लिया है। परन्तु कुल उत्पादन में वृद्धि अपर्याप्त होने के कारण इनमें से भूमि विकास के लिए पूँजी अतिरिक्त प्राप्त करना सम्भव नहीं। ऐसे छोटे किसानों की आर्थिक दशा और भी खराब हो गई है जो काशत के लिए कुछ भूमि पट्टे पर लेते हैं या शुद्ध रूप से हिनेंटस है। 20 एकड़ या इसके अधिक भूमि वाले किसानों को सबसे अधिक परम एवं सापेक्ष लाभ-प्राप्त हुआ है। इसका कुछ हद तक तो कारण यह है कि उन्होंने फार्म क्रियाओं का यांत्रिकरण किया है ताकि दोहरी या बहुफलसल उत्पन्न की जा सके।

नई उत्पादन रणनीति कृषि में संस्थानात्मक सुधारों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करती। किसानों के अधिकतर भाग को भू-अधिकार उपलब्ध कराने की तो बात ही क्या, हम भू-धारण की निश्चितता भी उपलब्ध नहीं करा पाए हैं। परिणामतः किसानों की बेदखलियाँ

बड़े पैमाने पर की गई है। इसके नतीजे के तौर पर काश्तकारों को विवश होकर फसल सहभाजकों की स्थिति स्वीकार करनी पड़ रही है। मिन्हास और श्रीनिवास ने उर्वरक प्रयोग के सम्बन्ध में फसल-सहभाजक के प्रभाव का अध्ययन किया है।

कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्राम-क्षेत्रों में आय-वितरण पर दुष्प्रभाव हुआ है। भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन और वितरण सम्बन्धी लाभों के बारे में अपने अध्ययन से सी.एच. हनुमंतराव यह निष्कर्ष प्राप्त करता है। “तकनीकी परिवर्तनों से एक ओर विभिन्न क्षेत्रों, छोटे और बड़े फर्मों और भू-स्वामियों के बीच आय की असमानताएँ बढ़ी हैं और दूसरी ओर भूमिहीन मजदूरों और मुजारों (टिनेन्ट्स) में खाई और चौड़ी हा गयी है। किन्तु परम रूप में तकनीकी परिवर्तन के लाभ सभी वर्गों में बँटे हैं।

श्रम विस्थापन के रूप में हरी क्रांति की आड़ में कृषि यांत्रिकरण के प्रभाव को आंकने के लिए बहुत ही थोड़े अध्ययन उपलब्ध हैं। उमा के. श्रीवास्तव, रावर्ट क्राउन और हैडी ने हरी क्रांति के दौरान दो प्रकार की नवक्रियाओं के चालू करने के प्रभाव की जाँच की है। जीव-विज्ञान सम्बन्धी नवक्रियाएँ और यांत्रिक नवक्रियाएँ। चूँकि यांत्रिकरण से श्रम की माँग, जो बीजों और खादों के विस्तृत प्रयोग से बढ़ रही थी, पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है, इसलिए भारत जैसी श्रम-अतिरेक वाली अर्थव्यवस्थाओं में समय-पूर्व यंत्रिकरण को प्रोत्साहन देने से बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।

भारतीय कृषि विकास हेतु महत्वपूर्ण सुझाव:-

मिट्टी की उर्वरा में सुधार:- कृषि विश्वविद्यालयों, आई.सी.ए.आर. और सी. एस.आई. आर. संस्थाओं, कृषि विज्ञान केन्द्रों, राज्य सरकारों के कृषि विभागों, किसान

संगठनों और पंचायतीराज संस्थाओं को वर्ष 2009-10 को मृदा स्वास्थ्य सुधार वर्ष के रूप में मनाना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित कदम उठाने की आवश्यकता है:-

- (i) मिट्टी का परीक्षण करने वाली सभी प्रयोगशालाओं को पुनः पूर्णरूप से सुसज्जित करना होगा, ताकि प्रत्येक कृषि परिवार को मिट्टी का उर्वरा कार्ड दिया जा सके।
- (ii) प्रचार अभियानों और प्रदर्शनों के जरिये चारा फलियों में लगने वाले अनाज की फसलों की बारी-बारी अदला-बदली के साथ हरी खाद वाली फसलों को बढ़ावा देने की जरूरत है।
- (iii) कृषि कार्य से संबंधित समस्त अवशेषों और कचरों की कंपोस्ट खाद बनाना, सुक्ष्म जैविक उर्वरकों एवं खेत वाले घरों की खाद के उपयोग को जहाँ तक संभव हो, प्रोत्साहित करना।
- (iv) एकीकृत परती भूमि विकास और बायोईंधन कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देना होगा।
- (v) परती भूमि विकास कार्यक्रम को वायोईंधन और औद्योगिक कच्चे माल (कागज, दफ्ती, रेमान, पैकेजिंग, सामग्री आदि के उत्पादन हेतु) के साथ-साथ चारा और जलाऊ लकड़ी आदि के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

कृषकों को न्यूनतम ब्याज पर कृषि ऋण उपलब्ध कराना- कृषकों को 4% वार्षिक ब्याज की दर से सरल रीति से दीर्घकालिक ऋण बैंकों से उपलब्ध कराया जाए। इस ऋण की वापसी के लिए बैंकों द्वारा नियुक्त एजेंट्सियों से कृषकों को प्रताड़ित नहीं किया जाए। वर्तमान समय में ऋण केवल उन्हीं कृषकों को उपलब्ध कराया जा रहा है, जो केवल नकदी फसलें उगा

रहें हैं। अतः समस्त कृषकों को किसी भी फसल को उगाने के लिए ऋण उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

- सरकार द्वारा प्राकृतिक आपदाओं- (सूखा, बाढ़, पाला, अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि, जंगली जानवरों का प्रकोप टिट्टी दल द्वारा हमला इत्यादि) की स्थिति में फंड की व्यवस्था करना चाहिए।
- खेती में कार्बनिक खादों का प्रयोग बढ़ाना- वर्तमान समय में कृषि फसलों का उत्पादन घट जाने का मुख्य कारण भूमि में कार्बनिक खादों का प्रयोग न करना या आंशिक रूप से प्रयोग करना है। जीवांश खादों के न प्रयोग करने से मृदा स्वास्थ्य खराब हो गया है, जिसका तात्पर्य मृदा में पौधों के लिए पाए जाने वाले पोषक तत्वों की मात्रा घट जाना है।
- उचित फसल-चक्रों को अपनाना- मृदा की उर्वरता को बनाए रखने एवं फसलों से अच्छी पैदावार लेने के लिए फसल-चक्र के सिद्धांतों को अपनाना चाहिए। जिसमें किसी निश्चित क्षेत्र पर निश्चित समय में फसलों को हेर-फेर कर इस प्रकार उगाना कि मृदा स्वास्थ्य ठीक बना रहें एवं फसलों की पैदावार में भी कमी न हो।
- उर्वरकों का संतुलित प्रयोग:- फसलों से लगातार अच्छी पैदावार लेने के लिए एवं अपनी मृदा के स्वास्थ्य को उचित बनाए रखने के लिए फसलों में उर्वरकों का संतुलित प्रयोग करना अति आवश्यक है। उर्वरकों के संतुलित प्रयोग करने के लिए मृदा-परीक्षण का महत्वपूर्ण योगदान है। बिना मृदा-परीक्षण के किसी भी व्यक्ति को मृदा की उर्वरता के बारे में अनुमान लगाना कठिन है।

□ रेन वाटर हार्वेस्टिंग कूपों से भू-जल स्तर को रिचार्ज करना-उन्नत कृषि के लिए पानी की आवश्यकता होती है, परन्तु वर्तमान में दिनों-दिन भू-जल स्तर नीचे गिर रहा है। सिंचाई के लिए नहरों द्वारा भी-समुचित मात्रा में पानी की पूर्ति नहीं की जा रही है। अतः रेन वाटर हार्वेस्टिंग तकनीक को अपनाया जाना चाहिए। जिसमें वर्षा द्वारा प्राप्त जल को बोरिंग करके भूमि के अन्दर ऐसे स्ट्रेटा में डाल दिया जाता है।

□ बरानी क्षेत्रों में सहफसली खेती अपनाया- देश में लगभग 65-70% बारानी खेती है। बारानी क्षेत्रों (शुष्क जमीन) में दलहनों एवं तिलहनों की सहफसली खेती पद्धति में कम पानी कम खाद एवं उर्वरक, कम लागत की आवश्यकता होती है।

□ जल विश्लेषण के आधार पर संस्तुत फसलें उगाना- भू-जल के लवणीय होने के कारण बहुत सारी फसलों की पैदावार अच्छी नहीं होती है। कुछ फसलों के बीजों का अंकुरण कम होने के कारण अच्छी पैदावार नहीं दे पाती है। लवणीय जल का प्रभाव सर्वप्रथम भूमि की मृदा संरचना पर पड़ता है। जिसके कारण च्मान 8 से उपर बढ़ जाता है, भूमि में लवणों की मात्रा बढ़ जाती है और मृदा संरचना बिगड़ जाती है। फलस्वरूप मृदा का स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

□ कृषि फसलों के उत्पादन के न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारण करने वाली भारत सरकार की समिति में विभिन्न राज्यों के कृषि-वैज्ञानिकों के साथ कृषक प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

□ कृषकों को अपनी कृषि उत्पादन एवं उत्पादों को देश में कहीं भी

बेचने की छूट दी जानी चाहिए। साथ ही राज्य सरकारों द्वारा इसकी बाजार व्यवस्था हेतु पूरी मदद कृषकों को दी जानी चाहिए।

उपर्युक्त सुझावों को यदि अपनाया जाय तो निःसंदेह जो कृषक खेती कर रहे हैं और वित्तीय/मौसम आपदाओं से आत्महत्या हेतु मजबूर हो जाते हैं, उन्हें इससे छुटकारा मिल सकता है। कुल मिलाकर कृषि को प्राथमिकता देनी होगी और सभी कार्य समय से करने होंगे। जैसा कि एक कथन पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था। उसे अपनाया होगा अर्थात् “हर चीज इन्तजार कर सकती है, लेकिन खेती नहीं”।

निष्कर्ष:-

अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है और कृषि की सम्पन्नता पर भारतीय अर्थव्यवस्था की समृद्धि निर्भर करती है। इसके साथ यह भी सत्य है कि कृषि में प्रति व्यक्ति उत्पादिता उद्योग की तुलना में कम है। परिणामतः अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के अनेक विद्वानों का मत है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता ही भारत की प्रति व्यक्ति आय के बहुत कम होने

का कारण है। उनके मतानुसार जब तक भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता बनी रहेगी, तब तक प्रति व्यक्ति आय वांछनीय स्तर तक नहीं उठ पाएगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा एवं बिरसा कृषि विश्वविद्यालय राँची द्वारा प्रकाशित सर्वेक्षण रिपोर्ट।
2. चेंजिंग एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन इंडिया-जी. एस. भल्ला।
3. पिजेंट इन इंडियन हिस्ट्री, थ्योरेटिकल इश्यूज एंड स्ट्रक्चरल इक्वायरीज- वी. के. ठाकुर।
4. भारत का भौगोलिक स्वरूप- विश्वनाथ तिवारी।
5. भारतीय अर्थव्यवस्था-रूद्रदन्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली।
6. बिहार की अर्थव्यवस्था- डॉ. पी.सी.वर्मा, तिरुपति उर्मिला पल्लवि प्रकाशन, पटना।
7. भारत का वृहत् भूगोल- डॉ. अलका गौतम।
8. प्रतियोगिता दर्पण- जून- 2006 एवं जून-2008।
9. योजना जनवरी-2007 एवं फरवरी-2008।
10. भारत, लोग और अर्थव्यवस्था N.C.E.R.T. एस. के. शर्मा।

पी.एच.डी.(भूगोल विभाग), पटना
वि.वि. पटना।

रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य

टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 1	300.00	घर और बाहर	225.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 2	300.00	गीतांजलि	200.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 3	300.00	कौन किसी का	100.00
टैगोर की सम्पूर्ण कहानियां, 4	200.00	बहूरानी	200.00
त्याग का मूल्य	250.00	काबुलीवाला तथा अन्य कहानियां	200.00
आंख की किरकिरी	250.00	बाल-साहित्य	200.00
गोरा	300.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

दहेज प्रथा: भारतीय परिवार व्यवस्था की एक समस्या

डा. पुष्पा कुमारी

एक सामाजिक प्रथा के रूप में दहेज का प्रचलन प्राचीन काल से है। इसकी शुरुआत स्त्रीधन के रूप में हुई। दहेज का अर्थ है विवाह के अवसर पर कन्या/वधु को पिता एवं अन्य परिवारजन की ओर से दिये जाने वाला धन और संपत्ति। दहेज उपहार स्वरूप दिया जाता था। इसे प्रारंभिक उत्तराधिकार माना जाता था। स्वेच्छा से दिए गए दहेज के दृष्टान्तों से पौराणिक गाथाएँ भरी पड़ी हैं।

दहेज का औचित्य-मूलतः पति की मृत्यु होने पर स्त्री और बच्चे की आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सुरक्षा में माना जाता था। पति और उसके परिवारजनों के सम्भावित बुरे व्यवहार के प्रति दहेज एक प्रकार की ढाल थी। प्राचीन काल में पति की मृत्यु होने पर दहेज की राशि/संपत्ति पत्नी को लौटा दिया जाता था। दहेज की हकदार पत्नी को माना जाता था। निर्धन परिवार की स्त्रियों के लिए दहेज देना एक प्रकार का दातव्य (दान-पुण्य) समझा गया। ऐसे दान की अनेक कथाएँ हैं।

हमारी परम्परा में दहेज का औचित्य मूलतः पिता की सम्पत्ति में पुत्री का जो हक बनता है उसी को एक प्रतीकात्मक रूप में उसकी शादी के समय देकर सामाजिक संदेश दिया जाता है कि पुत्री को उसकी सम्पत्ति का हिस्सा दिया गया। पहले दहेज की प्रथा हमारे यहाँ सभी जाति या वर्ग में नहीं थी। यह परम्परा उच्च जातियों या वर्ग समूह में ही थी परन्तु भौतिकवादी दुनिया में धीरे-धीरे सभी जाति और वर्ग में दहेज का प्रचलन हो गया है और जो परम्परा थी कि दहेज मतलब लड़की का हिस्सा वह अब लड़केवाले का हक बनने लगा है और हमने देखा है कि एक ही सामाजिक परिवेश से आने वाले परिवारों में अलग-अलग तरह की नौकरियों पर अलग अलग दर दहेज की हो जाती है। जो दहेज प्रथा लड़की को हिस्सा प्रतीक स्वरूप दी जाती थी वह लड़कों के परिवार का अधिकार बनता जा रहा है।

भारत के अतिरिक्त अन्य समाजों में दहेज का प्रचलन-हम्मुराबी की संहिता (1760 B.C.) प्राचीन मिस्र (बेबीलोन) में एक प्रचलित प्रथा के रूप में दहेज का उल्लेख है। ईसा के 5 सदी पूर्व ग्रीक और रोमन सभ्यता में भी दहेज के प्रचलन के अनेक उदाहरण हैं। शैक्सपीयर की रचनाओं में दहेज प्रथा से संबंधित अनेक दृष्टान्त हैं। King Lear cardila art की पुत्री को प्रेमी ने छोड़ दिया। Measure for Measure claudio जब मालूम हुआ कि उसका पिता राजा दहेज नहीं देगा। और Juliet के विवाह पूर्व

संबंध दहेज को लेकर उनके परिवारों में झगड़े के कारण ही बाहर आए। यह सगाई betrothal के बाद हुआ।

इसी प्रकार Angelo के सगाई रद्द करने के पीछे Maricna के दहेज के बक्से का समुद्र में वह जाना ही कारण था।

सिण्डेला की सौतेली माँ से झगड़े के पीछे भी मुख्य कारण दहेज हीं था।

इतिहास साक्षी है कि पुर्तगाल के राजा ने बम्बई शहर ब्रिटेन के राजा चार्ल्स द्वितीय को दहेज स्वरूप ही दिया था। कैथरीन और ब्रगंजा से शादी के उपलक्ष्य में यह दिया गया था। विक्टोरिया काल में उन्होंने पुत्रियों को पिता की संपत्ति में हिस्सा मिलता था, जिन्हें दहेज नहीं मिली होनी थी।

इस प्रथा को कब और क्यों सामाजिक अपराध माना जाने लगा?

दहेज की माँग और पूर्ति ने जब विवाह निश्चित करने के पूर्वशर्त का रूप ले लिया तो दहेज प्रथा को सामाजिक अपराध माना जाने लगा। दहेज वैवाहिक संबंधों के टूटने का प्रमुख कारण बन गया। इस कारण मध्य वर्गीय और निम्न वर्गीय परिवारों में पुत्री को बोझ समझा जाने लगा। दहेज के लिए प्रताड़ना, वधु के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार, भयादोहन, आत्म हत्या के लिए प्रेरित करने जैसे जघन्य घटनाओं के सामने आने से इसे सामाजिक अपराध माना जाने लगा।

राष्ट्रीय नीति -

भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकारों, कर्तव्यों, राज्य के निर्देशक तत्वों में नर-नारी समानता का भाव सन्निहित है। पैतृक संपत्ति में पुत्री की हिस्सेदारी को कानूनी मान्यता मिली है। संविधान में स्त्रियों के विकास के लिए सकारात्मक कदम उठाने की शक्ति राज्य को प्रदान की गयी है।

1990 में राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम बना। 1992 में इसका गठन हुआ। 73 वें एवं 74वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायतीराज संस्थाओं और नगरनिकायों में एक-तिहाई पद और सीट आरक्षित की गयी। स्त्री सशक्तिकरण के इस कार्यक्रम द्वारा समाज और परिवार में नारी की स्थिति में परिवर्तन आया है। बिहार में महिलाओं के लिए नगरीय एवं ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं में 50

प्रतिशत आरक्षण, विवाहों के अनिवार्य पंजीकरण, बच्चों के माता का नाम दर्ज करने, इन्दिरा आवास के स्वामित्व में पति के नाम की अनिवार्यता जैसे कदम भी उठाए गए हैं।

दहेज निरोध के कानूनी उपाय -

1961 दहेज निरोधक कानून बना। विवाह के पूर्व शर्त के रूप में दहेज देने और लेने को अपराध घोषित किया गया। इसकी सजा छह माह कैद और पाँच हजार रुपये जुर्माने का तय हुआ।

1983 में भारतीय दण्ड संहिता में 498A अनुच्छेद जोड़ा गया जिसमें पति या उसके संबंधी द्वारा स्त्री के साथ क्रूरता करने पर तीन वर्ष की सजा और जुर्माने का प्रावधान है। यह संज्ञेय तथा गैर जमानतीय अपराध है, जिसमें गवाह की आवश्यकता नहीं है। मुकदमा स्त्री या उसके निकट संबंधी द्वारा दायर की जा सकती है। पुलिस बिना वारंट या अनुसंधान के गिरफ्तार कर सकती है। ऐसे मुकदमें आपस में नहीं सुलझाए जा सकते। दहेज की माँग भी इस प्रावधान के अन्तर्गत क्रूरता है।

1986 में भारतीय दण्ड संहिता में अनुच्छेद 304 बी० शामिल किया गया। इस प्रावधान के अन्तर्गत दहेज मृत्यु-वधु को जलाने, दहेज हत्या, आत्म हत्या। विवाह के सात वर्ष के भीतर जलने से, शारीरिक आघात से या अस्वाभाविक मृत्यु को शामिल किया गया है। इसमें स्त्री के साथ पति या उसके संबंधी द्वारा दहेज को लेकर क्रूरता, प्रताड़ना को सिद्ध करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत सात वर्ष की न्यूनतम सजा का प्रावधान है। आजीवन करावास भी हो सकता है।

1984 में पारिवारिक न्यायालय की स्थापना की गई। जिसका उद्देश्य-दाम्पत्य सौहार्द स्थापित करना रहा।

1987 में कानूनी सेवा प्राधिकार बना जिसके द्वारा-प्रताड़ित नारी को कानूनी सहायता प्रदान की जाती है। घरेलू हिंसा से

महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम 26 अक्टूबर 2005 से लागू है।

समाज की पितृसत्तात्मक संरचना के चंगुल से ये कानूनी प्रावधान स्त्री को कुछ आजादी देनी है। किन्तु तथ्य यह है कि स्त्री के साथ क्रूरता/दुर्व्यवहार में पति के संबंधियों में सर्वाधिक सक्रिय भूमिका स्त्रियों की ही रहती है।

अब प्रश्न है कि इस प्रथा को अभिशाप क्यों मानते हैं?

304B के तहत मृत्यु संबंधी नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के निम्न आंकड़े स्पष्ट करते हैं-

1995-4648

2005-6787

2007-8093

दहेज की मांग के कारण आत्महत्या के 2276 मामले केवल 2006 में दर्ज किये गये। 304 B के 30 प्रतिशत मामलों में दोष सिद्ध हुआ है।

वहीं 498A के तहत 2007 में 75930 मामले दर्ज किये गये। इसमें दोष सिद्ध की दर 11.9 प्रतिशत है।

अनुच्छेद 498A के दुरूपयोग की शिकायतें आती हैं। Centre for Social Research (सेन्टर फॉर सोशल रिसर्च) के अनुसार 60.5 प्रतिशत झूठे मामले दर्ज होते हैं। डंसपउंजी (मल्लिमथ) समिति ने दुरूपयोग को देखते हुए इसे जमानतीय धारा बनाने का सुझाव दिया। संसद में आई० डी० स्वामी गृह राज्य मंत्री ने 17-12-03 को दुरूपयोग (प्रताड़ना और दहेज मांग के अतिशयपूर्ण आरोपों से बहुत परिवारों के प्रताड़ित होने) से अनभिज्ञता जाहिर किया।

सर्वोच्च न्यायालय के Arijit Pasayat (अरिजित पसायत) और H. K. Seem (एच. के. सीमा) के खण्डपीठ ने 20-07-2005 को 498A को संवैधानिक माना, किन्तु चेताया कि इसका उद्देश्य दहेज

दानव पर प्रहार करना है, जबकि इसके दुरूपयोग से एक नए कानूनी आतंकवाद का खतरा है। भेड़िया आया का झूठा शोर ठीक नहीं है। वस्तुतः अनुच्छेद 498A का प्रयोग ढाल की तरह, न कि हथियार की तरह करना चाहिए।

दुरूपयोग का कारण और प्रभाव-

प्रश्न है कि इसका दुरूपयोग क्यों होता है तो समाजशास्त्रीय तथ्य संकलन और विश्लेषण के अनुसार कानून का भय दिखाकर आर्थिक दोहन, विवाह पूर्व संबंध, विवाहेत्तर संबंध भी कुछ हद तक इसके लिए जिम्मेवार है। उद्देश्य मुख्यतः पति पर हावी होने, उसके वित्तीय सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करना होता है। पति को उसके माता-पिता, भाई-बहन के प्रति कर्तव्य से विमुक्त करना भी इसका उद्देश्य है।

उदाहरणस्वरूप पूर्व आयुक्त दिल्ली पुलिस किरण वेदी के बहुचर्चित टेलीविजन शो "आपकी अदालत" का उल्लेख किया जा सकता है। शहरी, अल्प शिक्षित परिवारों द्वारा इसके दुरूपयोग की अधिक शिकायतें सामने आती हैं। अतिउत्साही एन. जी. ओ. के उकसावे की भी इसमें भूमिका है। दहेज अधिनियम के दुरूपयोग के चलते ही माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने इधर हाल में "दहेज" शब्द की व्याख्या की जरूरत समझी। अपनी टिप्पणी में बेंच ने कहा कि यह एक निरन्तर प्रक्रिया नहीं है बल्कि एकल प्रक्रिया है। दहेज का अर्थ विवाह के पूर्व या विवाह के समय दिये जाने से है। "It is not a process but one time process. Dowry is meant to be given before or at the time of marriage only" यानि कि दहेज सिर्फ शादी के पहले या शादी के समय तक की ही मांग को दहेज माना जाएगा इस टिप्पणी से भी दहेज अधिनियम के दुरूपयोग में कमी आ सकती है।

एम. ए. (गृह विज्ञान) पी. एच. डी., मझौलिया रोड, मुजफ्फरपुर।

पटना जिला के ग्रामीण क्षेत्रों में अध्ययनशील छात्र-छात्राओं के स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन

राजेश वर्मा एवं रीता कुमारी

प्रस्तावना

स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रारंभ के वर्षों से ही आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से कृषि उत्पादन के क्षेत्र में विशेष प्राथमिकताएं दी गईं। इस बात की पुर्जोर व्यवस्था राष्ट्रीय कृषि में की गई थी, चूंकि भारत गाँवों का देश है, और करीबन 80 प्रतिशत भारत की आबादी, गाँवों की बस्ती है तथा 20 प्रतिशत भारत की आबादी ही सम्भ्रांतों की है जो किसी न किसी तरीके से भारत की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करती है। पचास के दशक पर यदि गौर करेंगे तो पाएंगे कि भारत केवल पाँच करोड़ टन अन्न का उत्पादन करता था, और शेष अन्न की आपूर्ति अन्य देशों से होती थी। हरित क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उत्पादन क्षमता में होने वाली वृद्धि ने भारत को खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता के स्तर तक पहुँचा दिया। अन्न से भरा पेट, व ज्ञान की सम्पन्नता को सामाजिक विकास करने का मुख्य आधार माना गया। ज्ञान के बढ़ते महत्व के साथ-साथ विकसित मानसिक क्षमता का महत्व को भी महत्वपूर्ण माना गया। विभिन्न शोध कार्य के उपरान्त यह माना गया है कि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक शक्तियों का विकास होना अतिआवश्यक है। भारतीय स्वास्थ्य पद्धति में व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के पारस्परिक सम्बन्धों को मान्यता दी गई है। (ए० के० मुखर्जी, 1995)।

मानव विकास की प्रक्रिया में स्वास्थ्य की अहम भूमिका को ध्यान में रखते हुए मानव विकास सूचकांक के मानदंड के रूप में स्वास्थ्य को जब से शामिल किया गया है, तब से केन्द्र सरकार व राज्य सरकार द्वारा विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं का शुभारंभ किया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एशिया-प्रशान्त सागर क्षेत्र के सामाजिक और आर्थिक आयोग (UNESCAP) द्वारा कि गई शोध अध्ययन के अनुसार स्वास्थ्य पर किए गए व्यय तथा आर्थिक विकास में घना सम्बन्ध है। (KIM HAK SU- Report-2007) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के मानदंड के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रति वर्षों खर्च किये जाने वाला व्यय +36 होना चाहिए, परन्तु यह व्यय + 20 से भी कम हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप सभी नागरिकों को पर्याप्त सुविधाएँ नहीं मिल पा रहीं हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 में स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले 0.9 प्रतिशत राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (GDP) के व्यय की अगले पाँच वर्षों की अवधि में बढ़ाकर 2-3 प्रतिशत राष्ट्रीय घरेलू उत्पाद व्यय के लक्ष्य को प्राप्त किया जाना है। जबकि वर्ष 2003 में अपने सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में 9.5 प्रतिशत आस्ट्रेलिया ने तथा 8.1 प्रतिशत राशी न्यूजीलैंड ने तथा जापान ने 7.9 प्रतिशत राशी स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय किए। यदि भारत में शिक्षा के स्तर की गुणवत्ता की चर्चा की जाए तो हम पाएँगे कि ग्राम पंचायतों को यह जिम्मेवारी दी गई है कि वो 6-14 वर्षों की आयु की बच्चों के शिक्षा के मौलिक अधिकार की रक्षा के साथ-साथ, सर्वशिक्षा अभियान को अपनी पंचायत में सफल बनाने, स्कूल से बाहर के बच्चों को स्कूल से जोड़ने, लड़कियों को स्कूल से जोड़ने के साथ-साथ गाँव के स्कूलों के संचालन में सकारात्मक हस्तक्षेप के साथ-साथ शिक्षा समिति के माध्यम से सहयोग करें आदि सम्मिलित है। वर्ष 2010 तक 6 से 14 के आयु वर्ग के सभी बच्चों को उपयोगी तथा कोटिपरक प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य भी निर्धारित किया गया है। एक शोध के अनुसार भारत अपना कोई भी लक्ष्य तभी प्राप्त कर पाएगा जब इसमें महिलाओं की भागीदारी अधिक हो सकेगी। एक लक्षित वर्ग के रूप में महिलाओं के लिए पंचायत, विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में एवं अपनी योजनाओं में उन्हें प्राथमिकता देकर उनके सशक्तिकरण में सहायक हो सकती है। महिलाओं का अधिक से अधिक सहभागिता भी योजनाओं को सफल बनाने में कारगर सिद्ध हो रही है। पंचायतों की इन्हीं भूमिकाओं को ध्यान में रख कर पटना जिला के नौबतपुर प्रखण्ड में अध्ययनरत् बालिकाओं के स्वास्थ्य को लक्षित कर कर वर्ग पृष्ठम से लेकर वर्ग अष्टम तक की बालिकाओं के स्वास्थ्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की योजना बनाई गई। स्वास्थ्य योजनाओं के तहत एनीमिया या खून की कमी को अध्ययन करने का शोध आधार बनाया गया।

शोधपद्धति

पटना जिला के नौबतपुर प्रखण्ड के सरकारी विद्यालय में अध्ययनशील षष्ठम से वर्ग अष्टम तक की छात्राओं को केन्द्रित करके प्रश्नोत्तरी विधि के माध्यम से एनीमिया या खून की कमी से

स्वास्थ्य में होने वाली गिरावट पर अध्ययन का आधार बनाया गया। चयनित छात्रों को उसके विभिन्न सामाजिक व आर्थिक परिवेश के, आधार पर सम्मिलित किया गया। आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए तीन समूहों में इन छात्रों को बाँटा गया

1. उच्च आर्थिक स्थिति
2. मध्य आर्थिक स्थिति
3. निम्न आर्थिक स्थिति

इन आर्थिक स्थिति को उनके परिवार द्वारा अर्जित किये गए मासिक आय के आधार पर निर्धारण किया गया। सामाजिक स्थिति को नियत गुणांक मानकर शोध अध्ययन किया गया। इन छात्रों की आयु 13 वर्ष से 16 वर्ष के आस-पास थी, जो विद्यालय में उपलब्ध आँकड़ों के आधार से प्राप्त हुआ था। इन छात्र-छात्राओं की कुल संख्या 500 थी जिसमें उच्च आय वर्ग से 100 छात्र, मध्यम आय से 200 छात्र, तथा निम्न आय वर्ग से 200 छात्र, सम्मिलित थी। अर्थात् कुल छात्र, छात्राओं की संख्या 500 थी।

तालिका-1

क्र. सं० के घटक	उच्च आय वर्ग (100)		मध्यम आय वर्ग (200)		निम्न आय वर्ग (200)		कुल
	कुल सं०	प्रतिशत	कुल सं०	प्रतिशत	कुल सं०	प्रतिशत	
1 रक्त अल्पता	25	25%	70	35%	130	65%	225
2 श्वास की समस्या	10	10%	35	17.5%	15	7.5%	60
3 सर दर्द	35	35%	45	22.5%	35	17.5%	115
4 चक्कर आना	30	30%	50	25%	20	10%	100
5 कुल सं०	100		200		200		500

तालिका-2: आर्थिक आधार का स्वरूप

आर्थिक आधार को स्वास्थ्य का मानक इकाई मानते हुए इसे तीन वर्गों में विभाजित किया गया है:-

उच्च आय वर्ग

इस आय वर्ग के अन्तर्गत वैसे लोगों को सम्मिलित किया गया था, जिनके पास

1. सालो भर सरकारी/ गैर सरकारी क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध थे।
2. जिनका मासिक आय 6 हजार से 10 हजार के बीच था
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 6 से 8 तक थी

मध्यम आय वर्ग

इस आय वर्ग के अन्तर्गत वैसे लोगों को सम्मिलित किया गया था जिनके पास

1. सालो भर सरकारी/गैर सरकारी क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध थे।
2. जिनका मासिक आय-4 हजार से 6 हजार के बीच था
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 7-10 तक थी

निम्न आय वर्ग-

इस वर्ग के अन्तर्गत वैसे लोगों को सम्मिलित किया गया था जिनके पास

1. सरकारी/ गैर सरकारी क्षेत्र में कार्य तो थे, पर आवश्यकतानुसार ही उन्हें अवसर प्रदान किया जाता था।
2. जिनका मासिक आय 3 से 5 हजार के बीच था।
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 6 से 8 तक थी।

शोध परिणाम व परिचर्चा-

गाँव के सरकारी विद्यालय में अध्ययनशील छात्रों की स्वास्थ्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन विषय पर किए गए शोध कार्य के उपरान्त प्राप्त परिणाम के आलोक में परिचर्चा के क्रम में यह पाया गया है कि भारत सरकार ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति (2002) में संकेत दिया है कि स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले 0.9 प्रतिशत राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (GDP) के व्यय को अवधि में बढ़ाकर 2-3 प्रतिशत राष्ट्रीय सफल घरेलू उत्पाद (GDP) व्यय के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया जाएगा। भारत सरकार की पहल को ध्यान में रखने पर यह पाया गया कि एनीमिया या खून की कमी के निपटने के लिए लौह तत्व की गालियों को आँगनबाड़ी, स्वास्थ्य केंद्रों के माध्यम से उपलब्ध कराकर पंचायत के माध्यम से बाँटा गया था। पर क्या वो सभी लौह तत्व से युक्त गोण्डियों की प्रभावी क्षमता का अन्त तो नहीं हो गया था? अमर्त्यसेन की मान्यता के अनुसार शिक्षा की भाँति स्वास्थ्य भी मनुष्य की मूलभूत क्षमता का प्रतीक है और जीवन को सम्पन्नता प्रदान करने में सबल सहायक भी है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी राज्यो को यह दायित्व सौंपा है कि सरकार की ओर से सभी नागरिकों को मर्यादापूर्ण जीवन-यापन के लिए आवश्यक स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध करायी जाएगी (अनुच्छेद-47)। इतना ही नहीं मौलिक अधिकारों की सूची में जीने के अधिकार (Right to life) को भी शामिल किया

है। उच्चतम न्यायालय की व्याख्या के अनुसार जीने के अधिकार का तात्पर्य मर्यादापूर्ण जीवन यापन की सुविधा से है और यह स्वास्थ्य के अधिकार पर निर्भर है (Right to Life- Case Report, Sc, 1225) पुनः उसी न्यायालय में स्थिति करे अधिक स्पष्ट करते हुए एक अन्य मामले में (NDJayal Vs union of india, Sc, 362) राय दिया कि "Right to health in a fundamental right under article 21 of the constitution"। सर्वोच्च न्यायालय के स्पष्ट अभिमत के अनुसार सभी भारतीय नागरिकों को अपेक्षित स्वास्थ्य सेवा सुविधा का मौलिक अधिकार प्राप्त है। शोध से प्राप्त निष्कर्ष (तालिका-1) के अनुसार स्थिति एकदम स्पष्ट है कि हर बार की तरह उपेक्षित, तिरस्कृत, व ज्ञान से दूर व्यक्ति जो आर्थिक मार भी झेलता है-सारे बीमारियों का वाहक होता है। सूचना और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अवश्य ही क्रान्ति आ गई पर, इन दिशाहीनो के जीवन में क्रान्ति कब आएगी? शिशुओं एवं माताओं के स्वास्थ्य में सुधार तथा संक्रामक रोगों, खास कर मलेरिया के नियंत्रण को प्राथमिकता दी गई है। समेकित दृष्टिकोण के महत्व को स्वीकार करते हुए-

"The Programme Sought to achieve convergence among various programmes such as immunisation, antenatal care, nutrition and sanitation, with anganwadi centres at the helm of affairs"(THE HINDU, MARCH, 2007) आर्थिक रूप से सहमे छात्र/ छात्राओं में अभी भी चक्कर आने सरदर्द होने की प्रतिशत संख्या अधिक है। इनके स्वास्थ्य के स्तर में होने वाले गिरावट के उपरान्त जो बातें सामने आती हैं वो यह है कि आखिर सरकार (केन्द्र/राज्य) द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाले राशि का सदुपयोग कैसे किया जाय? तथा सरकारी वादे व वास्तविक कार्यावन्धन के बीच होने वाली दूरी को कैसे कम किया जाए? ऐसे में

समीक्षात्मक निष्कर्ष तो इस बात की ओर इशारे करते हैं की ज्ञान के आधार पर विकास की अपूर्व संभावनाओं तथा वास्तविक उपलब्धियों की दूरी में अभी भी बहुत फासले हैं। इस प्रकार के चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए स्वास्थ्य विज्ञान (Health Science) के क्षेत्र में पाठ्यक्रम में अमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जिससे हमारी भावी पीढ़ी के चिकित्सक एक आम आदमी को बेहतर स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने में सफल हो सके, साथ ही साथ सरकारी व गैर सरकारी दोनों ही स्तर पर विद्यालय में अध्ययनशील छात्र/ छात्राओं के स्वास्थ्य की जाँच प्रशिक्षित डॉक्टर/ मेडिकल स्टाफ से कराई जाए तथा प्रभावित छात्र-छात्राओं को विभिन्न स्वास्थ्य सेवा केंद्रों के माध्यम से स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराई जाए, जिसका विस्तृत व्यौरा ग्राम पंचायत या ब्लाक स्तर के पदाधिकारी के पास व विधालय के प्रधान के पास रिकार्ड के रूप में सुरक्षित व संरक्षित रखे जाएं। ऐसा करके ही सबों के लिए स्वास्थ्य के लक्ष्य को प्राप्त कर पाएंगे व स्वस्थ तन के सपने को साकार कर सकेंगे।

आभार

हम आभारी हैं डा० किरण वाला प्रसाद व श्रीमति अपर्णा कुमारी का जिन्होंने शोध स्थल पर छात्र-छात्राओं के मध्य आदर्श स्थिति व क्रियात्मक पहलुओं को प्रभावी ढंग से पूरा कराने में मेरी सहायता की।

सन्दर्भ

1. ए० के० मुखर्जी-ए० के० मुखर्जी -युनिवर्सिटी न्यूज 133 (26) श्रनदमए 1995।
2. Kim Hak Su- (Kim Hak Su The Under Secretary General and Executive Secretary of the Economic and Social Commission for Asia and Pacific (UNESCAP), The Hindu, May 17, 2007)
3. अनुच्छेद 47
4. Right to life depends on Right to health- State of Punjab Vs Mahinder Singh Chawla, AIR 1997 Sc, 1225.
5. N.D. Jayal Vs Union of India, Popularly Known as Tehri Dam Case (2004) 9 Sc 362.

डा. राजेश वर्मा

प्रवक्ता शिक्षा विभाग, नालंदा खुला विश्वविद्यालय, पटना

रीता कुमारी
शोधार्थी

NEW RELEASE

The Hero of Changing World

BARACK OBAMA

By Ravi Kant Dubey

राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दी की भूमिका

डॉ. रश्मि कुमारी

प्रत्येक समुन्नत, स्वतंत्र, स्वाभिमानी देश की अपनी राष्ट्रभाषा है—इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान सभी देशों में वहाँ की व्यापक बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। राष्ट्रभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है क्योंकि वह विदेशी आक्रमणों को रोकने में पर्वतों और नदियों से भी अधिक समर्थ है।

“ब्रिटिश शासनकाल के समय सन् 1835 ई० में कलकत्ता बंदरगाह में एक जहाज विलायती सामान लेकर आया, जिसमें औषधि से लेकर साज-शृंगार की वस्तुएं लदी थीं। परंतु उस समय भारतीय जनता की ऐसी मानसिकता थी कि वह विदेशी वस्तुओं को अस्पृश्य मानती थी। इसका परिणाम हुआ कि उस माल में से एक पैसे की बिक्री नहीं हुई। फलतः वह जहाज जैसे माल से लदा आया था, वैसे ही पुनः ब्रिटेन लौट गया। इस घटना ने तत्कालीन भारत मंत्री टामस वैविंगटन मैकाले को इतना प्रभावित किया कि उसने प्रतिज्ञा की कि भारत में हम अब एक ऐसी जाति पैदा करेंगे, जिसका रूप और रक्त तो भारतीय होगा परंतु आचार-विचार में वह अंग्रेज हो जाएगी। मैकाले की रिपोर्ट पर भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने कानून द्वारा सन् 1835 ई. से भारत में शिक्षा का माध्यम और सरकारी काम-काज की भाषा अंग्रेजी को बनाया। मैकाले कोरा राजनेता नहीं, वरन् दूरदर्शी विचारक और साहित्यकार भी था। वह जानता था कि भाषा संस्कृति की वाहक है। अतः भारतीय संस्कृति को नष्ट करने के लिए उसने भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रसार की योजना बनायी।”

स्मरणीय तथ्य है कि संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है तथा क्षेत्र और शासन तंत्र राष्ट्र के शारीरिक अंग हैं। इसलिए जिस राष्ट्र की संस्कृति नष्ट हो जाती है, वह राष्ट्र मर जाता है। राष्ट्र के मरने का तात्पर्य है—राष्ट्रवासियों के आचार-विचार में आमूल परिवर्तन होना।

“बाइबिल में बेबीलोनिया के मीनार की एक कथा आती है कि आदम के बेटों ने आसमान तक पहुंचने के लिए एक बहुत बड़ी मीनार बनाना चाहा। ईश्वर ने देखा कि ये लोग स्वर्ग तक पहुंच कर मेरी बराबरी करने लगेंगे। इन लोगों की एक भाषा थी और वे मिलकर काम करते ऊपर चढ़ते चले जा रहे थे। ईश्वर ने अब इन्हें भिन्न-भिन्न भाषाएं देकर तितर-बितर कर दिया। भाषा की विभिन्नता के कारण अब ये एक-दूसरे की बात ही नहीं समझ सकते थे। वे आपस में लड़ने लगे। झगड़े में मीनार भी टूट-फूट

गई। जिस देश के लोग एक भाषा के सूत्र में बंधे रहते हैं, उनके भावों और विचारों में एकरूपता रहती है। भाषा की विभिन्नता के कारण राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक एकता जागृत नहीं हो सकती।”²

1857 के सिपाही विद्रोह ने, जिसने एक सशक्त आंदोलन की शकल अख्तियार कर ली, वह एक तरह से बुझ गयी थी, लेकिन 1885 में कांग्रेस की स्थापना से राख में दबी हुई चिंगारी फिर सुलग गई। सिपाही विद्रोह की असफलता से, उस पराजय बोध से उबरने के लिए भारतीय पौरुष, भारतीय मनीषी तथा रणबांकुरों ने अपने अभियान की असफलता की गहरी और गंभीर पड़ताल की, तब जाकर उन्हें यह महत्वपूर्ण सूत्र मिला कि उपयुक्त सहज, सरल वह सामान्य भाषा के न होने के कारण आंदोलन के लक्ष्य को, अभिप्राय को यथा समय जन-सामान्य तक नहीं पहुंचाया जा सका और इस कारण सर्व-साधारण जनता को ठीक से संगठित नहीं किया जा सका।

महात्मा गांधी देश के उन गिने-चुने नेताओं में से थे, जिन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सपना देखा था। संविधान में हिन्दी को सरकारी काम-काज की भाषा के रूप में मान्यता दिलवाने के लिए भी महात्मा गांधी ने उल्लेखनीय योगदान दिया। देश में भावनात्मक एकता लाने के लिए वे कम-से-कम एक भाषा की समानता को आवश्यक मानते थे और वह भाषा निश्चित हिन्दी ही हो सकती थी। इसलिए हिन्दी भाषा को वे देश की स्वतंत्रता के साथ जुड़ा हुआ मानते थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त सन् 1947 में बी. बी. सी. द्वारा मांगे गये संदेश में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था—“दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी भूल गया।”³

यही नहीं, देश की आजादी की लड़ाई में भी हिन्दी ही सबसे आगे रही। यहां तक कि अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी स्वतंत्रता-संग्राम के नेताओं और जनता की यही भाषा थी। लाल-बाल-पाल, तिलक-गांधी-नेहरू और सुभाष ने अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में नहीं, बल्कि हिन्दी में अपने भाषण दिये-स्वतंत्रता-संग्राम को आगे बढ़ाया। भारत की सैकड़ों भाषाओं के बावजूद हिन्दी ही भारत के स्वतंत्रता-संग्राम की भाषा बनी।

सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज के गीत हिन्दी में गाये जाते थे। उन्होंने हिन्दी के संबंध में कहा था कि “यदि हम लोगों ने तन-मन-धन से प्रयत्न किया तो वह दिन दूर नहीं जब भारत

स्वाधीन होगा और उसकी राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी।¹⁴

स्वामी दयानन्द ने “सत्यार्थ प्रकाश” हिन्दी में लिखा। यद्यपि वे गुजराती थे। यही नहीं, जब कांग्रेस के मंच से राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ तो तमाम अहिन्दी भाषा-भाषी नेताओं ने अपनी अभिव्यक्ति का साधन हिन्दी को ही चुना और अपना प्रवचन और भाषण हिन्दी में देते रहे।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने 16 मई, 1931 को एक पत्र सेठ गोविन्ददास को कोलम्बो से लिखा था जिसमें मदुरै में हो रहे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में सम्मिलित होने की असमर्थता प्रकट करते हुए सम्मेलन की सफलता की कामना की गयी थी तथा लिखा था—“हिन्दी ने अब पूर्णतः राष्ट्रभाषा की भूमिका ले ली है और कांग्रेस का अधिकांश काम हिन्दी में किया जा रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी तमिलनाडु में निरन्तर बढ़ रही है।¹⁵”

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी सशक्त भूमिका निभाते हुए एक ऐसी संघर्षशील भाषा है जो कभी हारी नहीं, कभी उन्मूलित नहीं की जा सकी। दूब की तरह यह अपनी दुर्दम्य जीवनशक्ति का परिचय देते हुए वर्तमान परिवेश में यह अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

भारत की विविध भाषाओं में एकमात्र हिन्दी ही इतनी सशक्त व सक्षम थी जिसे हमारे राजनेताओं ने आजादी का माध्यम बनाया। आज जिस स्वतंत्र मिट्टी पर हम सांस ले रहे हैं, उस स्वतंत्रता को पाने में हिन्दी की अहम भूमिका है। भारत जैसे बहुभाषा-भाषी राष्ट्र को स्वतंत्र करना तभी संभव हो पाया, जब गांधीजी ने हिन्दी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और उसके प्रचार-प्रसार पर बल दिया। भारतीयों को एक सूत्र में बांधने के लिए यह आवश्यक था कि उनकी भाषा एक हो। भाषा राष्ट्र

का मेरुदण्ड होती है। बिना भाषा के राष्ट्र नहीं हो सकता है। हिन्दी में सर्व-सामान्य भाषा बनने के सभी गुण मौजूद हैं।

मानव जीवन में भाषा की उपयोगिता देखते हुए हमें ये तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा का बंधन किसी भी बंधन से ज्यादा सहज होता है। इसमें एक सूत्र में बांधने की अद्भुत क्षमता होती है। मुझे लगता है कि 1857 के सिपाही-विद्रोह के समय जनभाषा के रूप में ऐसा कोई सहज माध्यम उपलब्ध होता, तो अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ हम देश के कोने कोने में आवाज उठाने और अंग्रेजी को हिन्दुस्तान के बाहर खदेड़ देने में सफल हुए होते। परंतु हम नहीं कर सके और वह सिपाही-विद्रोह जो सच्चे अर्थों में जनान्दोलन था, विफल हो गया। सर्वमान्य भाषा के अभाव में इस नव-जागरण का संदेश जन-जन तक नहीं पहुंच सका। सही नेता और संपर्क-भाषा के अभाव में इतना बड़ा जनान्दोलन दबकर रह गया और हम अपने कार्य में असफल हो गये। यह पहला अवसर था जब लोगों को एक सर्वमान्य भाषा की आवश्यकता महसूस हुई थी, क्योंकि एक राष्ट्र तथा एक धर्म के होते हुए भी हम भाषा के अभाव में एक-दूसरे के लिए अनजान थे।

अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अंग्रेज जहां अंग्रेजी को बढ़ावा दे रहे थे पर शिक्षा के नाम पर धर्म का प्रचार-प्रसार भी बढ़-चढ़कर रहे थे। महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के इस षड्यंत्र को समझा और उन्होंने पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने के उद्देश्य से हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया, जबकि उनकी मातृभाषा गुजराती थी। किंतु गांधी इस सत्य से परिचित थे कि भाषा राष्ट्र-चेतना जगाने का एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। अतः हिन्दी “जन-गण-मन” की वह भाषा है, जिसमें शोषण का कहीं कोई स्थान नहीं है और स्वावलंबन जिसके अक्षर-अक्षर में है।

वास्तव में, भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जनसमूह सहज ही समझ ले। संग्राम की भाषा हिन्दी आज भारत की लगभग साठ करोड़ जनसंख्या की भाषा है। भारत की कोई भी भाषा जनसंख्या में इसकी बराबरी नहीं कर सकती। सबसे अधिक बोलने वालों और समझने वालों की यह भाषा है। भूगोल की दृष्टि से देखा जाए तो जितने विशाल भू-भाग की भाषा हिन्दी है, दुनिया के किसी राष्ट्र में उसकी भाषा इतने विशाल भू-भाग में फैली हुई नहीं है। हिन्दी भारत में सबसे अधिक समझी और बोली जाती है। यही नहीं हिन्दी भाषा में शब्दों की संख्या दुनिया के किसी भाषा में शब्दों की संख्या से अधिक है।

इसलिए ये कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कबीर और तुलसी की परंपरा कभी समाप्त नहीं हो सकती, भले ही आज हमारी संपूर्ण विचारधारा बदल चुकी हो। आज अंग्रेजी ने हमारे व्यापार की भाषा बन उस सरल नागरी “सकल गुण आगरी” के सब ही आयुध छीन उसे भले ही दूर धकेल दिया है, किन्तु कबीर के विद्रोह और तुलसी की समन्वयवादी सांस्कृतिक चेतना का मसिपात्र अभी सूखा नहीं है, न कभी सूखेगा।

सहायक संदर्भ

1. ब्रजनंदन प्रसाद सिंह “हिन्दी को जन-जीवन से जोड़ना राष्ट्र धर्म” हिन्दुस्तान, पटना, 14 सितम्बर, 1998 ।
2. डॉ. हरदेव बाहरी, राष्ट्रभाषा हिन्दी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, हिन्दी भाषा, पृष्ठ 122 ।
3. सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र होने पर बी. बी. सी. द्वारा मांगे गये संदेश के उत्तर में गांधीजी द्वारा दिया गया केवल एक वाक्य का संदेश।
4. संकुलित-गांधी हिन्दी दर्शन, पृष्ठ सं० 83, संपादक-श्री गोपाल प्रसाद व्यास।
5. डिबेट्स, पृष्ठ 1939 ।

अभिषेक अपार्टमेन्ट, खाजपुरा,
बेली रोड, पटना

विद्यापति की रचनाएं कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका की ऐतिहासिकता

मृत्युंजय कुमार सिंह

मध्यकालीन मिथिला के इतिहास के संदर्भ में मैथिल कोकिल कविवर विद्यापति की रचनाएं महत्वपूर्ण हैं। उनकी रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित हुआ है। विद्यापति का युग हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से संक्रमण काल माना जाता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे न तो वीरगाथा काल के कवि हैं और न ही भक्ति आंदोलन के। कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका जो कि अपभ्रंश में लिखी गई है, में उन्होंने अपने शाही संरक्षकों के शौर्य और वीरता को बड़े ही रोमांचक ढंग से प्रस्तुत किया है। तो दूसरी ओर पदावली में भक्ति के पद हैं पर उनकी भक्ति पदावली में भक्ति आंदोलन की चेतना नहीं है। वे मूलतः श्रृंगार रस के कवि हैं। यह साहित्यिक और ऐतिहासिक कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन्हें फुटकल खाते में रखते हैं। विद्यापति किसी खास प्रवृत्ति के अधीन नहीं थे। वे युग-युगांतर के कवि थे।

प्राचीन काल से ही मिथिला भारतीय इतिहास में एक स्वतंत्र राज्य रहा है। विद्यापति की रचनाएं कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली आदि में तत्कालीन मिथिला के ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का वर्णन मिलता है। इतिहासकारों के अनुसार विद्यापति 1360 से 1480 के बीच मौजूद थे। वे संभवतः फिरोजशाह तुगलक और उसके कुछ बाद लोदी वंश के समय में भी थे। जाहिर है कि विद्यापति के जीवन काल के बहुत पहले भारत में इस्लाम का आगमन हो चुका था और भारत की जनता दिल्ली के सुलतान को स्वीकार कर चुकी थी। लेकिन दिल्ली से दूर प्रांतों पर दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था। फिरोजशाह तुगलक के बाद तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली सल्तनत कमजोर पड़ गई और पूर्वी भारत में दो प्रमुख शक्तिशाली स्वतंत्र राज्यों के उत्पत्ति हुई। एक पूर्वी उत्तर प्रदेश के शर्की शासकों का राज्य जौनपुर था तथा दूसरा बंगाल के शाह शासकों का। कालान्तर में दोनों शासकों ने मिथिला पर राज्य विस्तार के लिए आक्रमण किए।²

विद्यापति के पहले मिथिला पर कर्णाट वंश के शासकों का साम्राज्य था तथा इसी वंश के शासकों के समय 1323-1324 में मिथिला पर गयासुद्दीन तुगलक का आक्रमण हुआ उसके फलस्वरूप कर्णाट वंश का अंत हो गया।³ कर्णाट वंश का अंतिम शासक

हरिसिंह देव ने तीर भुक्ति राज्य ओइनवार वंश को सौंपा था। राजा कीर्ति सिंह और शिव सिंह ओइन वंश के थे। कीर्तिलता में विद्यापति ने भृंग-भृंगी संवाद के रूप में भृंगी से प्रश्न करवाया है कि राजा कीर्ति सिंह किस वंश के थे और वे स्वयं कौन थे? इसी प्रश्न के उत्तर में कीर्तिलता की रचना हुई और उसमें बताये हैं कि राजा कीर्ति सिंह ओइन वंश के थे। यह उल्लेख कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका की कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। यह वंश मिथिला में आज भी उपलब्ध है।

कीर्तिलता में यह वर्णित है कि राज्यलोभी असलान शाह ने धोखा से तिरहुत के राजा गणेश्वर को मार डाला और राज्य पर कब्जा कर लिया। गणेश्वर के मरते ही राज्य में अराजकता फैल गई। कविवर ने कीर्तिलता के “द्वितीय पल्लव” के प्रारंभ में इसका वर्णन किया है।

ठाकुर ठक भए गेल, चोर सरपरि घर सज्जिअ ।

दासे गोसाउनि गहिअ, धम्म गए धंध निमज्जिअ ॥

खले सज्जन परिभविअ, कोई नहि होई विचारक ।

जति अजाति विवाह अधम उत्तम उत्तम कौ पारक ।

अर्थात् राजा गणेश्वर के निधन के बाद हालत इतनी बिगड़ गई कि ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घरों पर कब्जा कर लिया, नौकरों ने गृहस्वामिनियों को धर दबाया, धर्म खत्म हो गया और धंधे डूब गए, दुष्टों ने सज्जनों को दबोच लिया, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति और अजाति में विवाह होने लगे, अधम और उत्तम के भेद का विवेक करने वाला कोई नहीं बचा।

अक्खर रस बुज्झि निहार नहि, कवि कुल भमि भिखखरि भऊं।

तिरहुति तिरोहि सबे गुणे रा गणेश जले सगग गऊं ॥

अर्थात् अक्षर रस (यानि काव्य रस) का कर्मज्ञ कोई नहीं बचा, कवि लोग घूम-घूम कर भिखारी हो गए। राजा गणेश्वर जब स्वर्ग चले गए तो तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए।

कवि कहता है कि राजा गणेश्वर के स्वर्गवास के बाद तिरहुत के समाज में उपर्युक्त दुर्वृत्तियां फैल गईं, लेकिन वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दुर्वृत्तियां समाज में पहले

से थीं लेकिन राजा का कठोर शासन रहा होगा जिसके भय से जनता में एक व्यवस्था थी। राजा के मरते ही वह भय खत्म हो जाता है और समाज में अराजकता फैल जाती है अर्थात् गणेश्वर एक शक्तिशाली राजा थे।

इसकी पुष्टि इतिहास से हो जाती है कि तिरहुत के एक शक्तिशाली राजा गणेश ने 1415 ई० में बंगाल के कमजोर शासक सैफुद्दीन हम्जाशाह की दुर्बलता का फायदा उठाकर बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और 1418 में उसकी मृत्यु हो गई।⁴ संभवतः तिरहुत के राजा गणेश वहीं थे जिनका वर्णन विद्यापति ने अपनी रचनाओं में किया है।

कीर्तिलता में उन्होंने पुनः लिखा है कि राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्ति सिंह ने अपना खोया राज्य पाने के लिए और असलान शाह से बदला लेने के लिए सुल्तान से मदद मांगी और सुल्तान ने असलान के खिलाफ कीर्ति सिंह को मदद दी। सुल्तान की सेना की मदद से कीर्ति सिंह ने असलान शाह को भयानक युद्ध में हराकर खदेड़ दिया और अपने राज्य पर फिर से कब्जा जमा लिया। सुल्तान ने असलान शाह को हराने के बाद कीर्ति सिंह का राज्याभिषेक कर दिया।

कीर्तिलता में वर्णित इन घटनाओं को हम ऐतिहासिक संदर्भ में देखते हैं तो इसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है (फिरोज शाह तुगलक की मृत्यु के बाद पूर्वी भारत में दो स्वतंत्र राज्य पहला जौनपुर का शर्की शासकों का तथा दूसरा बंगाल के शाह शासकों की उत्पत्ति हुई) कीर्ति सिंह को मदद करने वाला सुल्तान जौनपुर का शर्की शासक इब्राहिम शाह शर्की (1402 से 1440 ई.) रहा होगा और हमला करने वाला असलान शाह संभवतः बंगाल के शाह वंश का कोई उत्तराधिकारी, सेनापति या अधीनस्थ सामंत होगा। क्योंकि कीर्ति

सिंह के जौनपुर पहुंचने पर कवि ने इस नगर का बहुत ही शानदार वर्णन किया है। उसने बड़ी-बड़ी इमारतों ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं का वर्णन किया है। नगर के समाज में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत और अन्य अनेक जातियां बसी थी। वहां वेश्याएं भी थी और उनके महल ऐसे थे कि कवि को लगता है कि उन्हें विश्वकर्मा ने बनाया हो। हिन्दू मुसलमान एक साथ रहते थे। कवि ने कीर्तिलता में इसका वर्णन किया है।

हिन्दू तुलुक मितल वास,
एकक धम्मे ओकाक हास।
कतहु बांग, कतहु वेद
कतहु विसमिल्ला कतहु छेद
कतहु ओझा, कतहु खोजा
कतहु नकत कतहु रोजा
कतहु तम्बारू कतहु कूजा
कतहु नीमाज कतहु पूजा
कतहु तुलुका बल कर
बाट जाएते बेगार घर

हालांकि राज्य की सुविधा की दृष्टि से भेदभाव थे। इसके बावजूद “कहीं बांग दी जा रही है, कहीं वेद पाठ है, कहीं बिस्मिल्लाह है, कहीं बलि है। कहीं ओझा है, कहीं खोजा है। कहीं नकल (रात्रि व्रत) है, कहीं रोजा है, कहीं ताम्रपत्र है और कहीं कूजा है” अर्थात् हिन्दू और मुसलमानों में आपसी भाईचारा था। ज्ञातव्य हो कि शर्की शासक इब्राहिम शाह शर्की एक सुसंस्कृत कला एवं साहित्य का प्रेमी था। उसने जौनपुर में कई इमारतों का निर्माण करवाया। इब्राहिम शाह शर्की ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। संभवतः जब कीर्ति सिंह जौनपुर पहुंचे उस समय इब्राहिम शाह शर्की का शासन रहा होगा। इन्हीं शर्की शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की प्रशंसा विद्यापति ने की है।⁵ इससे यह

प्रमाणित होता है कि कीर्तिलता के नायक कीर्ति सिंह को जिस सुल्तान ने मदद किया वह इब्राहिम शाह शर्की ही था। और यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि समसुद्दीन अहमद शाह (1431-1435 ई.) के शासनकाल में जौनपुर के इब्राहिम शर्की ने बंगाल पर आक्रमण किया। संभवतः कीर्ति सिंह के मदद के लिए ही यह आक्रमण हुआ होगा।

उपरोक्त तथ्यों से कीर्तिलता की कथा की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि मुसलमान हमलावर के खिलाफ मदद मांगने के लिए कीर्ति सिंह मुसलमान सुल्तान के पास ही गया और मदद पाकर राज्य वापस लिया। इस प्रसंग में यह भी महत्वपूर्ण है कि सुल्तान ने असलान को हराने के लिए राज्य को अपने अधीन नहीं कर लिया बल्कि कीर्ति सिंह का ही राज्याभिषेक कर दिया। यह इस बात का प्रमाण है कि राजनीति धर्म से प्रेरित नहीं थी और राज्य धर्मनिरपेक्ष था। हालांकि कहीं-कहीं मुसलमानों के द्वारा जोर-जबरदस्ती किए जाने का भी वर्णन है। यह भी उल्लेखनीय है कि कीर्ति सिंह के पूर्वज भोगीस राय को फिरोजशाह तुगलक अपना सखा कहते थे। यह बात भी ध्यान देने की है कि यह दोस्ती सामरिक रूप से दिल्ली सल्तनत के लिए महत्वपूर्ण थी क्योंकि फिरोजशाह तुगलक ने 1345 ई० में हाजी इलियास के समय बंगाल पर आक्रमण किया क्योंकि हाजी इलियास ने दिल्ली सल्तनत की भूमि को भी पदाक्रान्त किया और उड़ीसा तथा तिरहुत पर आक्रमण करके उससे कर वसूल किया।⁶ पुनः 1857 ई० में इलियास के पुत्र सिकन्दर शाह के समय में भी फिरोज शाह तुगलक ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने का पुनः प्रयत्न किया। दिल्ली से दूर होने के कारण फिरोज शाह तुगलक को एक स्थानीय शासक की मित्रता एवं सहायता की जरूरत थी जो कि मिथिला राज्य से ही हो सकता

था और मिथिला को भी बंगाल के शासकों से डर था अतः भोगीस राय और फिरोजशाह तुगलक की मित्रता एक दूसरे की जरूरत थी जो कि सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

अतः हम कह सकते हैं कि तत्कालीन राजनीति का असली रूप राज्य पाने के लिए किया जाने वाला संघर्ष ही था।

इसी प्रकार कीर्तिपताका में भी राजा शिव सिंह और सुल्तान के युद्ध का वर्णन है। राजा शिव सिंह सुल्तान को युद्ध में हराते हैं इसी विजय के फलस्वरूप राजा शिव सिंह की कीर्ति-पताका चारों तरफ फहराती है। मध्यकालीन युग में राजा की कीर्ति युद्ध में विजय के कारण फैलती है। राजा की शक्ति सेना और युद्ध जीतने की क्षमता में निहित रहती थी। इस संदर्भ में कीर्तिलता के इक्कीसवें पद को देखा जा सकता है जिसमें कवि कहता है कि “जो तीखा तर्क कर सकता है, तीनों वेदों को पढ़ता है, दान से दरिद्रता का दलन करता है, परम ब्रह्मा को परमार्थ समझता है, धन से कीर्ति बटोरता है, पराक्रम से शत्रु से लड़ता है, वह ओइन वंश संसार प्रसिद्ध है।” इस कथन में भी हम देखते हैं कि राजा की कीर्ति धन और सैन्य बल के आधार पर ही फैलती है। इससे प्रमाणित होता है कि शासन में सामंतवादी व्यवस्था थी।

विद्यापति के बारे में ऐतिहासिक रूप से स्वीकृत है कि वे राजा शिव सिंह के दरबार में रहते थे। उनकी पदावली में भी बार-बार राजा शिव सिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का जिक्र आता है, जिससे विद्यापति और राजा शिव सिंह के संबंध की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि कवि अपने चरित्र नायकों की श्रेष्ठता और अपने प्रतिपक्षी राजा की हीनता का वर्णन करने में अपनी

श्रेष्ठता समझते थे। तत्कालीन कवियों का काव्य सामंतवादी लक्षण की “जिसका खाना उसका गाना” उक्ति को चरितार्थ करता था। विद्यापति उसी प्रवृत्ति के अनुसार कीर्तिपताका में अपने आश्रयदाता राजा शिव सिंह की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। फिर भी इनके रचनाओं में ऐतिहासिक तथ्य मौजूद हैं। कीर्तिलता, कीर्तिपताका और लिखनावली अपने समय के जीवंत ऐतिहासिक दस्तावेज हैं।

मध्यकालीन भारत का इतिहास जिसने भी लिखा है उसने मिथिला और विद्यापति की उपेक्षा की है। हालांकि हिन्दी के विद्वानों ने इस प्रसंग में जो काम किये हैं वे भाषा के विकास, उसकी प्रकृति एवं साहित्यिक विवेचन तक ही सीमित हैं। इन सब सीमाओं के बावजूद सभी ने स्वीकार किया है कि विद्यापति शिव सिंह के समय में थे और कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका में तत्कालीन

मिथिला का ऐतिहासिक आधार है और मध्य/युगीन मिथिला का इतिहास लिखने में इसका ऐतिहासिक आधार प्रमाणित है। अतः हम कह सकते हैं कि कीर्तिलता, कीर्तिपताका तत्कालीन मिथिला के इतिहास के दस्तावेज हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—प्रो० राधाकृष्ण चौधरी।
2. मध्यकालीन भारत एक सर्वेक्षण—इमत्याज अहमद।
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—प्रो० राधाकृष्णन चौधरी।
4. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव।
5. मध्यकालीन भारत एक सर्वेक्षण—इमत्याज अहमद।
6. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव।
7. विद्यापति अनुशीलन एवं मूल्यांकन—वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।
मौना, हुस्से छपरा (छपरा), बिहार

जीवन वृत्त

महान देश रत्न (टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल)

चिरमस्णीय महान लेखक

चिरमस्णीय महान वैज्ञानिक

चिरमस्णीय महान व्यक्तित्व

यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम

निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल

सरदार वल्लभ भाई पटेल

मदर टेरेसा

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें—

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

भारत की भाषा समस्या और उसके संभावित समाधान

अनिल कुमार झा

विश्व के तेजी से प्रगति कर रहे सभी विकासशील देश ऐसा अंग्रेजी अपनाए बिना, निज भाषाओं के माध्यम से कर रहे हैं। भारत में स्थिति उल्टी है...यहां अंग्रेजी की जकड़ बढ़ रही है और भारतीय भाषाएं चपरासियों की भाषाएं हो चली हैं। इसका प्रमुख कारण है हमारी भाषाओं का आपसी वैमनस्य! इसके निराकरण के लिए अच्छा हो, यदि सभी भारतीय भाषाएं एक लिपि अपनाएं जो वर्तमान विभिन्न लिपियों को मिला-जुला रूप हो। पर सबसे महत्वपूर्ण कदम होगा दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता। साथ ही हिन्दी के पाठ्यक्रम में दूसरी उत्तर भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाएं जोड़ी जाएं ताकि छात्र इन भाषाओं की निकटता से परिचित हों। वे भाषाएं भी ऐसी ही नीति अपनाएं।

भारत को अपने व्यापक पिछड़ेपन से यदि कभी उबरना है, विभिन्न वर्गों की घोर असमानता यदि कभी कम करनी है तो जरूरी होगा कि हम एक आम आदमी को उसी की भाषा में शिक्षा और शासन दें...जैसा कि हर विकसित देश में होता है।

भारत में ऐसे जानकार हर गली-नुकड़ पर मिलते हैं जो अंग्रेजी को प्रगति का पर्याय मानें, कोई उन्हें झकझोरे और बताए कि उन्नति का स्रोत आंग्ल भाषा नहीं। वह ज्ञान है जिसे अंग्रेजी से अनूदित कर जापान, कोरिया और चीन जैसे देश जन-सामान्य तक पहुंचाते हैं, उसका विकास करते हैं और अपना विकास करते हैं।

क्या भारतीय भाषाएं चीनी, जापानी आदि भाषाओं की तुलना में इतनी अक्षम हैं कि अंग्रेजी से अनुवाद न किया जा सके? स्वयं अंग्रेजी में निरंतर पारिभाषिक शब्द गढ़े जाते हैं जो प्रायः ग्रीक और लैटिक भाषाओं पर आधारित होते हैं। संस्कृत का शब्द-भंडार इन दो प्राचीन भाषाओं से अधिक समृद्ध हैं। हमें पारिभाषिक शब्द बनाने में कठिनाई क्यों हो? जापानी, कोरियाई आदि भाषाओं की तुलना में हमें अधिक सुभीता होना चाहिए।

पर किस भाषा में अनुवाद? यह “अंग्रेजी की महत्ता क्यों और कितनी” से भी बड़ा प्रश्न है...भारतीय भाषाओं के आपसी वैमनस्य के कारण पहले इसका हल ढूंढें।

भारतीय भाषाओं को दो भागों में बांटा जाता है। उत्तर और मध्य भारत की भाषाएं सीधे संस्कृत पर आधारित हैं। दक्षिण की

चार भाषाओं का मूल भिन्न है पर उन पर भी संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है।

उत्तर भारत की भाषाएं गिनते समय प्रायः लोग लिपियों पर ध्यान देते हैं पर लिपियां भाषाओं की भिन्नता का सदा सही माप नहीं देती। यदि भोजपुरी की अपनी लिपि होती तो वह भी पंजाबी की तरह एक अलग भाषा मानी जाती। ऐसे कई और उदाहरण दिए जा सकते हैं, शायद इसी कारण विनोबा भावे ने कई दशक पूर्व आग्रह किया था कि सभी भारतीय भाषाएं संस्कृत की लिपि यानी देवनागरी अपनाएं। उनका यह सुझाव आया गया हो गया क्योंकि इसके अंतर्गत हिन्दी और मराठी को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं को झुकना पड़ता। समाधान ऐसा हो कि देश के भाषायी समन्वय के लिए हर भाषा को किंचित त्याग करना पड़े।

ऐसा संभव है क्योंकि सभी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति ब्राम्ही लिपि से हुई है। यदि हम इस ब्राम्ही लिपि का ऐसा आधुनिक सरलीकरण और “त्वरित उदभव” करें कि वह प्रचलित विभिन्न लिपियों का मिश्रज (hybrid) लगे तो उसे अपनाने में भिन्न भाषाओं को कम आपत्ति होगी। (इस लिपि में कई अक्षर ऐसे होंगे जिनका प्रयोग कुछेक भाषा ही करेंगी।)

कुछ संभावनाएं—पर क्या अपनी लिपि का लगाव छोड़ा जा सकेगा? प्रथम तो यह कि मिश्रज लिपि पूरी तरह अपरिचित अथवा विदेशी न होगी। दूसरे, यदि कुछ कठिनाई होगी भी तो लाभ बढ़े और दूरगामी हैं, यह भी ध्यान देने की बात है कि अंकों के मामले में ऐसा पहले ही हो चुका है—अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संसार की सभी लिपियों, अंकों के लिए अब 1, 2, 3, 4, 5.....का प्रयोग किया जाता है।

बात अंतर्राष्ट्रीयता की आई है तो कुछ लोग कहेंगे कि क्यों न हम अंग्रेजी की रोमन लिपि अपनाएं?

ऐसा करना अनर्थकारी और हास्यापद होगा। भारतीय वर्णमाला को विश्व का अग्रणी ज्ञानकोश-इंसायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका-भी “वैज्ञानिक” कहता है। (ऐसा अभिमत किसी दूसरी वर्णमाला के लिए व्यक्त नहीं किया गया।) भारतीय लिपियां पूरी तरह ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) हैं अर्थात् उच्चारण और वर्तनी (स्पेलिंग) में कोई भेद

नहीं। (आश्चर्य नहीं कि मेरे एक ब्राजीली मित्र ने मात्र एक दिन में देवनागरी पढ़ना सीख लिया था) ऐसी लिपि प्रणाली को छोड़कर यूरोपीय लिपि अपना सर्वथा अनुचित होगा।

इस समय हमारी लिपियों की संसार में कोई पूछ नहीं हैं। यदि सभी भारतीय भाषाएं एक लिपि का प्रयोग करें तो शीघ्र ही इस लिपि को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिलेगी जैसी कि चीनी, अरबी आदि लिपियों को आज प्राप्त हैं। एकता में बल है। एक-लिपि हो जाने पर भी भारतीय भाषाएं भिन्न बनी रहेंगी। दूसरा कठिन कदम होगा एक भाषा को समस्त भारत में प्रधान बनाने का। यह हिन्दी पर विशालहृदया हिन्दी! (इस विशालहृदया का विस्तार आगे.....) साथ ही, हिन्दी के दक्षिण भारत में प्रसार के लिए आवश्यक है कि दक्षिण की चार भाषाओं को उत्तर भारत में मान्यता मिले। यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है! हिन्दी भाषियों की संकीर्णता ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में सबसे बड़ी अड़चन रही है। दक्षिणी भाषाओं के प्रति उत्तर भारत में कोई जिज्ञासा नहीं है। यदि है तो एक हापडिल्ले सापडिल्ले वाली उपहास-वृत्ति। आश्चर्य नहीं कि स्वाभिमानी दक्षिण भारतीय, जिनकी भाषाओं का लंबा इतिहास और अपना साहित्य है, हिन्दी प्रसार प्रयत्नों को इकतरफा और केकड़ी भरा कहकर उसका विरोध करें।

भारतीय सेना में दक्षिण भारत की सेना-टुकड़ियों के उत्तर भारतीय अफसरों को चार दक्षिणी भाषाओं में से एक सीखनी पड़ती है। उत्तर भारत की शिक्षा प्रणाली में ऐसा ही कुछ किया जाना नितांत आवश्यक है। जैसे, हर माध्यमिक स्कूल में छठी कक्षा से एक दक्षिण भारतीय भाषा पढ़ाने की व्यवस्था हो। ऐसा होने पर उत्तर-दक्षिण का भाषायी वैमनस्य जाता रहेगा और तद्जनित सदभाव के वातावरण में सहज ही हिन्दी को दक्षिण भारत में स्वीकृति मिलेगी।

उत्तर भारत की दूसरी भाषाओं के प्रति हिन्दी को विशालहृदयता भी होना होगा। बंगाली, गुजराती, उड़िया आदि के शीर्षस्थ साहित्यकारों की रचनाएं हिंदी पाठ्यक्रम में जोड़ी जाएं, इससे छात्रों पर अतिशय भार न पड़ेगा। इन हिन्दीतर भाषाओं के अनेक पद्यों की भाषा हिन्दी की खड़ी बोली से लगभग उतनी ही दूर है जितनी रामचरितमानस की अवधि। “वैष्णव जन तो तेने रे कहिए, जे पीड़ परायी जाणे रे” का अर्थ समझने के लिए किस हिन्दी भाषी को कुंजी उठानी होगी? संस्कृत गर्भित होने पर यह दूरी और भी कम हो जाती है जैसा कि “जन गण मन” और “वंदे मातरम” जैसी रचनाओं में देखा जा सकता है। गद्य पाठन भी मुश्किल न होगा। “शांतता, कोर्ट चालू आहे” का अर्थ एक बार जान लेने पर क्या किसी उत्तर भारतीय के लिए याद रखना कठिन है?

उत्तर भारत की भाषाओं के सामीप्य के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं—मीराबाई के भजन हिन्दी में जितने लोकप्रिय हैं उतने ही गुजराती में। पंजाबी के “गुरु ग्रंथ साहिब” में मराठी कवि “नामदेव” के अनेक पद हैं। (यह भी कि नानक देव के अधिकांश दोहों की भाषा ऐसी है कि यदि वे “गुरुमुखी” में लिखे जाएं तो पंजाबी कहलाएंगे और देवनागरी में लिखे जाएं तो हिन्दी)।

उत्तर भारतीय भाषाओं के पाठ्यक्रम में दूसरी सहोदरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं को समाहित कर लेने से छात्र स्वयं इस भाषायी-निकटता से अवगत होंगे। हमारी सांस्कृतिक धरोहर में भिन्न क्षेत्रों के साहित्य का जो योगदान है उससे उनका परिचय होगा। भाषायी सौहार्द तो बढ़ेगा ही।

निस्संदेह वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में नई खोजों, नए विचारों की भाषा प्रायः अंग्रेजी होती है। अंग्रेजी सबसे उन्नत देश अमेरिका की

भाषा है। ज्ञान-विज्ञान की जितनी पुस्तकें, पत्रिकाएं अंग्रेजी में उपलब्ध हैं उतनी किसी और भाषा में नहीं।

पर क्या इस ज्ञान को आत्मसात करने के लिए हम अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेजी को अंगीकार करें? भारत में आज ऐसा ही हो रहा है। अंग्रेजों के जाते समय अंग्रेजी भाषा की जितनी महत्ता थी, उससे अधिक आज है। क्या हमारा यह अंग्रेजी अनुराग हमारे देश के उत्थान में सहायक हुआ है अथवा इस विदेशी भाषा पर अधिकार करने के अर्धसफल या असफल प्रयास में हम पीढ़ी दर पीढ़ी अपार समय ऊर्जा गंवा रहे हैं?

उच्च शिक्षा के लिए जितने छात्र भारत से प्रतिवर्ष अमेरिका जाते हैं, लगभग उतने ही ताईवान, दक्षिण कोरिया जैसे देशों में भी जाते हैं, जहां विश्वविद्यालयों में विज्ञान तथा तकनीकी विषय भी चीनी, कोरियाई जैसी भाषाओं में पढ़ाए जाते हैं। (यह भी ध्यान दे कि हमारी जनसंख्या ताईवान की जनसंख्या से 40 गुनी और दक्षिणी कोरिया की जनसंख्या से 20 गुनी है!) हमारे अंग्रेजी-दक्ष इंजीनियर कोरिया के लोगों को कार, टी० वी० बनाना नहीं सिखाते। उनके टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलने वाले इंजीनियर हमें, और बाकी दुनिया को, ऐसा सामान बनाकर बेचते हैं।

इन अंग्रेजी-मोह से मुक्त देशों की सफलता का कारण समझना कठिन नहीं है। वहां अंग्रेजी की पुस्तकों का स्वदेशी भाषा में अनुवाद करके उस ज्ञान को जन-साधारण के लिए सुलभ कर देते हैं। जो छात्र उच्चतर अध्ययन के लिए विदेश जाना चाहते हैं, अथवा जो दूसरे कारणों से अंग्रेजी में रुचि रखते हो, केवल वे ही अंग्रेजी पढ़ते हैं। शेष छात्र इस भार से लगभग मुक्त।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इन देशों में विदेशी साहित्य और संस्कृति के

प्रति रुचि न हों। टैगोर की कविताओं से इन एशियाई देशों के छात्र जितने परिचित हैं उतने भारत के नहीं। वहां महाकवि का काव्य अपनी बोली में भाषांतर करके पढ़ाया जाता है। हमारे यहां करोड़ों अ-बंगाली विद्यार्थी उन्हीं कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ते हैं जो कुजियों की मदद से आधा-अधूरा किसी के पल्ले पड़ जाए तो बहुत समझिए।

बात हमारे अंग्रेजी पाठ्यक्रम की आई है तो उसके अन्य आयाम भी देख लें। भारत में अंग्रेजी एक विदेशी भाषा के रूप में नहीं पढ़ाई जाती। इसका पठन-पाठन कुछ ऐसा है मानो हम सब लंदन के निवासी हों!

वे छात्र जो अभी अंग्रेजी व्याकरण सीख ही रहे होते हैं और जो अपने मन के एक-दो सहज विचारों को ठीक तरह से अंग्रेजी में व्यक्त करने में असमर्थ हैं, उनसे कहा जाता है कि वे अंग्रेजी में गद्य तथा पद्य की संदर्भ सहित व्याख्या करें! संसार का शायद ही कोई दूसरा देश एक विदेशी भाषा को सीखने में ऐसी कमअक्ली दिखाता हो! यह शिक्षा-पद्धति ब्रिटिश-राज की देन है जिससे हम आज भी स्वतंत्र नहीं हो पाए हैं। स्वयं भारत के महानगरों में, जहां फ्रांसीसी, जर्मनी आदि भाषाएं सिखाई जाती हैं वहां जोर व्याकरण की पक्की नींव डालने और शब्द ज्ञान बढ़ाने पर होता है। उस भाषा के साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन तो बहुत बाद में और अधिकांश छात्रों की उसकी आवश्यकता ही नहीं। यह उस साहित्य की अवहेलना नहीं, अपनी सीमाएं समझने और प्राथमिकता निर्धारित करने की बात है। कंप्यूटर प्रोग्रामिंग के क्षेत्र में सफल होने के लिए अंग्रेजी साहित्य तो छोड़िए, उसके व्याकरण के विशेष ज्ञान की भी जरूरत नहीं!

अंग्रेजी में ऐसे अनेक उच्च कोटि के कवि और लेखक हैं जिनकी कुछेक रचनाओं

से परिचित होना किसी भी शिक्षित भारतीय के लिए जरूरी है। पर अंग्रेजी साहित्य विश्व साहित्य नहीं है! अन्य विदेशी भाषाओं में भी प्रथम स्तर के बहुतेरे साहित्यकार हैं। वास्तव में ताल्सताय, चेखव और दॉस्तोयवस्की जैसे रूसी दिग्गजों के आगे अंग्रेजी का कोई कथाकार नहीं ठहरता। हम क्यों न सभी श्रेष्ठतम विदेशी साहित्यकारों की रचनाएं पढ़ें—पर अपनी भाषा में अनूदित करके, जैसा कि संसार के लगभग हर दूसरे देश में होता है। हमारे वर्तमान आंग्ल-पाठ्यक्रम में फ्रांसीसी मोपासां और रूसी चेखव की कहानियां कुछ ऐसे प्रस्तुत की जाती हैं मानो वे अंग्रेजी के लेखक हों! बंगाली के टैगोर का क्षोभनीय उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं।

यदि हमारे देश से कभी अंग्रेजी का दबदबा हटा तो कुछ समस्याएं भी उठ खड़ी होंगी:

हिंदी के फिल्म जगत में तो बिल्कुल उथल-पुथल मच जाएगी। वहां जो कुछ हिन्दी बोली जाती है वह पर्दे पर कैमरा हटते ही उन अधपढ़ों की भीड़ में जो जितनी अमेरिकी-ढरक से अंग्रेजी बोलता है, अपने आप को उतना ही कुलीन समझता है।

यदि अंग्रेजी की महत्ता गई तो इस उद्योग के लोग अपना उथलापन, अपनी अभद्रता कहां कैसे छिपाएंगे?

ऐसी दिक्कतें तो होंगी...कुछ और वर्ग भी विरोध करेंगे मानो समर्थ अंग्रेजी का प्रभुत्त जाते ही देश बेसहारा हो जाएगा।

अच्छा हो यदि ये लोग स्वयं अंग्रेजी भाषा का अपना इतिहास जान लें। आज से 500 वर्ष पहले विश्व की भाषाओं में अंग्रेजी की कोई गिनती नहीं थीं। इसको बोलने वाले दो-एक टापू तक सीमित थे और वहां भी विद्वानों की भाषा लैटिन थीं। शासक वर्ग में लैटिन की पुत्री इतालवी को सीखने का लोगों को सबसे अधिक चाव

था, पर इंग्लैण्डवासी इस विदेशी-भाषा-भक्ति से ऊपर उठे। उन्होंने उस समय के सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों का—बाइबिल जिनमें प्रमुख थी—अपनी बोली में अनुवाद प्रारंभ किया। विदेशी पुस्तकों, कथाओं आदि के आधार पर अपनी भाषा में साहित्य रचा। उनकी भाषा समृद्ध और सशक्त हुई और साथ ही सबल हुआ वह समाज। उनके उत्कर्ष की शेष कहानी तो हम जानते ही हैं।

पांच सदी पूर्व की अंग्रेजी की तुलना में हमारी भाषाओं की वर्तमान स्थिति श्रेयस्कर हैं। संस्कृत की विपुल शब्द संपदा हमारी थाती है। अगर कमी है तो केवल इच्छाशक्ति की, एक संकल्प की, आपसी भाषायी राग-द्वेष को मिटाकर आगे बढ़ने की।

आज देश में जो भी प्रगति हो रही है उसका लाभ प्रायः उच्च मध्यवर्गीय 20 करोड़ लोगों तक सीमित है, शेष 80 प्रतिशत के पास अपना जीवनस्तर सुधारने के बहुत कम रास्ते हैं, जिसका एक कारण अंग्रेजी की प्रभुसत्ता है। (और ऊपर का वह 20 प्रतिशत भी, अंग्रेजी भाषा-ज्ञान बढ़ाने में सतत गंवाता, दूसरे एशियाई देशों की तुलना में फिसड्डी लगता है।)

हम अन्य देशों से सीखें। आज चीन जिस तरह दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहा है, आश्चर्य नहीं कि इस शताब्दी के मध्य तक चीनी भाषा विश्व में उतनी ही महत्वपूर्ण हो जाए जितनी अंग्रेजी। (इसके संकेत अमेरिका में अभी से दिखने लगे हैं)। तब हम और दयनीय लगेंगे। हमें समय रहते चेतना चाहिए।

संदर्भ

1. नवजागरण और भारतीय भाषाएं
— शंभूनाथ
2. आधुनिक हिन्दी भाषा की संरचना
— संजय कुमार सिंह
3. अफ्रीका में हिन्दी भाषा साहित्य और संस्कृति
— कुमार शंकर झा

भूमंडलीकरण की चुनौतियां: संचार माध्यम और हिंदी का संदर्भ

पंकज कुमार तिवारी

भूमंडलीकरण ने विगत दो दशकों में भारत जैसे महादेश के समक्ष जो नई चुनौतियां खड़ी की हैं उनमें सूचना विस्फोट से उत्पन्न हुई अफरा-तफरी और उसे संभालने के लिए जनसंचार माध्यमों के पल-प्रतिफल बदलते रूपों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान संदर्भ में भूमंडलीकरण का अर्थ व्यापक तौर पर बाजारीकरण है।

भारत दुनियाभर के उत्पाद निर्माताओं के लिए एक बड़ा खरीदार और उपभोक्ता बाजार है। बेशक हमारे पास भी अपने काफी उत्पाद हैं और हम भी उन्हें बदले में दुनियाभर के बाजार में उतार रहे हैं क्योंकि बाजार केवल खरीदने की ही नहीं बेचने की भी जगह होता है। इस क्रय-विक्रय की अंतर्राष्ट्रीय बेला में संचार माध्यमों का केंद्रीय महत्व है क्योंकि वे ही किसी भी उत्पाद को खरीदने के लिए उपभोक्ता के मन में ललक पैदा करते हैं। यह उत्पाद वस्तु से लेकर विचार तक कुछ भी हो सकता है। यही कारण है कि आज भूमंडलीकरण की भाषा का प्रसार हो रहा है तथा मातृबोलियां सिकुड़ और मर रही हैं।

आज के भाषा संकट को इस रूप में देखा जा रहा है कि भारतीय भाषाओं के समक्ष उच्चरित रूप भर बनकर रह जाने का खतरा उपस्थित है क्योंकि संप्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण उत्तर आधुनिक माध्यम टी० वी० अपने विज्ञापनों से लेकर करोड़पति बनाने वाले अतिशय लोकप्रिय कार्यक्रमों तक में हिन्दी में बोलता भर है, लिखता अंग्रेजी में ही है। इसके बावजूद यह सच है कि इसी माध्यम के सहारे हिंदी अखिल भारतीय ही नहीं बल्कि वैश्विक विस्तार के नए आयाम छू रही है। विज्ञापनों की भाषा और प्रोमोशन वीडियो की भाषा के रूप में सामने आने वाली हिन्दी शुद्धतावादियों को भले ही न पच रही हो, युवा वर्ग ने उसे देश भर में अपने सक्रिय भाषा कोष में शामिल कर लिया है। इसे हिन्दी के संदर्भ में संचार माध्यम की बड़ी देन कहा जा सकता है।

सूचना संचार प्रणाली किसी भी व्यवस्था के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। अंग्रेज रहे हों या हिटलर जैसे तानाशाह, सबको यह मालूम था कि सैन्य शक्ति के अलावा असली सत्ता जनसंचार में निहित होती है। आज भी भूमंडलीकरण की व्यवस्था की जान इसी में बसती है। दूसरी तरफ समाज के दर्पण के रूप में साहित्य

भी तो संचार माध्यम ही है जो सूचनाओं का व्यापक संप्रेषण करता है। साहित्य की तुलना में संचार माध्यमों का ताना-बाना अधिक जटिल और व्यापक है क्योंकि वे तुरंत और दूरगामी असर करते हैं। भूमंडलीकरण ने उन्हें अनेक चैनल ही उपलब्ध नहीं कराए हैं, इंटरनेट और वेबसाइट के रूप में अंतर्राष्ट्रीयता के नए अस्त्र-शस्त्र भी मुहैया कराए हैं। परिणामस्वरूप संचार माध्यमों की त्वरा के अनुरूप भाषा में भी नए शब्दों, वाक्यों, अभिव्यक्तियों और वाक्य संयोजन की विधियों का समावेश हुआ है।

इस सबसे हिंदी भाषा के सामर्थ्य में वृद्धि हुई है। संचार माध्यम यदि आज के आदमी को पूरी दुनिया से जोड़ते हैं तो वे ऐसा भाषा के द्वारा ही करते हैं। अतः संचार माध्यम की भाषा के रूप में प्रयुक्त होने पर हिन्दी समस्त ज्ञान-विज्ञान और आधुनिक विषयों से सहज ही जुड़ गयी है। वह अदालतनुमा कार्यक्रमों के रूप में सरकार और प्रशासन से प्रश्न पूछती है, विश्व जनमत का निर्माण करने के लिए बुद्धिजीवियों और जनता के विचारों के प्रकटीकरण और प्रसारण का आधार बनती है, सच्चाई का बयान करके समाज को अफवाहों से बचाती है, विकास योजनाओं के संबंध में जन शिक्षण का दायित्व निभाती है, घटनाचक्र और समाचारों का गहन विश्लेषण करती है तथा वस्तु की प्रकृति के अनुकूल विज्ञापन की रचना करके उपभोक्ता को उसकी अपनी भाषा में बाजार से चुनाव की सुविधा मुहैया कराती है। आज व्यवहार क्षेत्र की व्यापकता के कारण संचार माध्यमों के सहारे हिन्दी भाषा की भी संप्रेषण क्षमता का बहुमुखी विकास हो रहा है। हम देख सकते हैं कि राष्ट्रीय ही नहीं, विविध अंतर्राष्ट्रीय चैनलों में हिन्दी आज सब प्रकार के आधुनिक संदर्भों को व्यक्त करने के अपने सामर्थ्य को विश्व के समक्ष प्रमाणित कर रही है। अतः कहा जा सकता है कि वैश्विक संदर्भ में हिन्दी की वास्तविक शक्ति को उभारने में संचार माध्यमों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

एक तरफ साहित्य लेखन की भाषा आज भी संस्कृतनिष्ठ बनी हुई है तो दूसरी तरफ संचार माध्यम की भाषा ने जनभाषा का रूप धारण करके व्यापक जन स्वीकृति प्राप्त की है। समाचार विश्लेषण तक में कोडमिश्रित हिंदी का प्रयोग इसका प्रमुख उदाहरण है। इसी प्रकार पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, पारिवारिक, जासूसी,

वैज्ञानिक और हास्यप्रधान अनेक प्रकार के धारावाहिकों का प्रदर्शन विभिन्न चैनलों पर जिस हिन्दी में किया जा रहा है वह एकरूपी और एकरस नहीं है बल्कि विषय के अनुरूप उसमें अनेक प्रकार के व्यावहारिक भाषा रूपों या कोडों का मिश्रण उसे सहज जनस्वीकृत स्वरूप प्रदान कर रहा है। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि संचार माध्यमों के कारण हिन्दी भाषा बड़ी तेजी से तत्समता से सरलीकरण की ओर जा रही है। इससे उसे अखिल भारतीय ही नहीं, वैश्विक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक हिन्दी दुनिया में तीसरी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा थी परंतु आज स्थिति यह है कि वह दूसरी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा बन गई है तथा यदि हिन्दी जानने-समझने वाले हिन्दीतरभाषी देशी-विदेशी हिन्दी भाषा प्रयोक्ताओं को भी इसके साथ जोड़ लिया जाए तो हो सकता है कि हिन्दी दुनिया की प्रथम सर्वाधिक व्यवहृत भाषा सिद्ध हो। हिन्दी के इस वैश्विक विस्तार का बड़ा श्रेय भूमंडलीकरण और संचार माध्यमों के विस्तार को जाता है। यह कहना गलत न होगा कि संचार माध्यमों ने हिन्दी के जिस विविधतापूर्ण सर्वसमर्थ नए रूप का विकास किया है, यह नई हिन्दी कुछ प्रतिशत अभिजात वर्ग के दिमागी शगल की भाषा नहीं बल्कि अनेकानेक बोलियों में व्यक्त होने वाले ग्रामीण भारत की नई संपर्क भाषा है। इस भारत तक पहुंचने के लिए बड़ी से बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भी हिन्दी और भारतीय भाषाओं का सहारा लेना पड़ रहा है।

हिन्दी के इस रूप विस्तार के मूल में यह तथ्य निहित है कि गतिशीलता हिन्दी का बुनियादी चरित्र है और हिन्दी अपनी लचीली प्रकृति के कारण स्वयं को सामाजिक आवश्यकताओं के लिए आसानी से बदल लेती है। इसी कारण हिन्दी के अनेक ऐसे

क्षेत्रीय रूप विकसित हो गए हैं, जिन पर उन क्षेत्रों की भाषा का प्रभाव साफ-साफ दिखाई देता है। ऐसे अवसरों पर हिन्दी व्याकरण और संरचना के प्रति अतिरिक्त सचेत नहीं रहती बल्कि पूरी सदृच्छा और उदारता के साथ इस प्रभाव को आत्मसात कर लेती है। यही प्रवृत्ति हिन्दी के निरंतर विकास का आधार है और जब तक यह प्रवृत्ति है तब तक हिन्दी का विकास रुक नहीं सकता। बाजारीकरण की अन्य कितने भी कारणों से निन्दा की जा सकती हो लेकिन यह मानना होगा कि उसने हिन्दी के लिए अनुकूल चुनौती प्रस्तुत की। बाजारीकरण ने आर्थिक उदारीकरण, सूचनाक्रांति तथा जीवनशैली के वैश्वीकरण की जो स्थितियां भारत की जनता के सामने रखी, इसमें संदेह नहीं कि उनमें पड़कर हिन्दी भाषा के अभिव्यक्ति कौशल का विकास ही हुआ। अभिव्यक्ति कौशल के विकास का अर्थ भाषा का विकास ही है।

यहां यह भी जोड़ा जा सकता है कि बाजारीकरण के साथ विकसित होती हुई हिन्दी की अभिव्यक्ति क्षमता भारतीयता के साथ जुड़ी हुई है। यदि इसका माध्यम अंग्रेजी हुई होती तो अंग्रेजियत का प्रचार होता। लेकिन आज प्रचार माध्यमों की भाषा हिन्दी होने के कारण वे भारतीय परिवार और सामाजिक संरचना की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसका अभिप्राय है कि हिन्दी का यह नया रूप बाजार सापेक्ष होते हुए भी संस्कृति निरपेक्ष नहीं है। विज्ञापनों से लेकर धारावाहिकों तक के विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि संचार माध्यमों की हिन्दी अंग्रेजी और अंग्रेजियत की छाया से मुक्त है और अपनी जड़ों से जुड़ी हुई है। अनुवाद को इसकी सीमा माना जा सकता है। फिर भी, कहा जा सकता है कि हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं ने बाजारवाद के खिलाफ उसी के एक अस्त्र बाजार के सहारे बड़ी फतह हासिल कर ली है। अंग्रेजी भले ही विश्व

भाषा हो, भारत में वह डेढ़-दो प्रतिशत की ही भाषा है। इसीलिए भारत के बाजार की भाषाएं भारतीय भाषाएं ही हो सकती हैं, अंग्रेजी नहीं। और उन सबमें हिन्दी की सार्वदेशिकता पहले ही सिद्ध हो चुकी है।

बाजार और हिन्दी की इस अनुकूलता का एक बड़ा उदाहरण यह हो सकता है कि पिछले पांच-सात वर्षों में संचार माध्यम पर हिन्दी के विज्ञापनों के अनुपात में सत्तर प्रतिशत उछाल आया है। इसका कारण भी साफ है। भारत रूपी इस बड़े बाजार में सबसे बड़ा उपभोक्ता वर्ग मध्य और निम्न समाज का है जिसकी समझ और आस्था अंग्रेजी की अपेक्षा अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा से अधिक प्रभावित होती है। इस नए भाषिक परिवेश में विभिन्न संचार माध्यमों की भूमिका केंद्रीय हो गई है।

हम देख सकते हैं कि इधर हिन्दी पत्रकारिता का स्वरूप बदल गया है। अनेक पत्रिकाएं यद्यपि बंद हुई हैं परंतु अनेक नई पत्रिकाएं नए रूपाकार में शुरू भी हुई हैं। आज हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में हिन्दी और हिन्दीतर राज्यों का अंतर मिटता जा रहा है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का पाठक वर्ग तो संपूर्ण देश में है ही, उनका प्रकाशन भी देशभर से हो रहा है। डिजिटल तकनीक और बहुरंगे चित्रों के प्रकाशन की सुविधा ने हिन्दी पत्रकारिता जगत को आमूल परिवर्तित कर दिया है।

इसी के साथ यह भी स्मरणीय है कि प्रकाशन जगत में भी वैश्वीकरण के साथ जुड़ी नई तकनीक के कारण मूलभूत क्रांति संभव हो सकी है। विभिन्न आयु और रुचियों के पाठकों के लिए हिन्दी में विविध प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हो रहा है तथा मनोरंजन, ज्ञान, शिक्षा और परस्पर व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में उसका विस्तार हो रहा है।

रेडियो तो हिन्दी और भारतीय भाषाओं का प्रयोग करने वाला माध्यम रहा ही है,

प्रसन्नता की बात यह है कि टेलीविजन बहुत थोड़े समय के भीतर ही हिन्दी-माध्यम बन गया है। प्रतिदिन होने वाले सर्वेक्षण इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के कार्यक्रम चाहे किसी भी विषय से संबंधित हों, देशभर में सर्वाधिक देखे जाते हैं, अर्थात् व्यावसायिकता की दृष्टि से हिन्दी संचार माध्यमों के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र उपलब्ध कराती है। यही कारण है कि अंग्रेजी के तमाम, जानकारीपूर्ण और मनोरंजनात्मक दोनों प्रकार के, कार्यक्रम हिन्दी में डब करके प्रसारित करने की बाढ़-सी आ गई है। इससे अन्य भारतीय भाषाओं में भी उनके अनुवाद में सुविधा होती है। कहना न होगा कि टेलीविजन ने इस तरह हिन्दी के भाषावैविध्य और संप्रेषण क्षमता को सर्वथा नई दिशाएं प्रदान की हैं।

इसी प्रकार फिल्म के माध्यम से भी हिन्दी को वैश्विक स्तर पर सम्मान प्राप्त हो रहा है। आज अनेक फिल्मकार भारत ही नहीं यूरोप, अमेरिका और खाड़ी देशों के अपने दर्शकों को ध्यान में रखकर फिल्में बना रहे हैं और हिन्दी सिनेमा ऑस्कर

तक पहुंच रहा है। दुनिया की संस्कृतियों को निकट लाने के क्षेत्र में निश्चय ही इस संचार माध्यम का योगदान चमत्कार कर सकता है। यदि मनोरंजन और अर्थ उत्पादन के साथ-साथ सार्थकता का भी ध्यान रखा जाए तो सिनेमा सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि सिनेमा ने हिंदी की लोकप्रियता भी बढ़ाई है और व्यावहारिकता भी।

यहां यदि मोबाइल और कंप्यूटर की संचार क्रांति की चर्चा न की जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। ये ऐसे माध्यम हैं, जिन्होंने दुनिया को सचमुच मनुष्य की मुट्ठी में कर दिया है। सूचना, समाचार और संवाद प्रेषण के लिए इन्होंने हिन्दी को विकल्प के रूप में विकसित करके संचार-तकनीक को तो समृद्ध किया ही है, हिन्दी को भी समृद्धतर बनाया है। इसी प्रकार इंटरनेट और वेबसाइट की सुविधा ने पत्र-पत्रिकाओं के ई-संस्करण तथा पूर्णतः ऑनलाइन पत्र-पत्रिकाएं उपलब्ध कराकर सर्वथा नई दुनिया के दरवाजे खोज दिए हैं। आज हिन्दी की अनेक पत्रिकाएं इस रूप में

विश्वभर में कहीं भी कभी भी सुलभ हैं तथा अब हर प्रकार की जानकारी इंटरनेट पर हिन्दी में प्राप्त होने लगी है। इस तरह हिन्दी भाषा ने 'बाजार' और 'कंप्यूटर' दोनों की भाषा के रूप में अपना सामर्थ्य सिद्ध कर दिया है। भविष्य की विश्वभाषा की ये ही तो दो कसौटियां बताई जाती रही हैं!

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 21वीं शताब्दी में मुद्रित और इलेक्ट्रॉनिक दोनों ही प्रकार के जनसंचार माध्यम नए विकास के आयामों को छू रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा भी नई-नई चुनौतियां का सामना करने के लिए और शक्ति का अर्जन कर रही है।

संदर्भ

1. भारत का भूमंडलीकरण –अभय कुमार दूबे
2. भारतीय भाषा का बदलता स्वरूप ब्रिटिशराज से भूमंडलीकरण तक –अलोक कुमार
3. भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया –जगदीश्वर चतुर्वेदी
4. भूमंडलीकरण और मीडिया –कुमुद शर्मा

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बफीली आंधी	अलेक्सान्द्र पुश्किन	125.00
यामा, भाग-1	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
दर्व भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5,
शिवाजी मार्ग,
करतार नगर,
दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

बी. जी. तिलक की दृष्टि में गीता-रहस्य

शैलेन्द्र कुमार सिंह

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

बाल गंगाधर तिलक के अनुसार श्रीमद्भागवतगीता हमारे धर्मग्रंथों का एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-ज्ञानसहित आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में एवं स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, पुनः उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्य मात्र के पुरुषार्थ की (आध्यात्मिक पूर्णावस्था की) पहचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल कराके इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला तथा इसके द्वारा संसार से त्रस्त मनुष्य को शक्ति देकर उसे निष्काम कर्म (कर्तव्य) के आचरण में लगाने वाला गीता के समान सुगम्य एवं सरल ग्रंथ संस्कृत की कौन कहे समस्त संसार के साहित्य में भी नहीं मिल सकता। तिलक जी का मानना है कि यदि केवल काव्य की दृष्टि से ही इसकी परीक्षा की जाये, तो भी यह ग्रंथ विश्व के सर्वोत्तम काव्यों में गिना जा सकता है।

वास्तव में श्रीमद्भागवतगीता के महात्म्य का वर्णन वाणी द्वारा करना किसी के लिए भी संभव नहीं है, क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रंथ है। इसमें संपूर्ण वेदों का सार संग्रह किया गया है। इसीलिए माना जाता है कि “श्रीमद्भागवद्गीता” एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेश से खाली नहीं है।

वास्तव में देखा जाए तो गीता का उपदेश युद्ध के दौरान श्री¹ भगवान ने अर्जुन को उस समय दिया जब वह कर्म-अकर्म के जाल में फंसकर कर्तव्यव्युत्कृत होने लगे। अर्जुन ने उस समय अत्यंत ही कातर नेत्रों से भगवान की ओर देखते हुए कहा कि—“हे मधुसूदन जो साधन मेरे लिए निश्चित रूप से कल्याणकारक हो, वही कहिये।”² तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे पार्थ तेरा अधिकार सिर्फ कर्म करने का है, उसके फलों के विषय में सोचना तेरा अधिकार नहीं है। इसलिए तुम फलासक्ति रहित होकर कर्म का पालन करो। यदि तू इस धर्मयुक्त को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप का भागी बनेगा।³ इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय 47वें श्लोक में कहा कि—

“कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥”

उपरोक्त विवेचन के आधार पर तिलक जी का मानना है कि—“यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि गीता में पूर्णतः कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया गया है और कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के कारण ही इसे कर्मयोगशास्त्र भी कहा

जाता है। तिलकजी का मानना है कि जिस ग्रंथ में समस्त वैदिक-धर्म का सार स्वयं भगवान श्रीकृष्ण की वाणी से संगठित किया गया है उसकी योग्यता या विशेषता के संबंध में शंका प्रकट करना अपराध बोध सा है। चूंकि इसकी उत्पत्ति युद्ध के मैदान में कर्म-अकर्म के बीच फंसे किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को कर्तव्य बोध कराने के निमित्त हुई इसलिए इसे कर्मयोगशास्त्र कहना युक्तिसंगत ही है।

गीता पर उपलब्ध टीकाओं के आधार पर लोकमान्य तिलक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वे सभी गीता के यथार्थ रहस्य को उद्घाटित करने में असमर्थ हैं। इसी अभाव की पूर्ति हेतु उन्होंने मांडले जेल में “गीता रहस्य” नामक अनूठे ग्रंथ की रचना करके उसमें श्रीमद्भागवद्गीता की विशेषताओं को वर्णित करने का यथासंभव प्रयास किया। इसमें उन्होंने यह बतलाने की चेष्टा की है कि यद्यपि शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने रुचि वैमिन्न्य के कारण क्रमशः ज्ञानयोग एवं भक्तियोग को गीता की मुख्य शिक्षा बतलाया है। तिलक के अनुसार—“गीता में उपनिषदों के आधार पर ही ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है जिसमें वैदिक कर्मयोग धर्म का ही प्रधानता से प्रतिपादन किया गया है। जो कि सामान्य मनुष्यों के लिए आचरण में सुलभ तथा इहलोक एवं परलोक में श्रेयस्कर है। यद्यपि गीता में ज्ञानयोग एवं भक्तियोग पर आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि कर्मयोग ही श्रेयस्कर है। चूंकि कर्मयोग में बुद्धि की ही प्रधानता है, इसलिए ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से या परमेश्वर भक्ति से अपनी बुद्धि को साम्यावस्था में रखकर उसके द्वारा समस्त कर्मों के सम्पादन से ही मोक्ष-लाभ होता है। वस्तुतः कर्म संन्यास से जो मोक्ष मिलता है, वही इस कर्मयोग के पालन करने से भी मिलता है। अतः गीता का कर्मयोग संन्यास मार्ग का पूर्वांग नहीं है, किंतु ज्ञानोत्तर में ये दोनों मार्ग मोक्ष की दृष्टि से स्वतंत्र हैं।

तिलक के अनुसार अब यहां एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि कर्मयोग एवं कर्म-संन्यास दोनों ही स्वतंत्र रीति से मोक्षदायक हैं तो इन दोनों में श्रेष्ठ कौन सा है? गीता के पांचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि कर्म-संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों ही मार्ग निःश्रेयस्कर हैं, लेकिन इन दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता ही विशेष है। अर्थात्—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुमौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ 5.2

वाक्य पाये जाते हैं यथा—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु
कौशलम् ॥⁴

नियतंकुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धदकर्मणः ॥⁵

इन सबों के अतिरिक्त गीता के अठारहवें अध्याय के उपसंहार में कहा है कि—आसक्ति रहित होकर सभी कर्म करने चाहिए। यही मेरा निश्चित एवं उत्तम मत है।⁶ इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गीता में संन्यास मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता प्रदान की गयी है। अतः कर्मयोग का पालन करने में ही मानव-मात्र का कल्याण है।

‘कर्मयोग’ शब्द कर्म तथा योग के संयोग से मिलकर बना है। कर्म शब्द से भी अधिक भ्रमकारक शब्द योग है। यद्यपि देखा जाए तो योग शब्द ‘युज’ धातु से बना है। जिसका अर्थ जोड़, मेल-मिलाप, एकता, एकत्र, अवस्थिति आदि है। गीता में योग शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है। कि—“योगः कर्मसु कौशलम्।”⁷ अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई या शैली को ही योग कहते हैं। यदि सामान्यतः देखा जाए तो एक ही कर्म को करने के लिए अनेक प्रकार के योग होते हैं। परंतु उनमें से जो साधन उत्तम हो उसी को योग कहते हैं। यथा—अर्थोपार्जन करने के अनेक साधन हैं यथा—चोरी करना, भीख मांगना, जालसाजी करना, सेवा करना, ऋण लेना, परिश्रम करना आदि। अब धातु के अर्थानुसार इनमें से हरेक को ‘योग कह सकते हैं, लेकिन अर्थोपार्जन-योग उसी उपाय को कह सकते हैं, जिससे हम अपनी स्वतंत्रता कायम रखते हुए मेहनत करके धन प्राप्त कर सकें।

उपरोक्त विवेचन से भी स्पष्ट होता है कि गीता में योग का प्रधान अर्थ कर्मयोग है। यहां यह भी ध्यातव्य हो कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में, जो अध्याय समाप्रदर्शक संकल्प है, उसमें भी साफ-साफ कहा गया है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य

विषय ‘कर्मयोगशास्त्र’ ही है। आरंभ के दोनों पदों—“श्रीमद्भागवद्गीतासु उपनिषत्सु” और भी जोड़े गये हैं। पहले दो शब्द का अर्थ—“भगवान के द्वारा गाये गये उपनिषद् में” तथा दूसरे दो शब्दों का अर्थ “ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र” या “कर्मयोगशास्त्र” है जो कि इस गीता का मुख्य विषय है। ब्रह्मविद्या के प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष के लिए दो मार्ग खुल जाता है। एक सांख्य अथवा संन्यास-मार्ग अर्थात् वह मार्ग जिसका ज्ञान होने पर मनुष्यकर्म करना छोड़कर विरक्त या संन्यास जीवन जीता है। दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग, अर्थात् वह मार्ग जिसमें कर्मों का त्याग न करके ऐसी युक्ति से नित्य कर्म करते रहना चाहिए। जिससे मोक्ष-प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। पहले मार्ग का दूसरा नाम ‘ज्ञाननिष्ठा’ है जिसका वर्णन अनेक ऋषि-मनीषियों ने उपनिषदों में किया परंतु ब्रह्मविद्या के अंतर्गत ‘कर्मयोग’ का तात्त्विक विवेचन श्री मद्भागवद्गीता के अलावा अन्य किसी भी ग्रंथ में नहीं है। कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने ही किया है। जो इस योगमार्ग के प्रवर्तक और सब योगों के योगेश्वर हैं। गीता के ‘योग’ और ‘योगशास्त्र’ शब्दों से ‘कर्मयोग’ और ‘कर्मयोगशास्त्र’ कुछ विस्तृत अवश्य है, परंतु तिलक का कहना कि कर्मयोगशास्त्र सरीखा बड़ा नाम ही इस ग्रंथ को देना इसलिए भी जरूरी है, ताकि गीता के प्रतिपाद्य विषय संबंध में कुछ भी संदेह न रह जाये।

कर्मयोग के कुछ अर्थ इस प्रकार से हैं। यथा प्रथमतः ज्ञान हो या न हो किंतु चातुर्वर्ण्य के यज्ञयागदि कर्म या श्रुतिस्मृति-वर्णित कर्म से ही मोक्ष मिलता है। द्वितीयतः चित्त-शुद्धि के लिए किया गया कर्म ही कर्मयोग है। गीता में वर्णित कर्मयोग इससे भिन्न नहीं है। तृतीयतः ज्ञानी मनुष्य को चातुर्वर्ण्य के समस्त कर्म निष्काम बुद्धि से मृत्यु पर्यन्त करना ही चाहिए। गीता के 3/25⁸ में कर्मयोग शब्द का यही अर्थ है। यह कर्मयोग संन्यास मार्ग का पूर्वांग कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कर्म कभी छूटते ही नहीं हैं।

गीता की विशेषताएं

गीता में कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है तथा कर्म को प्रधान माना गया है जिस कारण इसे कर्मयोगशास्त्र कहा जा सकता है। इसमें ब्रह्मविद्या, नैतिक नियमों एवं योगशास्त्र की अनुपम विधि से विवेचना की गई है। इसमें धार्मिक एवं दार्शनिक विचार इतने सुव्यवस्थित रूप में वर्णित हैं कि यदि इसे समग्र हिन्दू धर्म का आधार कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इन सब के अलावा मोहग्रस्त अर्जुन को युद्ध के मैदान में दिया गया उपदेश अत्यंत ही सार्वभौमिक एवं व्यावहारिक है। अंततः देखा जाए तो इसका मुख्य विषय लोक-कल्याण है जिसकी प्राप्ति कर्म के द्वारा करने के लिए कहा गया है।

कहना ना होगा कि इस दृष्टिकोण से तिलक जी की गीता-व्याख्या अत्यंत ही संगत एवं युगानुरूप है। भारतीय दार्शनिक चिंतन में तो इसका अद्वितीय स्थान है। आज विश्व में छाए अज्ञान एवं अकर्मण्यता के तिमिर के अच्छेपन हेतु इनका यह “कर्मयोगशास्त्र” या गीतारहस्यम् गीता का पत्थर साबित हो रहा है। तिलक के इस कर्मठ एवं आशावादी दर्शन ने परवर्ती भारतीय चिंतकों श्री अरविन्द, गांधी एवं टैगोर को एक स्वस्थ तथा सकारात्मक जीवन-दर्शन विकसित करने की प्रेरणा दी।

संदर्भ

1. अन्तर्यामी भगवान कृष्ण
2. गीता, 2/7
3. गीता, 2/34
4. गीता, 2/50
5. गीता, 3/8
6. गीता, 18/6-7
7. गीता, 2/50
8. गीता, 3/25

शोधप्रज्ञ

सिधु कानू मुर्मु विश्वविद्यालय
दुमका

विकास प्रशासन की अवधारणा

राजीव रंजन वर्मा

यह प्रचलित मत है कि विकास प्रशासन की संकल्पना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक विकासशील देशों के उदय के साथ विकसित हुई यह केवल आंशिक सत्य है। इस संकल्पना में व्यापक अर्थ निहित है और इसका जो विकास हुआ है वह विकासशील देशों की स्थितियों तक ही सीमित नहीं है। इस संकल्पना का उल्लेख जैसे आपको 1950 के दशक के मध्य में प्रकाशित “इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन” के प्रारम्भिक अंकों में मिलेगा। इसका नियमित प्रयोग 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में शुरू हुआ। फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की नई नीति के अधीन स्थापित बड़े पैमाने के अमेरिकी लोक निगम “टेनेसी वैली ऑथोरिटी” से प्राप्त अनुभव को भी “विकास प्रशासन” की संज्ञा दी गई थी। और बाद में कई प्रशासनिक अनुभवों को, विशेषकर विकासशील देशों से संबंधित अनुभवों को, “विकास प्रशासन” शीर्षक के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। विकासशील देश अपनी प्रशासनिक क्षमताओं को उन्नत करने की समस्याओं के बारे में चिन्तित थे ताकि वे विकासात्मक उद्देश्य के लिए प्राप्त विदेशी सहायता का उपयोग अधिक विवेक पूर्ण ढंग से कर सकें। इस प्रकार विकास प्रशासन की अवधारणा के विकास में बहुत से कारक सहायक रहे हैं।

विकास प्रशासन के तत्त्व: एडवर्ड वाइडनर ने 1962 में विकास प्रशासन को “लक्ष्य अभिमुखी” और “परिवर्तन अभिमुखी” प्रशासन के रूप में निरूपित किया था। वाइडनर के अनुसार, विकास प्रशासन का संबंध विकास के लिए अधिक से अधिक नवीन प्रयोग करने से है। रिग्स के अनुसार, विकास प्रशासन उन कार्यक्रमों और परियोजनाओं को पूरा करने के संगठित प्रयासों से संबंधित है, जो विकास के उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित किए जाते हैं। मार्टिन लैंड्यू के लिए तो विकास प्रशासन का अर्थ सामाजिक परिवर्तन लाने की कोशिश से है। वे इसे निर्देशात्मक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, जो समय-समय पर एक निश्चित तरीके से कार्य संपादन की उम्मीद कर सकते हैं।

कई अन्य विद्वानों ने भी इस संकल्पना को परिभाषित और परिष्कृत किया है। समय के साथ इसके अर्थ का भी विस्तार हुआ है। इस कारण विकास प्रशासन की संकल्पना की ठीक-ठीक और सुस्पष्ट परिभाषा देना कठिन है। ज्यादा से ज्यादा यह समझने की कोशिश कर सकते हैं कि इस शब्द (विकास प्रशासन) का आज के प्रयोग के अनुसार क्या तात्पर्य या अर्थ है।

परिवर्तन अभिमुखीकरण: विकास प्रशासन परिवर्तन अभिमुखी प्रशासन है। परिवर्तन का अर्थ है किसी तंत्र या व्यवस्था का एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर गतिमान होना। परिवर्तन का विलोम है-यथापूर्व स्थिति अथवा “जड़ता”। इसलिए विकास का प्रशासनिक तंत्र गतिशील या परिवर्तनशील होता है, निश्चल या गतिहीन नहीं। विकास प्रशासन का अपना दर्शन है कि मूल्य

बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन प्रशासनिक तंत्र के लिए अपने बाहरी वातावरण का सामना करने की क्षमता बढ़ाने की एक कार्य-नीति है। इसके साथ ही यह परिवर्तन इसके आंतरिक ढांचे को क्रियाशील बनाने का साधन भी है।

लक्ष्य अभिमुखीकरण: वाइडनर की परिभाषा के अनुसार विकास प्रशासन “लक्ष्य अभिमुखी” प्रशासन है। कोई भी यह सीधा-सादा सवाल उठा सकता है कि क्या हर कोई प्रशासनिक प्रणाली अनिवार्यतः लक्ष्य अभिमुखी नहीं है। क्या हम प्रशासन की यह परिभाषा नहीं देते हैं कि यह एक सामूहिक मानवीय क्रियाकलाप है, जिसका उद्देश्य कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति है? हाँ, यह सही है कि सभी प्रशासनिक प्रणालियाँ इस प्रकार लक्ष्य-अभिमुखी हैं। फिर भी सामान्य लोक प्रशासन और विकास प्रशासन में अंतर यह है कि विकास प्रशासन का मुख्य ध्यान अधिक व्यवस्थित ढंग से लक्ष्यों की प्राप्ति पर है। दूसरे शब्दों में, विकास प्रशासन लोक प्रशासन का वह पहलू है, जो मुख्य रूप से लक्ष्याभिमुखी है। और जैसा कि वाइडनर ने इंगित किया है कि ये सभी लक्ष्य स्वभावतः प्रगतिशील होते हैं। इस प्रकार विकास प्रशासन प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति से संबंधित है। लक्ष्यों की “प्रगतिशीलता” विकास प्रशासन का सर्वमान्य लक्षण है। यह हो सकता है कि जो एक समाज के लिए प्रगतिशील हो, वह किसी दूसरे समाज के लिए प्रगतिशील न हो। फिर भी इन लक्ष्यों के प्रगतिशील स्वभाव के संबंध में अधिकांश देशों, विशेषकर विकासशील देशों में, सामान्य सहमति दिखाई देती है।

राजनीतिक प्रणालियों में “प्रगतिवाद” का अर्थ होगा कि सरकार के कार्यों में ज्यादा से ज्यादा भाग लें, सहभागी हों। लोकतांत्रिक प्रणाली में “भाग लेने” या “सहभागी होने” का अर्थ होगा-दबाव समूहों, राजनीतिक दलों और चुनावों में स्वतंत्र मतदान को मजबूत बनाना तथा सरकारी मामलों को अधिक आदर प्रदान करना। दूसरी ओर, किसी सर्वसत्तात्मक देश में “सहभागिता” वास्तविक नहीं, अधिकतर प्रतीकात्मक या सांकेतिक होगी। परंतु दोनों प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों में बढ़ती हुई सहभागिता से सरकारी नीतियों, योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजना को बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने में आम आदमी की हिस्सेदारी अधिक होगी। इस लक्ष्य को प्राप्त करना बहुत कठिन है, खासकर प्रशासनिक तंत्र के लिए। फिर भी, विकास के प्रशासनिक तंत्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसी स्थितियाँ पैदा करें, जो विकास की प्रक्रिया में लोगों को अधिक सहभागी बनाने में सहायक हों। आर्थिक क्षेत्र में प्रगतिशील दृष्टि से तात्पर्य है कि आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी और आय तथा सम्पत्ति का न्यायसंगत वितरण होगा। इसमें आर्थिक न्याय की दृष्टि भी सम्मिलित है, जिसके अधीन समाज के सभी वर्गों को आर्थिक विकास के समान अवसर मिलेंगे।

सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रगतिशील दृष्टि से तात्पर्य है कि समाज के सभी वर्गों को शिक्षा दी जाएगी, स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त होंगी, समता और धर्म-निरपेक्षता के आधार पर सामाजिक न्याय मिलेगा और सभी सामाजिक समूहों को अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृति के विकास के अवसर प्राप्त होंगे। इस प्रकार विकास ऐसा प्रशासन है, जिसका उद्देश्य प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करना है।

नियोजन विकास प्रशासन के लिए अनिवार्य तो नहीं है, परंतु यह (नियोजन) लक्ष्याभिमुखी परिवर्तन की संपूर्ण प्रक्रिया का अत्यंत उपयोगी साधन है। भारतीय विद्वान, पाई पणन्दीकर, विकास प्रशासन को “नियोजित परिवर्तन” के प्रशासन के रूप में देखते हैं, जबकि वाइडनर का मत है कि विकास प्रशासन के लिए नियोजन एक आवश्यक शर्त हो भी सकती है और नहीं भी। लेकिन, यह सत्य है कि नियोजन एक ऐसी पद्धति है, जो मानवीय और भौतिक संसाधनों के अधिकतर उपयोग को सुसाध्य बनाती है। और निर्धन देशों में, जहाँ ये साधन दुर्लभ हैं, नियोजन का विशेष महत्व है। एक निश्चित अवधि में कुछ सुनिश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के कार्यक्रम के रूप में नियोजन समय तथा विकास की संपूर्ण प्रक्रिया को प्रभावी बनाने वाले साधनों के अधिकतम संभव उपयोग में सहायक होता है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि लगभग सभी विकासशील देशों ने सामाजिक-आर्थिक नियोजन को विकास की रणनीति के रूप में अपनाया है। यहाँ तक कि विकसित समाजवादी देश भी नियोजित विकास के रचनातंत्र पर बहुत भरोसा रख रहे हैं। इसके अतिरिक्त, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस जैसे पूँजीवादी विकसित राष्ट्रों में भी “निर्देशक नियोजन” किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

नवीनतावाद: समस्या समाधान के लिए विकास प्रशासन का रास्ता सिद्धान्तवादी और परम्परागत नहीं है। इसके बजाय यह उन नए ढाँचों, तरीकों, प्रक्रियाओं, नीतियों, योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं को

जानने और अपनाने पर बल देता है जो विकास के उद्देश्य को अधिकतम सरलता से प्राप्त करने में सहायक हों। प्रयोग और अंगीकरण विकास प्रशासन के प्रमाण चिन्ह हैं। भारत में जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (डी.आर.डी.ए.) और कमान्ड एरिया डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन (सी.ए.डी.ए.) जैसे संगठन तथा एकीकृत ग्रामीण कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.) और आदिवासी क्षेत्र विकास कार्यक्रम (टी.ए.डी.पी.) जैसे कार्यक्रम इन नवीनताओं के उदाहरण हैं। उसी प्रकार कम्प्यूटर्स का इस्तेमाल, जिला आयोजन, राष्ट्रीय शिक्षा नीति आदि विकास प्रक्रिया की सतत मौलिक पहुँच के उदाहरण हैं।

यह मौलिकता केवल संगठनात्मक स्तर तक सीमित नहीं है। प्रशासन में मौलिकता समूह स्तर तथा व्यक्तिगत स्तर पर भी संभव है और लक्ष्याभिमुखी परिवर्तन को प्रभावी बनाने में इसका कुल योगदान असीम हो सकता है। विकास के प्रशासनिक तंत्र पर एक ऐसा संगठनात्मक वातावरण बनाने की जिम्मेदारी है जो मौलिकता और नवीनता के अनुकूल हो।

संगठनात्मक प्रक्रियाओं में लचीलापन: सामान्यतया नौकरशाही प्रशासन को नियमोन्मुख प्रशासन का पर्याय माना जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि कोई भी नौकरशाही या प्रशासन पर्याप्त नियमावली के बिना कार्य नहीं कर सकता, यह भी सत्य है कि पूर्णता नियमोन्मुख प्रशासन नियमों को साधन की अपेक्षा साध्य मानने के जाल में भी फँस सकता है। ऐसा हठधर्मी मार्ग प्रशासनिक तंत्र को जकड़ा हुआ और कठोर बना सकता है और इस प्रकार प्रशासनिक तंत्र विकास को तीव्र गति देने के अयोग्य बन सकता है। विकासोन्मुख प्रशासन के लिए कार्य-संचालन में अनुकूलतम लचीलापन आवश्यक है। इस लचीलेपन में प्रशासक को कुछ अनोखी अथवा महत्वपूर्ण विशिष्ट प्रशासनिक परिस्थितियों में स्वविवेक से नियम लागू करने की स्वायत्तता होनी चाहिए। यद्यपि इसमें भी, लिए गए किसी भी निर्णय का उत्तरदायित्व प्रशासक पर ही होगा, तथापि संगठन के हित में प्रशासक को अपनी

श्रेष्ठतम् योग्यता व विवेकानुसार नियमावली को लागू करने में पर्याप्त छूट भी दी जायेगी। यह सही है कि इस तरह किसी भी विवेकाधीन अधिकार के दुरुपयोग का खतरा तो रहेगा, पर इस अल्प अपरिहार्य खतरे से विकास प्रशासन को (अपने कार्य करने हेतु अनुकूलतम) लचीला बनाने की प्रक्रिया में बाधा नहीं आनी चाहिए अन्यथा मौलिकता और नवीनता की आदर्श धारणाएँ केवल काल्पनिक कथाएँ (मिथक) बनकर रह जाएँगी।

उच्चकोटि की प्रेरणा: प्रेरणा प्राप्त कार्मिक किसी भी ऐसे संगठन की रीढ़ है जिसका उद्देश्य निश्चित प्रगतिशील लक्ष्यों की प्राप्ति हो। विकास के प्रशासनिक तंत्र को शीर्ष, मध्य व निचले सभी स्तरों पर अत्यंत प्रेरित कार्मिकों के दल की आवश्यकता होती है। ऐसे कार्मिकों को अभीष्ट प्रगतिशील लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए और उन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उनमें उच्चकोटि का उत्साह होना चाहिए। उन्हें अपने संकीर्ण निहित स्वार्थों अथवा सुखसाधनों के लिए समाज तथा संगठन के उच्चतम हितों की बलि नहीं देनी चाहिए।

विकास के प्रशासनिक संगठन में कार्यरत कार्मिकों को प्रेरित करने वाले कारक क्या हैं? मूलतः किसी भी ऐसे समूह पर जिसे लक्ष्यों की प्राप्ति का उत्तरदायित्व सौंपा गया हो, आवश्यकता-पूर्ति का नियम लागू होगा। विकास के प्रशासनिक कार्मिकों के लिए भी प्रेरणा के आधार वही रहेंगे, फिर भी इस समानता के होते हुए भी विकास तंत्र में परिवर्तन के उदान्त परिवर्तनशील लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कार्मिकों में अतिरिक्त उत्साह, अतिरिक्त समर्पण और वैसा ही अध्यवसाय होना चाहिए तथा यह परिलक्षित भी होना चाहिए। यदि प्रेरित लोगों का ऐसा संवर्ग बनाना संभव नहीं हुआ तो प्रशासन के रोजमर्रा के ढर्रे पर चलने की संभावना है जिससे केवल बहुत ही थोड़ा काम हो पाएगा।

यह एक कठिन सवाल है कि विकास के प्रशासनिक संगठनों को राह दिखाने और चलाने के लिए अत्यधिक प्रेरित लोग कैसे मिलें। फिर भी उचित प्रशिक्षण के

द्वारा योजनाबद्ध तरीके से व्यक्तियों और समूहों को इस तरह का बनाने का यथार्थ प्रयोग करने की कोशिश की जा सकती है। प्रेरित व्यक्तियों का एक नया वर्ग बनाने के लिए मनोवृत्ति परिवर्तन का व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रभावी ढंग से प्रयुक्त किया जा सकता है।

लाभ-भोगी अभिमुखीकरण: विकास प्रशासन का प्रशासनिक तंत्र लाभ-भोगी अभिमुखी प्रशासन है। इसका उद्देश्य उन्हीं लोगों को अपनी सेवाओं और उत्पादन का अधिकतम लाभ पहुँचाना है, जिनके लिए संगठन बनाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में विकास प्रशासन “जन केन्द्रित” प्रशासन है। यह अपने लाभ-भोगियों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देता है और अपने कार्यक्रम, नीतियों और कार्यकलापों को इन्हीं आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की कोशिश करता है।

यहाँ प्रेरणा के अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू का उल्लेख करना उपयुक्त होगा जो किसी भी “सेवा अभिमुखी” या “लाभ भोगी अभिमुखी” प्रशासन में सर्वोपरि है। इसे विस्तार प्रेरणा कहा जाता है जिसका अर्थ है लोगों को “मदद करने” की प्रेरणा। मैस्लो, हर्जबर्ग और मेक्कलेलैंड जैसे विद्वानों ने इस संवृत्ति का विशिष्ट उल्लेख नहीं किया है पर भारतीय सामाजिक मनोवैज्ञानिक इस महत्वपूर्ण संवृत्ति को जानने और इसका विशेष उल्लेख करने में सफल रहे हैं। विस्तार प्रेरणा की मान्यता यह है कि प्रत्येक मनुष्य में दूसरों के काम आने की इच्छा रहती है। लोगों में उनके समाजीकरण और अभिमुखीकरण के अनुसार इस विस्तार प्रेरणा की तीव्रता कम ज्यादा होती है। शायद यह कहने में विरोधाभास का अधिक खतरा नहीं है कि “लाभ-भोगी-अभिमुखी” प्रशासन में उच्चकोटि की विस्तार-प्रेरणा के कार्यकर्ता बहुत उपयोगी होंगे और वे संगठन में प्रतिक्रियाशीलता लाने के लिए प्रशासन को गतिशील बनाएंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि विकास का प्रशासनिक संगठन “प्रतिक्रियाशील” संगठन है। यह उन लोगों की आवश्यकताओं, इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं के प्रति प्रतिक्रियाशील है जिनको लाभ पहुँचाना इसका अभिप्राय है। प्रतिक्रियाशीलता एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी प्रशासनिक तंत्र के लिए लाभकारी है परन्तु विकास के प्रशासनिक तंत्र के सफल अस्तित्व हेतु यह तो मूलभूत आवश्यकता है।

सहभागिता: किसी भी समाज में प्रगतिशील राजनैतिक लक्ष्यों के लिए लोगों का सरकारी मामलों में अधिक भाग लेना अपेक्षित है। विकास के प्रशासनिक तंत्र की वास्तविक कार्यप्रणाली में सहभागिता की धारणा का महत्व और भी बढ़ जाता है। विकास प्रशासन में विकास कार्यक्रम बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने में लोगों अथवा लाभभोगियों का सहभागी होना निहित होता है। लक्ष्य निश्चित करने, उद्देश्य निर्धारित करने, योजनाएँ बनाने, कार्य की रणनीति तय करने, परियोजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए किए गए कार्यों का मूल्यांकन करने यानी सभी विकास प्रक्रियाओं में लाभभोगियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि भारत में विकास प्रशासन में ब्लाक स्तर और जिलास्तर आयोजन का महत्व बढ़ रहा है। लोगों की भागीदारी न केवल नीतियों और योजनाओं को यथार्थवादी तथा जमीन से जुड़ा हुआ बनाने में सहायक होती है, बल्कि यह भागीदारी जनशक्ति, समय और धन की न्यूनतम लागत पर विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में जनसहयोग और जन समर्थन को भी गति प्रदान करती है।

विकास कार्यक्रमों में लोगों की भागीदारी तीन बातों पर निर्भर है, यह हैं:

1. भागीदारी की योग्यता-यह योग्यता उनकी औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के स्तर पर निर्भर है।
2. भागीदारी की तत्परता-यह तत्परता व्यक्तियों, समूहों और समाज के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक ढाँचे पर निर्भर है।
3. सरकारी संगठनों द्वारा लोगों को भागीदारी के अवसर देना-अवसरों के अभाव में भागीदारी कम हो सकती है।

भागीदारी विकेन्द्रीकरण की एक महत्वपूर्ण सहगामिनी है। विकास का प्रशासनिक तंत्र कार्य व अधिकार सौंपने तथा राय-सलाह लेने की रणनीति का प्रभावी ढंग से उपयोग करता है और इस प्रकार प्रशासन को “आधार” उन्मुखी बनाता है। सरकारी अधिकारियों द्वारा लोगों का तत्पर सहयोग मांगा जाता है और सहयोग के

लिए उन्हें प्रेरित किया जाता है। यह सहयोग विकास प्रशासन की प्रक्रिया को सफल बनाने का एक प्रभावशाली साधन होता है।

प्रभावी एकीकरण: सामान्य विकासात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अधिकारियों और समूहों के दल को साथ-साथ लाने के लिए प्रशासनिक संगठन में एकीकरण करने की उच्चकोटि की क्षमता आवश्यक है। वस्तुतः उच्चकोटि का समन्वय या एकीकरण विकास प्रशासन की विशेषता है। यदि एकीकरण का स्तर नीचा है तो विकास के प्रतिफलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना रहेगी।

विकास की प्रशासनिक स्थिति में विभिन्न संगठनों और इकाइयों के बीच, विभिन्न पदों और कार्यकर्ताओं के बीच तथा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध संसाधनों के बीच, विभिन्न स्तरों पर समन्वय प्रभावी करना आवश्यक है। समन्वय के अभाव में संसाधनों की बरबादी और प्रभावशीलता की कमी ही होगी। जैसा कि सभी जानते हैं, हर विकासशील समाज विशिष्ट कार्यों को शुरू करने के लिए अपने आप को सुसज्जित करने हेतु ढाँचों की प्रचुरता का अनुभव करता है। परन्तु सामान्यतः होता यह है कि कार्यों और ढाँचे का विशिष्टीकरण बढ़ जाता है और इसमें वांछित समन्वय भी नहीं होता है। विशिष्टीकरण और समन्वय के बीच के इस अन्तर को “एकीकरण विलम्ब” कहा जाता है। फ्रेड रिंस उस समाज को “समपाश्वीय” कहते हैं जहाँ एकीकरण (समन्वय) का स्तर विभेदीकरण (विशिष्टीकरण) के स्तर से कम हो। “समपाश्वीय” समाज में-‘आई/डी’ (आई से तात्पर्य है इन्टीग्रेशन लैग यानी एकीकरण विलम्ब और ‘डी’ से तात्पर्य है डेवलपमेंट यानी विकास)।

संदर्भ

1. भारत में लोक प्रशासन - मधुसूदन त्रिपाठी
2. भारतीय लोक प्रशासन - शालीनी वाधवा
3. भारतीय लोक प्रशासन: सिद्धांत एवं व्यवहार - रघुवेन्द्र किशोर

शोधप्रज्ञ

वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय,
आरा

भारत में नगर स्वशासन

सुनील कुमार सिंह

नगरपालिका सुधार-विकास और कुशल प्रशासन के लिए संस्थागत परिवर्तन का मुद्दा कई कारणों से महत्वपूर्ण हो गया है। नगरों की आबादी में तेजी से हुई वृद्धि ने नई समस्याओं को जन्म दिया। ऐसा अनुभव किया जा रहा था कि नगरीकरण की चुनौतियों का सामना करने में एक मौलिक समस्या है। नगर स्तर पर क्षमता और प्रबंधकीय हुनरों का अभाव है। नगरपालिका प्रशासन की कई समस्याएँ हैं—अप्रासंगिक संरचना, नगर विकास अधिकारियों की बहुलता, नीति निर्धारक और कार्यपालक शाखाओं के बीच तनाव, राज्य सरकारों का अवांछनीय हस्तक्षेप और उपयुक्त योजना तथा विकास का अभाव। घनी आबादी वाले महानगरों जहाँ कई लोग झुग्गियों अथवा एक ही कमरा में रहते हैं, के विकास से सामाजिक तनाव का माहौल उत्पन्न हुआ है। तनावों और विवादों के निदान तथा उपयुक्त प्रबंधन के लिए व्यावहारिक स्थानीय संस्थागत ढाँचे की आवश्यकता होती है।

नब्बे के दशक में देश में उदारवाद और निजीकरण की संस्कृति के प्रवेश के साथ नगरपालिका प्रशासन में भी सुधार लाने के प्रयास प्रारम्भ हुए। इसके फलस्वरूप 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 पारित किया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य नगरीय स्वशासन को संवैधानिक आधार प्रदान करना था। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के मौलिक लक्षण हैं: त्रिस्तरीय नगरपालिका संस्थाएँ—नगर पंचायत, नगरपालिका परिषद और निगम (शहर की आबादी के अनुसार); अनुसूचित जाति/जनजाति तथा महिला जैसे कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण; एक सलाहकारी नगरपालिका कार्यसूची; जिलों तथा महानगरीय क्षेत्रों में योजना समितियों का गठन; राज्य चुनाव आयोग, राज्य वित्त आयोग का गठन, आदि। इस प्रकार 74वें संशोधन अधिनियम के माध्यम से नगरीय प्रशासन में कुछ हद तक संस्थागत एकरूपता लाने की कोशिश की गई है। लगभग सभी राज्यों ने इस अधिनियम को लागू करने के लिए आवश्यक कदम उठाये हैं।

शहरी स्थानीय स्वशासन की संरचना

74वें संविधान संशोधन के अंतर्गत स्थानीय नगरीय संस्थाओं के लिए तीन प्रकार की संरचनाओं का प्रावधान है:

- (i) नगर पंचायत (टाउन परिषद) - ऐसे परिवर्ती क्षेत्रों के लिए जो गाँवों का रूप छोड़कर शहरों का रूप धारण कर रहे हैं,

- (ii) 'नगर परिषद' छोटे शहरों के लिए, तथा

- (iii) बड़े शहरों के लिए नगर निगम।

जनगणना में दी गई नगर की परिभाषा के अलावा, हरियाणा के दस हजार से पचास हजार तक की आबादी वाले शहरों के लिए नगर पंचायतों, पचास हजार से पाँच लाख आबादी वाले शहरों के लिए नगर परिषदों तथा पाँच लाख से अधिक आबादी वाले शहरों के लिए नगर निगमों का गठन होगा। इसके अतिरिक्त नगरीय संस्थाओं के गठन में जनसंख्या के घनत्व, आन्तरिक संभावनाओं, गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार की प्रतिशतता तथा अन्य महत्वपूर्ण कारकों को भी ध्यान में रखा जायेगा। औद्योगिक शहर, जहाँ औद्योगिक इकाइयाँ शहरी सेवाएँ उपलब्ध कराती हैं, इसके अपवाद होंगे। नगरपालिका के आकार और जनसंख्या के मापदण्ड सभी राज्यों में एकसमान नहीं हैं। अधिनियम के तहत नगरीय संस्थाओं के आकार और रूप निर्धारित करने में राज्य सरकारों को विवेकाधिकार प्राप्त है। राज्यों में नगर निकायों के गठन के मापदण्डों में भी एकरूपता नहीं है।

'नगरीय संस्थाओं' के तीन वर्गों में वर्गीकरण का तात्पर्य यह है कि सभी संस्थाओं का गठन पूर्ण रूप से चुनाव के आधार पर होगा तथा इनका वर्गीकरण जनसंख्या, कार्यों, कर अधिकारों, राज्य सरकार के नियंत्रण की सीमा, कार्यपालिका तथा कार्मिक व्यवस्था के आधार पर होगा।

नगर परिषद, नगर पालिका और नगर निगम

74वें संशोधन अधिनियम के अनुसार प्रत्येक नगर पालिका में चुने हुए और मनोनीत दोनों प्रकार के सदस्य होंगे। मनोनीत सदस्यों के अंतर्गत निम्नलिखित श्रेणी के सदस्य होंगे: (i) वे सभी विधायक और सांसद जिनका चुनाव क्षेत्र सम्बन्धित नगर है, (ii) तीन लाख या उससे अधिक आबादी वाले नगर के वार्ड समितियों के अध्यक्ष, और (iii) मनोनीत विशेषज्ञ सदस्य जिन्हें मत देने का अधिकार नहीं होगा।

नगर निगम के सदस्यों को पार्षद कहा जाता है। पार्षदों का चुनाव सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। अलग-अलग राज्यों में परिषद का आकार भिन्न-भिन्न होता है। परिषद का आकार नगर की आबादी पर निर्भर करता है। इसमें

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए स्थानों के आरक्षण का प्रावधान है। समय-समय पर राज्य सरकार आरक्षित सीटों की संख्या निर्धारित करती है। परिषद का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है।

नगर निगम का सर्वोच्च पदाधिकारी महापौर या 'नगर प्रमुख' होता है। प्रत्येक वर्ष नगर निगम के सदस्यों में महापौर या नगर प्रमुख अध्यक्षता करता है और विचार-विमर्श के दौरान निगम पार्षदों का मार्गदर्शन करता है। वह निगम की बैठकों का संचालन करता है। वह निगम के सभी अभिलेखों को देख सकता है। अनेक प्रशासनिक मामलों पर वह आयुक्त से रिपोर्ट प्राप्त करता है। वह राज्य सरकार और निगमायुक्त के बीच में एक उचित कड़ी का कार्य करता है। इस प्रकार वह सभी प्रकार के विचार-विमर्श सम्बन्धी प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करता है। नगर निगम आयुक्त नगर निगम का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी होता है। उसे राज्य सरकार नियुक्त करती है। दिल्ली के नगर निगम के आयुक्त की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। उसका वेतन निगम कोष से दिया जाता है।

राज्य सरकार के द्वारा या निगम परिषद की सिफारिश पर इसका स्थानान्तरण भी किया जा सकता है। वह नगर निगम में प्रशासनिक व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी होता है तथा समस्त प्रशासनिक तन्त्र प्रत्यक्ष रूप से इसके अधीन होता है। वह निगम प्रशासन का आवश्यक मार्गदर्शन करता है। नगरपालिका आयुक्त के कार्य अनेक और विविध प्रकार के हैं। अधिनियम के अन्तर्गत प्रदत्त वह सभी प्रकार के कार्य करता है। वह परिषद की बैठकों में विचार-विमर्श में भाग लेता है। वह सभी प्रकार की सूचनाएँ उपलब्ध कराने में परिषद के सचिव की भूमिका अदा करता है। वह परिषद की

बैठकों में विचार-विमर्श के लिए भाग लेता है और इसे निगम परिषद में प्रस्तुत करता भी है। नगर निगम आयुक्त अपने कार्यालय के प्रत्येक सदस्य की व्यक्तिगत रिपोर्ट लिखता है। वह कर्मचारियों को अपराधों के लिए दण्ड देता है।

नगरपालिका परिषद राज्यों के नगर पालिका अधिनियम द्वारा शासित होती है। इसके सदस्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होते हैं -

1. पार्षद
2. पदेन सदस्य और
3. वरिष्ठ सदस्य

इसमें अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए सीटें आरक्षित होती हैं। ऐसी सीटों की संख्या समय-समय पर राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। इस परिषद का आकार नगर की आबादी पर निर्भर करता है। वरिष्ठ सदस्यों का चुनाव निर्वाचित सदस्य करते हैं। वरिष्ठ सदस्य, अध्यक्ष या उपाध्यक्ष नहीं हो सकते। नगरपालिका का कार्यकाल 3 से 5 वर्ष का है। नगरपरिषद अपने ही सदस्यों में से अध्यक्ष का चुनाव करती है। अध्यक्ष का पद प्रतिष्ठा का होता है।

अध्यक्ष विचार-सम्बन्धी कार्यों के साथ-साथ प्रशासनिक कार्य भी करता है। वह परिषद का प्रमुख होता है तथा उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह विचार-विमर्श के दौरान पार्षदों का मार्गदर्शन करता है। वह परिषद की बैठकों की कार्यवाही संचालित करता है। परिषद के किसी प्रकरण पर मत विभाजन में बराबर मतों की स्थिति में अध्यक्ष अपने निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता है। उसे नगरपालिका सम्बन्धी सभी अभिलेखों को देखने का अधिकार है। परिषद का अध्यक्ष ही परिषद के वित्तीय और कार्यकारी प्रशासन

पर सतर्कता रखता है। सरकार और परिषद के बीच सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार अध्यक्ष के माध्यम से होता है।

नगरपालिका का कार्यकारी अधिकारी कार्यकारिणी विभाग का प्रमुख होता है। राज्य सरकार तीन वर्षों के लिए नगरपालिका कार्यकारी अधिकारी की नियुक्ति करती है। नगरपालिका कार्यकारी अधिकारी के वेतन का भुगतान नगरपालिका निधि से होता है। राज्य सरकार या नगरपरिषद की सिफारिश पर नगर-पालिका कार्यकारी अधिकारी को बदला जा सकता है।

कार्यकारी अधिकारी कई प्रकार के कार्य करता है। वह परिषद और परिषद की समितियों की बैठकों में भाग लेता है। उसे उनमें भाग लेने और बोलने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु उसे किसी प्रकार के संकल्प प्रस्तुत करने या ऐसी बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होता। वह परिषद और समितियों की बैठकों में सचिव की भूमिका अदा करता है। वह विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक विभाग गठित करता है और उनमें नगरपालिका के कार्यों का वितरण करता है। वही स्टाफ के प्रत्येक सदस्य की व्यक्तिगत रिपोर्ट लिखता है। नगरपालिका कार्यकारी अधिकारी नगरपालिका कार्यालय और पालिका अभिलेखों का प्रभारी होता है। वह प्रत्येक वर्ष नगरपालिका का आंकलित बजट तैयार करता है। वह नगरपालिका का प्रशासनिक विवरण भी तैयार करता है। इस प्रकार नगरपालिका प्रशासन में कार्यकारी अधिकारी का पद बहुत ही कठिनाईयुक्त होने के साथ-साथ उत्तरदायित्वपूर्ण भी है।

वित्तीय व्यवस्था

74वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत योजना निर्माण के लिए दो योजना समितियों के गठन का प्रावधान है - एक जिला के लिए तथा दूसरी महानगरों के

लिए। इन समितियों के कार्य होंगे: (i) नगर योजना का निर्माण, (ii) पंचायतों और नगर निगमों के सामूहिक आर्थिक हितों की पहचान करना, (iii) भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन, (iv) आधुनिक संरचना और पारिस्थितिक संरक्षण को प्रोत्साहन देना। राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे जिला योजना के कार्यों की पहचान करके उन्हें इन समितियों को निर्दिष्ट कर दें। अगर इन कार्यों पर आर्थिक व्यय नगर निकायों की आय से अधिक होगा, तो इससे वित्तीय असंतुलन उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति से निबटने की जिम्मेवारी राज्य वित्त आयोग पर होती है। फिलहाल नगर विकास और नगर अनुरक्षण कार्यों को पृथक रखा गया है। इनको एकीकृत करने की आवश्यकता है। इसके पश्चात नगर योजना को नगरपालिका के अधीन कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक और विकल्प यह है कि विकास कार्यों को अन्य एजेंसियों (सरकारी और निजी) को सौंप दिया जाये।

जिला और महानगरीय योजना समितियों के गठन में पंचायत और नगर निगम के सदस्यों का बहुत अधिक वर्चस्व होता है। जिला योजना समितियों के कुल सदस्यों में 4/5 (80 प्रतिशत) सदस्य पंचायत के होते हैं। जबकि महानगर योजना समिति के दो-तिहाई सदस्य (67 प्रतिशत) इस श्रेणी के होते हैं। पंचायत और नगर निगम के सदस्यों की संख्या का निर्धारण कुल जनसंख्या में उनके अनुपात के आधार पर होता है। इसके कई तात्पर्य होते हैं:

(i) जिला योजना समिति में पंचायत के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, जबकि महानगरीय योजना समिति में नगरीय संस्था के सदस्यों की संख्या अधिक होती। इससे शहरी और ग्रामीण जनता के बीच संबंधों में तनाव आ सकता है।

(ii) इन समितियों में राज्य सरकार (और केन्द्र) के प्रतिनिधियों की संख्या कम होगी।

(iii) इन समितियों द्वारा तैयार की गई योजनाएँ राज्य सरकार के योजना आयोगों को प्रस्तुत की जायेंगी, अतः लोगों के मन में यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि दोनों संवैधानिक संस्थाओं को ऐसी एजेंसी के अधीन किया जा रहा है जिसका कोई संवैधानिक आधार नहीं है। नगर विकास योजना का राज्य के पंचवर्षीय योजनाओं के साथ एकीकरण होने पर उसे राज्य योजना के अनुशासन का पालन करना होगा। इससे संघ-राज्य संबंधों की तरह, राज्य-नगर निगम संबंधों में भी तनाव उत्पन्न होने की संभावनायें बढ़ जाएंगी।

(iv) इससे दोनों समितियों के कार्यों में तनाव, विवाद और परस्परव्यापन की समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी, क्योंकि दोनों के कार्यक्षेत्र एक ही होंगे।

सरकार की वर्तमान आर्थिक नीतियाँ उदारीकरण और अनियंत्रण की भावनाओं से प्रेरित हैं। अतः नगर संस्थाओं के द्वारा विकास के लिए वैकल्पिक संसाधनों को ढूँढ़ना अपेक्षित है। इसके लिए उनका विश्वसनीय होना आवश्यक है, अन्यथा बाजार उनकी योजनाओं को वित्तीय सहायता देने के लिए तैयार नहीं होगा। आज ये संस्थाएँ विश्वनीय नहीं हैं। अतः उन्हें सरकार के अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है जो आने वाले वज्रों में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती हैं।

74वें अधिनियम की 12वीं अनुसूची में नगर पालिका के कार्यों का उल्लेख तो है किन्तु कर-सूची का उल्लेख नहीं है। इसमें सिर्फ इस बात का उल्लेख है कि 73वें

संविधान संशोधन अधिनियम (पंचायतों के लिए) के लागू होने के एक वर्ष के अन्दर राज्य सरकार का राज्य वित्त आयोग (नगरपालिकाओं और पंचायतों के लिए सामूहिक रूप में) का गठन करना होगा। राज्य वित्त आयोग नगर निगमों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करने के बाद उन सिद्धान्तों का निर्धारण करेगा जिनके आधार पर राज्य सरकार द्वारा आरोपित और एकत्रित कुल करों, शुल्कों और चुंशियों को राज्य सरकार और नगर निगमों के बीच विभाजित किया जाएगा।

12वीं अनुसूची के अस्पष्ट होने के कारण राज्य वित्त आयोग के लिए नगरपालिका कर की उपयुक्त सूची प्रस्तुत करना मुश्किल हो जाता है। राज्य वित्त आयोग की संरचना को राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया है। इसके फलस्वरूप अधिकतर राज्य वित्त आयोगों (जैसे राजस्थान, हरियाणा) में सेनानिवृत्त अधिकारियों और राजनीतिज्ञों का ही वर्चस्व रहा है। ऐसी परिस्थिति में इनसे निष्पक्ष सिफारिशों की उम्मीद नहीं की जा सकती है। आयोग की सिफारिश निश्चित रूप से पक्षपातपूर्ण होगी। हाल में राज्यों में चुंगी समाप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इससे नगरपालिका की समस्याएँ बढ़ेंगी और वे अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए राज्यों पर अधिक निर्भर होंगी। अतः राज्य सरकार और नगरीय संस्थाओं के बीच नगर पालिका का वित्तीय प्रबंधन तनाव का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।

संदर्भ

1. प्राचीन भारत में नगर प्रशासन – शाहीद अहमद
2. भारतीय प्रशासन – पी.डी. शर्मा
3. भारतीय प्रशासन की कहानी – लीला दूबे
4. भारतीय स्थानीय प्रशासन – शालीनी वाधवा

शोधप्रज्ञ

वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय,
आरा

राष्ट्रीयता के विकास में सूचना विज्ञान की भूमिका

अर्चना प्रिया

मनुष्य एक सामाजिक तथा चेतन प्राणी है इसलिए उसके मस्तिष्क में समय-समय पर विचार उत्पन्न होते रहते हैं इन्हीं उत्पन्न विचारों को हम सूचना कहते हैं। सूचना शब्द का प्रयोग जानकारी, समझ, वृद्धि, प्रज्ञा, ज्ञान, तथ्य आदि के लिए भी किया जाता है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहने के कारण वह अपने विचारों का या सूचना को समाज के दूसरे व्यक्ति को पहुँचाना चाहता है। दूसरे व्यक्ति के समझ अपनी अभिव्यक्ति को प्रकट किए बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। ज्ञान विस्फोट ने सूचना विस्फोट को जन्म दिया है, अभिव्यक्ति को प्रकट करने के लिए व्यक्ति हाव-भाव, ध्वनि, या अङ्ग्रेज कुछ भी प्रयोग में ला सकता है। आज के युग में राष्ट्र के बहुमुखी विकास तथा समृद्धि के लिए सूचना एक सशक्त तथा उपयोगी संसाधन माना जाता है जिसकी प्रभावशीलता एवं उपयोगिता सर्वविदित है। किसी भी राष्ट्र का भविष्य उसके निष्ठावान एवं ज्ञानी नागरिकों पर निर्भर करती है। राष्ट्र का विकास, उसका उत्थान व सुरक्षित भविष्य के लिए आवश्यक है कि लोगों को सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक अनुसंधानों तथा उच्च स्तरीय शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाय। इसके लिए ज्ञान के युग में सूचना तंत्र की आवश्यकता प्रमुख है। ऐसे सभी क्रिया-कलापों तथा आयोजनों के लिए उपयुक्त समय पर, उपयुक्त सूचना की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पायगा जो कि अन्ततः राष्ट्र के विकास के लिए भी बाधक सिद्ध होगा इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति का विकास, समाज की प्रगति और राष्ट्र का विकास के लिए ज्ञान को सूचना आधारित ज्ञान बनाया जाय इसी कारण विश्व में सभी देश सूचना आधारित ज्ञान को वरीयता देते हैं। आज सूचना संपन्न राष्ट्र, सूचना विपन्न राष्ट्रों की तुलना में अत्याधिक विकसित एवं उन्नतिशील होते हैं जिसका मुख्य कारण अनुसंधान तथा वैज्ञानिक प्रगति होती है जिसमें सूचना की भूमिका अद्वितीय होती है।

सूचना विज्ञान, जो वर्तमान समय में बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान बनाता जा रहा है। इसे बिल्कुल एक नए बौद्धिक विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा है, इसका इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि सभ्यता का इतिहास। मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएँ ही सूचना विज्ञान की दिशाओं का निर्धारण करती हैं और यह निश्चित करती हैं कि सूचना विज्ञान का कार्य क्षेत्र क्या है। राष्ट्रीय विकास और मानव सभ्यता तथा समाज के नवनिर्माण में वैज्ञानिक

और तकनीकी सूचना का मुख्य योगदान है, सूचना एक अभिलेखीय ज्ञान है जो मनुष्य द्वारा अनुभव, प्रयोग और निरीक्षण द्वारा अर्जित किया जाता है। 20वीं शदी के प्रारंभिक चरण से ही विकसित देशों में विज्ञान और तकनीक के क्षेत्रों में सूचना के प्रभावशाली उपयोग को सामाजिक आर्थिक प्रगति के लिए एक अनिवार्य माध्यम स्वीकार किया गया है। आज कल शीघ्रताशीघ्र सूचना प्रदान करने के लिए सूचना सेवाओं में मशीनों का प्रयोग होने लगा है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का अधिकाधिक उपयोग सूचना-सेवाओं में किया जा रहा है। आज सारा विश्व सिमटकर एक ग्राम में तब्दील हो गया है। आज सूचना बंद मुट्ठी में कैद है। पलक झपकते ही सूचना विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच रही है। सूचना का प्रयोग ज्ञान, समझ, वृद्धि, तथ्य आदि के लिए भी किया जाता है। जब हम सूचना का उपयोग करते हैं तो हमारा लक्ष्य ज्ञान के उस अंश, विवरण और तथ्य तथा अभिप्राय से होता है जिससे हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं। सूचना निश्चित, विश्लेषित, सीमित, सुस्पष्ट और तत्कालीन निर्णय लेने, किसी स्थिति को सुलझाने, कोई दिशा प्राप्त करने में तुरन्त सहायक सिद्ध होती है।

ज्ञान विस्फोट ने सूचना विस्फोट को जन्म दिया है। आज सारे विश्व में ज्ञान की धारा बह रही है। मानव का सबसे बड़ा संसाधन ज्ञान हो गया है। विश्व नॉलेज पार्क के रूप में तब्दील हो गया है। व्यक्ति की प्यास ज्ञान पाने के साथ-साथ और भी ज्ञान पाने के लिए तेज होती जा रही है। ज्ञान ही वह सोपान है जिसपर सवार होकर व्यक्ति अपना व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। समाज की प्रगति हो सकती है। व्यक्ति और समाज की प्रगति होने से राष्ट्र का भी भविष्य संवर जाता है। अर्थात् सूचना आधारित ज्ञान राष्ट्रीयता के विकास की पहली शर्त है। राष्ट्र का विकास तभी हो सकता है जब नागरिक शिक्षित और कुशल हो। नागरिकों को प्रशिक्षित करने में ज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सूचना की आवश्यकता है। व्यक्ति सर्वोत्तम और शीघ्र सेवा के लिए तत्पर रहता है। आज के व्यस्त युग में, व्यक्ति के पास समय की कमी है। कम समय में वह अधिक पाना चाहता है। इस अभिलाषा में वह ज्ञान के नित्य नए-नए उपागम को ढूँढ़ता है। ज्ञान आधारित समाज में सूचना आधार का कार्य कर रही है। सूचना की उपयोगिता के कारण उसे शक्ति कहा जाने लगा है। देश में सूचना का उपयोग दूर-दराज के

क्षेत्रों को विकसित करने, तथा विकास का लाभ नीचले स्तर तक पहुँचाने के लिए किया जा रहा है। आज सूचना का उपयोग उत्पादन एवं प्रक्रिया दोनों में हो रहा है। औद्योगिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए, उत्पादन के साधनों का वैज्ञानिकरण आवश्यक है। सूचना तंत्र इस प्रक्रिया को सरल बनाता है।

वर्तमान शदी में अर्थ का बोलवाला है। विश्व आर्थिक रूप से समृद्ध और आर्थिक रूप से कमजोर दो समुहों में बँटा हुआ है। अर्थ जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित कर रहा है। व्यक्ति का विकास आर्थिक समृद्धि से जुड़ गया है। देश की सम्पन्नता आर्थिक वृद्धि दर से आँकी जा रही है। सूचना विज्ञान आर्थिक गतिविधियों की सूचना पलक झपकते एक जगह से दूसरे जगह पर पहुँचा रही है। आर्थिक गतिविधियाँ व्यक्ति के साथ-साथ देश को भी प्रभावित करती है। सूचना आधारित क्रिया-कलाप से आर्थिक समृद्धि को बल मिल रहा है। व्यक्ति का प्रत्येक क्रियाकलाप सूचना के गिरफ्त में आ गया है। आज इसकी पहुँच व्यक्ति के निजी क्षणों तक भी हो गया है। कुछ भी छिपा हुआ नहीं रह सकता है। सूचना विज्ञान व्यक्ति के प्रत्येक क्रियाकलाप और क्षेत्र में घुसपैठ कर गया है।

आज विश्व भर में ज्ञान का विस्फोट हो रहा है। मनुष्य ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नए-नए उपलब्धियों को हासिल करता जा रहा है। राष्ट्र की समृद्धि नागरिकों की समृद्धि पर आधारित होती है। मानव संसाधन सबसे बड़ी पूँजी होती है। संसाधनों की उपयोगिता ज्ञान पर आधारित है। ज्ञान की उपयोगिता तभी है जब वह सभी को सर्वसुलभ हो। ज्ञान की पहुँच प्रत्येक दरवाजे पर प्रत्येक व्यक्ति के पास होने से राष्ट्र शिक्षित, आत्मनिर्भर और शक्तिशाली बनेगा। ज्ञान की इस सर्वसुलभता सूचना तंत्र के प्रभावी, सरल और सस्ता बनाकर किया जा रहा है। आज सूचना राष्ट्रीय धरोहर के रूप में शामिल है। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार

को सूचना जानने का अधिकार के तहत कम किया जा रहा है। सूचना जानने का अधिकार वह हथियार है जिसका उपयोग व्यक्ति आज अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए कर रहा है। सूचना तंत्र राष्ट्र के राष्ट्रीयता को मजबूत करने के साथ-साथ अन्य देशों के साथ देश की राजनैतिक, सांस्कृतिक सम्बंधों को भी प्रभावित कर रहा है। सूचना के अभाव में समाज तथा राष्ट्र को विकसित एवं सशक्त होने में कठिनाई होती है।

वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी अनुसंधान के लिए सूचना अति आवश्यक है, आज विज्ञान का युग है सम्पूर्ण विश्व में विज्ञान प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। विज्ञान के क्षेत्र में हुई यह प्रगति वैज्ञानिकों द्वारा किये शोध का ही परिणाम है। शोधकर्ता एवं अनुसंधान कार्य में लगे हुए लोगो, संस्थाओं को सूचना सूक्ष्मतरंग रूप से तथा नवीनतरंग रूप से दिया जा रहा है। शोध एवं विकास कार्यक्रमों को प्रोत्साहन प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक उत्पादन से जुड़ा हुआ है क्योंकि अनुसंधान का संरक्षण सूचना द्वारा ही संभव होता है। अब तक किन-किन क्षेत्रों में अनुसंधान बाकी है और किन-किन क्षेत्रों में यह हो गया है इसकी जानकारी सूचना द्वारा ही प्राप्त की जाती है तथा इसे सुगमतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है।

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास कार्य उसमें हो रहे वैज्ञानिक एवं तकनीकी शोधों तथा उनके प्रयोग पर आधारित होता है। सूचना सेवा द्वारा वैज्ञानिकों शोधकर्ताओं, विशेषज्ञों, तकनीशियनों इंजीनियरों को अपने विषय के संबंध में अद्यतन जानकारी प्राप्त होती है।

व्यापार एवं उद्योगों में सूचनाओं की प्रमुखता स्थापित हो गयी है। व्यवसायी का उद्देश्य होता है कम से कम लागत में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना। इसके लिए उसे अन्य उत्पादनकर्ताओं तथा प्रतियोगी व्यवसायी का मुकाबला करना होता है। उत्पादनकर्ता को इसके लिए अनुसंधान और विकास पर ध्यान देना पड़ता है। उसकी

चिन्ता गुणवत्ता में वृद्धि और लागत में कटौती करके दूर की जा सकती है। इसके लिए अन्य उत्पादनकर्ताओं के उत्पादनों, उत्पादन के तरीकों और निर्माणकारी तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। ताकि वे अपने प्रतियोगी का मुकाबला कर सकें और अपने व्यवसाय को आगे बढ़ा सकें। इन सभी सूचनाओं के लिए उन्हें अपने प्रतिष्ठान में पुस्तकालय या सूचना केन्द्र की स्थापना करनी पड़ती है।

सूचना विज्ञान मुख्य रूप से इस बात से सम्बन्धित है कि मानव का विचार दूसरे मानव तक किस प्रकार पहुँच पाता है। किसी भी शिक्षा का आधार, उद्देश्य, ज्ञानार्थी को लाभ पहुँचाने के लिए ज्ञान का अर्जन है। भारत में स्वतंत्रता के बाद ही विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ है। अनुसंधान केन्द्र, राष्ट्रीय प्रयोगशाला, एवं विश्वविद्यालय में शोध के नए-नए विषय, औद्योगिक प्रतिष्ठानों में शोध एवं विकास कार्य इस दृष्टिकोण को पुष्ट करते हैं। इन सभी कार्यों में सहयोग देने एवं अनुसंधान कार्य को बढ़ावा देने के लिए सूचना विज्ञान की आवश्यकता निर्विवाद है। आज सूचना प्रौद्योगिकी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दस्तक दे दिया है और अपनी सत्ता स्थापित कर ली है।

Ref. Book

1. Rangathan S. R - Documentation and its facts (Asia publishing house, 1963, Bombay)
2. Guha B: -Documentation and information 1978 world press calcutta.
3. Agarwal S. N: -Editor, Library and information Science prespective.
4. Mukherji A. K: - Fundamentals of library and Documentation.
5. UNESCO Library for Library.
6. Hunt Roger and John Shelly: - Computer and Commonsense

M.Lib & Inf. Sc.

E-Governance in India—Social and Legal Issues

Dr. Raghwendra Kishor

Technology cannot work in isolation; it has to reach out to one and all. It is vital for citizens to receive the services they need when required at the minimum cost. A government should be able to handle information quickly and efficiently, be it monitoring project status or reaching out to people. The advent of Information Technology as a highly leveraged enabling tool for delivery of services in the public and private sector has now been universally recognized. Through the deployment of IT, existing government processes can be re-engineered to transform into government services based on paper less electronic mail for simple transaction. For more complex transaction the provision of fully interactive online services will, give the citizen access to government services with faster response at places and at times that are more convenient. These services include providing information, collecting taxes, granting licenses, paying grants and benefits, collecting and analysing statistics and procuring goods and services.

E-GOVERNANCE is the application of IT to the processes of governments functioning to bring about Simple Moral Accountable Responsive and Transport (SMART) governance that works better, costs less and is capable of fulfilling the citizen's need as never before. E-governance has been identified into four stages. The first stage is called 'E-foundation'. At this stage the basic infrastructure are set in place. Also, primary applications like LAN are implemented and information is created. The second stage is that of E-facilitation, which involves participation of the stakeholders, the government employee and the citizen. The E-business stage has desk-based transactions on the web. The fourth stage being E-commerce.

E-governance will therefore be defined as the use of IT for:

1. Efficient delivery of government services to citizens and business.
2. Better dissemination of government information.
3. Improved efficiency of government information.
4. Improved revenue collection and budgetary controls.

E-governance means to fundamentally change as to how the government operates and this implies a new set of responsibilities for the executive, legislature and citizenry.

Benefits of E-governance

1. E-governance provides integrated government services through a single window by re-engineering of government processes.
2. E-governance is capable of not only speeding up transactions but also transparent functioning.
3. E-governance can reduce the procedural and postal delays involved in current system. This might help control corruption and increase participation of people in policy decision process by improving the degrees of communication between government and public.
4. E-governance helps common man getting governed with minimum red tape and zero corruption.

States and their Projects

Andhra Pradesh

Andhra Pradesh has become a trendsetter in E-governance in work in India, examples of which include;

Andhra Pradesh State Wide Area Network (APSWAN)-for voice, data, and video communication,

CARD Project-for registering and preserving documents of immovable properties, transactions and related services,

Andhra Pradesh Development Monitoring System (APDMS)-combines GIS with data from remote sensing satellites, consisting of base maps of mandals and constituent revenue villages and habitations together with thematic data on the road network, community infrastructure, basic demographic data, soil and geomorphologic data, etc.

Public Domain Information System-enables citizens access to government information, Fully Automated Services of Transport (FAST), Secretariat Knowledge and Information Management System (SKIMS), MPHS-Data base for Development, Cyber Laws and Digital City.

Haryana

E-governance in Haryana is evolved with reengineering with state development processes on all development parameters, revenue collections, crime rate, key agricultural inputs, condition of irrigation facilities, status of power generation and distribution, social infrastructure etc. Digitized maps of Haryana will be used for providing GIS based services. Online Analytical Processing (OLAP) would be developed for planning and decision making. GIS shall be extensively used in integrating, analysing and visualizing different types of data for spatial planning, environmental protection, utility management, traffic regulation etc.

Madhya Pradesh

E-governance in Madhya Pradesh monitors the progress in all 52000 villages, blocks and districts through the use of GIS/MIS. The online voluminous data with reference will make it easier to access the information and take action accordingly.

Punjab

In Punjab, E-governance includes information about:

1. The department,
2. Procedures for the convenience of general public,
3. Application formats for the general public,
4. Status of the representations, grievances and application of general public, preferably in detail or at least in summary nature,
5. Waiting lists or the allotment lists maintained by the department,
6. Public notices, tender notices, recruitment notices, admission

notices or the Gazette Notifications, and

7. An interactive feedback system for sending e-mail queries to the departments and receiving answers.

Several database in GIS will be created and made available online to the other departments, public and panchayats, such as :

1. District Information System (DISNIC) containing village/ town database,
2. Courts Information System (COURTIS),
3. Assembly Information System (AIS), and
4. Computerized Rural Information System (CRISP).

Tamil Nadu

Development of a GIS database has progressed through digitization, which would act as decision making support system for all queries as all infrastructure including highways, underground pipes, schools and hospitals.

West Bengal

For a better Government citizen interface, several areas are included viz., vehicle registration, land records, birth and death registrations, employment exchanges, payment of excise duty, sales tax and local tax, electronic bill payment of water and electricity, computerization of health records, relevant information through internet, work of police and police stations, criminal justice etc. All-important government policies, acts, rules, regulations, notifications that have a direct bearing on public are made available through Internet or other suitable networks.

The Zilla Parishads will adopt GIS-based planning to establish a

District-wide network with Blocks/ Municipalities for speedy transmission of relevant data and information.

Kerala

Kerala RD Net networks 152 office blocks and provides regular updates of various activities undertaken in the state.

A Government Automation Project aimed at digitizing huge volumes of back data lying with the departments:

CARD: Automatic registration system.

FRIENDS-Aims at providing a single window for the citizens to remit their due at the same counter.

Himachal Pradesh

The Himachal Pradesh Government launched an ambitious programme-LOKMITRA-to bring E-governance to the people of the state. The Rs 40 lakh pilot project is extended to all districts through the net and statewide government intranet.

The objectives of the project are to provide easy access to information at the remotest corners of the state, redressal of complaints without having to visit the government offices. Citizens could also download government forms and obtain the addresses, telephone numbers and names of government officers.

Rajasthan

Rajasthan's E-governance projects include:

- (a) Raj-SWIFT-State wide intranet to facilitate data, text and e-mail between office of CM and all district collectors,
- (b) Rajnidhi Information kiosk project-proposed to function as

- a modern service delivery system,
- (c) Chief Minister's Information System to monitor various key activities of the state,
 - (d) Networking of Secretariat to inter connect more than a thousand rooms in the state government secretariat,
 - (e) Vikas Darpan-GIS based planning and decision support system.

Delhi

Delhi government sales tax department is one of the first in the country to be fully wired. The process of registration, filing and processing of returns, details of tax deduction and receipt of forms etc. has been fully computerized. The modules dealing with the assessment, recovery, law and justice and personal information system are implemented. The general public as well as the taxpayers can file grievances. All the branches of the excise department have been networked. Present status of Automation is:

- (a) Automatic Vehicle Tracking System (AVTS) using GPS and GIS,
- (b) DTC Website-giving important information to commuters like bus routes, details of pass centres, pass application forms.

Maharashtra

TCS has developed an integrated Information System for the Sales Tax Department of Maharashtra, a voucher level computerization system for offices.

Tata Info Tech has set up a Driver License System in Maharashtra, which lessen the time, and corruption in the process significantly.

Thus, NASSCOM'S analysis of

E-governance implementation undertaken in 10 key states revealed that the southern states of A.P., Kerala and Tamil Nadu are leading in terms of implementating projects at different citizens. Government interface points others like Maharashtra, M.P., west Bengal and Rajasthan are catching up fast.

Challenge

E-governance market in India is gaining traction but there are challenges, which are stalling its progress. Despite the islands of excellence, E-governance has not been able to make rapid progress due to several operational, economic, personnel planning and implementation issues. E-governance in India has also focused heavily towards investing in hardware and very little on developing software and services, which could maximize hardware investments.

Meaningful E-governance in India is unlikely before 2010. India is in the picture due to slow response to cyber culture. When considering major social intervention for E-governance-developing social work practice, developing administration, and developing support communication all having a coordinating role. There is a general idea in the mind of bureaucrats that services should be at nominal rates. Selling up E-governance system in place will cost the government some money. This makes the service a bit more expensive than what it would cost by following normal procedure. Moreover there is general resistance from the bureaucrats for implementing E-governance initiatives; the main reason being it will put an end to bribe taking. The present E-governance dishes out information just one way

about government policies with a lot of statistics. The recipient of information is not allowed to have a participatory role. Even the material provided is of outdated stuff clouded with bureaucratic jargons. In most states E-governance relies on private participation. Hence some government employees feel that E-governance would deprive them of power and status. They allege that this is nothing but handing over some of the functions of the government to the private sector. They also fear that this may reduce government jobs. So they are reluctant to take to E-governance.

The transition from governance to E-governance takes place beginning with a 'presence' phase followed by 'interaction', 'transaction', and 'transformation' phase. Unfortunately it believes that India is still in the earlier phase of its transition. Flexible demographic and geographic competition will eventually propel E-governance to prominence in India though the constraints are significant enough to stymie any immediate advances.

References

- Adonis, A. and Mulgan, G.: *Connecting each to all*, Washington, DC: A-P-T, 1994.
- Artherton, F.C.: *Can technology protect democracy?*, Washington, DC, Roosevelt Centre for American Policy Studies and Sage, 1987.
- Barber B.R.: *Strong democracy. Participatory politics for a new age*. Berkeley, University of California Press, 1984.
- Bell, D.: *The coming of post-industrial society. A venture in social forecasting*, New York, Basic Books, 1973.
- Bench-Capon, T.: *Knowledge-based systems and legal applications*, London, Academic Press, 1991.
- Benefits Agency: *One stop. Benefits Agency delivery*, Leeds, Benefits Agency, 1992.

Lecturer, Deptt. of Pol. Science,
MD College, Naubatpur, Patna

Bhakti Cult as a socio-Religious Reform Movement

Moon Arif Rahman

The establishment of Delhi Sultanate in northern India led to a prolonged and deeper contact between Hinduism and Islam. Both religions were influenced by each other and mutual exchange of ideas and thought took place. The Bhakti movement and Sufism provide the best example of the interaction between them.

The Bhakti movement and Sufism, the origin of both of which can be traced to a much earlier period, gained much popularity and acceptance during the 15th and 16th centuries. The two schools of religious thought have striking similarities. Both of these believed that salvation of the human soul is possible through a communion with the universal soul. This merger is possible only through intense devotion to a personal God. In the organizational framework too, the two movements bore likeness. Both believed that a guide (Guru or Peer) was needed to lead the seeker on to the path of spiritual salvation. Tolerant, liberal attitude towards other creeds, the principle of universal love and brotherhood, and opposition to inequality between man and man were common to both the religious movements.

The devotional worship of God with the ultimate object of attaining moksha or salvation is called Bhakti.¹ Its origin can be traced to very ancient times. In fact the cult of Bhakti is as old as the Indian religious tradition going back to prehistoric times of the Indus Valley Civilisation and culture. The Indus Valley Civilisation provides us with the earliest evidences of the worship of Shiva Pashupati. We find mention of Bhakti in the Vedas, Upanishads, the Epics and the Puranas. The Vedanta² attempts to resolve the mysteries of creation and explore the meaning and purpose of human life through metaphysical speculations. The Vedanta or the Upanishads³ which act as its feeders, do not present any single or consistent system of philosophy. Nevertheless, the crux of the Vedanta philosophy is the concept of the Creator and the Creation and soul; it revolves round two basic principles—the doctrine of rebirth or transmigration of the soul, and the theory of karma or 'law of deeds'. The relationship between soul and God is like the one which

exists between a part and the whole, between a drop of water and the ocean.⁴ Man is mortal but the soul is immortal; being a part and parcel of God, its ultimate object is to seek reunion with the latter and become one with God. This is what is meant by salvation (variously termed as mukti, moksha or nirvana) or liberation from the cycle of births and rebirths.

In Vedanta broadly three different ways of salvation of the soul have been prescribed which are not mutually exclusive. They are namely Gyan-Marga [path of knowledge], Karma-Marga [Path of action] and Bhakti-Marga [Path of devotion]. The Gyan-Marga lays stress on the acquisition of True knowledge or Enlightenment as a means to the attainment of mukti; Sankhya Darshan of Kapila recommends this method. The Karma-Marga, as recommended by Lord Krishna to Arjuna in the Bhagwadgita, calls for selfless or disinterested action (Karmayoga) for this purpose, whereas, the Bhakti-Marga suggests the devotional worship of God to be the easiest method to win His favours and seek reunion with Him after death.

Emphasis on the Gyan-Marga was laid particularly by Sankaracharya (788-820 A.D.). He preached the principle of Advaitavad or Monism. According to this theory there is only one Supreme Reality in the universe. All other phenomena are reflection of this Reality. The supreme soul or Brahma is the Reality while the world we live in is unreal. The only reason why the individual soul is tied on the cycle of birth and its rebirth is its love for physical world. Once it attains knowledge or realization it becomes free from this cycle and reunites with the universal soul. This is possible through following the Gyan-Marga, i.e. by studying the holy scriptures. Sankaracharya has rightly been called the saviour of modern Hinduism; he was also the founding father of the Bhakti movement Which found its way into the medieval period.

Gyan-Marga is the most difficult to adopt. It was good as an ideal but not practicable for an average man; that is why the succeeding preachers of the Vedanta philosophy substituted it by the Bhakti Marga 'to attract popular mind'

ad make Hinduism a dynamic force.⁵ An average man was illiterate hence he could not possibly take to the study of the scriptures. Sankara's monoism could not become very popular among common people but it found wide acceptance among the intellectuals.

The Alvars and Nayanars had been preaching the doctrine of Bhakti in the South since the early centuries of the Christian era. They were also active during the time of Sankara and were propagating the message of Bhakti through their compositions in Tamil.

The second great exponent of the Bhakti movement after Sankara, was Ramanuja (1017-1137). Some of the writers assign him the first position as the founding father of the movement, because, strictly speaking, it was he who showed preference to Bhakti over Gyan as the principal means of attaining salvation.

Ramanuja combined Advaitism of Sankara and the ideas of Alvars and Nayanars and propounded the doctrine of Vishisthadvaita or qualified Monism. He accepted the concept of a Supreme Reality. But while Sankara had not attributed any qualities to it (Nirguna) Ramanuja contended that the Supreme Reality had the attribute of daya or mercy. One could hope for salvation and mercy if he remained in faithful, devotion of this supreme Reality or God. He emphasised that God was the supreme Creator, Destroyer and Preserver of the universe, and the soul, though a part and parcel of the same divine force, was yet distinct from it; in his words, 'the soul, though of the same substance as God's and emitted from Him rather than created, can obtain bliss not in absorption but in existence near Him.'⁶

Ramanuja did not associate himself with the task of social reform. He offered two different paths for salvation of the soul – Bhakti and Prapatti. Bhakti or devotion was the path for high born whereas Prapatti or surrender was the path to be taken by the low borns. They could hope for salvation through complete surrender to God. It is interesting to note that the Bhakti cult from the 7th century A.D. developed as a natural corollary to the feudalism. The practice of Bhakti has similarity with the dependence of the tenants of the land owners. Just as the tenants offered and rendered various services to the landlord and then received land and protection as a kind of favour from him; a similar relationship came to be established between the individual and his God. Although Ramanuja did not renounce the caste system and by setting out two paths for the high and low sections tacitly conceded to it in principle, he at least offered a means to the low caste by which they could hope for salvation. This in itself is remarkable.

Nimbarkara and Madhvacharya who followed Ramanuja propagated their ideas in Maharashtra. They renounced rituals and supremacy of the Brahmins and preached a religion based on intense devotion to God by which Salvation could be attained.. Madhvacharya identified Krishna as an incarnation of Vishnu.

Ramananda who preached in the 14th century was the most important follower of Ramanuja. He served as a link between the early and the later Bhakti saints. He was the pioneer of the Bhakti movement in northern India and the founder of the Ramaite sect. He identified Rama as an incarnation of Vishnu and preached for his worship. He vehemently opposed

the supremacy of Brahmins to be the sole custodian of Hindu religion. He took an unequivocal stand against the caste system. He accepted as his disciples persons of low castes. From this period onwards a number of Bhakta saints were of low castes. Ramananda was the celebrated author of a very popular saying which runs as follows:-

Zat Paat Puchhe na koe, Har Ko bhaje so Har Ka hoe.

“None should ask a man of his caste; if one is devoted to God, one is owned by God and becomes one with Him”.

It is also worth recalling that he was the first B. reformer to throw open the gates of divine worship to the women and made disciples from among them. Two prominent among them were Padmavati and Surasari.

A large number of the mystics belonged to the traditional Saguna School which believed that God has many forms and attributes, that He manifests Himself in incarnations such as Rama and Krishna, and that His spirit is to be found in the idols and images worshipped at home and in temples.⁷ But the other trod a new path and formed Nirguna School, which believed in a God without form or attributes, but nevertheless merciful and responsive to human prayers. Its basic approach was by no means alien to Hindu Vedantic Philosophy, but there is no doubt that Islamic thought gave it a new form and strength gave.⁸

Dr. Romila distinguishes three phases in the Bhakti movement. The first phase was of Ramanuja and others who were mainly concerned with reform in religion. The second phase saw saints like Ramananda who besides religious reforms also stood for social reforms specially in the caste

system. The third phase started with the coming of Kabir, Nanak and others who tried to forge a better understanding between Hinduism and Islam through their teachings.

The ideas of Ramananda had great influence on the people. The subsequent Saints who were influenced by him were Kabir, Nanak, Raidas, Pipa, Dadu Dyal and others. These saints comprised the liberal school. The orthodox school had saints such as Tulsi Das and Nabha Das who were concerned with reforms in the religion only. The liberal school besides religious and social reforms also tried to bring about better understanding between the Hindus and the Muslims.

A quest for social Justice is clearly discernible in the Bhakti movement led by a galaxy of saints coming from different parts of the country and from all strata of society in medieval India. The saints – Kabir, Guru Nanak, Chaitanya, Jnaneshwar, Namdeo, Eknath, Tukaram and many others, male and female – were the prophets and pioneers of social and religious freedom. They showed a great independence of spirit. The first characteristic of their teaching is freedom from slavery to external authority.

Both Kabir and Nanak believed that the different religions varied only in their ritualistic aspect. The essence and spirit of all religions was common. They opposed the caste system. But there was one important difference in their approach. Kabir realised the evils of the society and condemned superstitions and wrong beliefs in the strongest possible terms. He was a keen critic. But he failed to evolve any constructive programme to deal with them. Kabir attacked caste system in no uncertain terms.

In one of his famous and oft-quoted passage he said:

“It is needless to ask of a saint the caste to which he belongs; The barber has sought God, the Washerman and the and the Carpenter. Even Raidas was a seeker after God. The Rishi Swapacha was a tanner by Caste. Hindus and Muslims alike have achieved that End, where remain no mark of distinction.” Kabir laid stress on religious toleration and taught a lesson of brotherhood to Hindus and Muslims.¹⁰ Kabir raised his voice against the custom of sati and child – marriage, the two evils which were purely social in character. Kabir preached to foster harmony between man and man, between Hinduism and Islam. He was extremely critical of gross inequities and social injustices practiced by both Hindus and Muslims. He was a great believer in the equality of mankind. For him, like Mahatma Gandhi, Truth and God were synonymous.¹¹ Kabir permeated the thought of most of the religious leaders after him, especially Nanak, for the Adi Granth not only recognises him as Mahatma but contains, many of his songs.

Guru Nanak's (1469-1538) teachings were identical with those of Kabir albeit Nanak was more revolutionary than the latter in his line of approach, and in the long run his efforts proved much more fruitful than those of all other bhakti reformers. Nanak said:¹²

“Religion does not consist in Patched Coat, of Yogi's staff or ashes smeared on body. Religion does not consist in mere words. He who looks on all men as equal is religious.” Nanak realised the necessity of change in the prevailing social and religious ethos and worked towards propagating his beliefs and ideas. He

condemned restriction on inter-dining between high and low castes. To remove this practice he introduced the system of ‘Langar’ or collective dining at his dehra among his full owners. This was a practical step to eradicate the evils of caste discrimination and untouchability from among his followers. This practice survives to this day among the Sikhs. Nanak believed that the differences between Hindus and Muslims could be best removed by propagating a set of ideas which would have an equal appeal to both the communities. From Islam he borrowed belief in monotheism and egalitarianism. From Hinduism he borrowed the metaphysics of the Upanishad and the Gita. The path he advocated was of Bhakti emphasising the worship of the name of God (Nam – Marga).

Another reason for the success of the religion enunciated by Nanak was his renunciation of asceticism. He advocated the following of Grihastha dharma which found popularity among the people. With Guru Nanak, the Bhakti movement did not remain merely a religious movement it became a movement for social change; it revolved against all social evils, caste system, untouchability and all other invidious distinction between man and man and man and woman.¹³ From the historical point of view the most significant contribution of the Bhakti movement came from Kabir and Nanak, who expressed the sentiments of the urban class in towns and of the artisans in the villages who were in contacts with the towns.¹⁴ Nanak has said, religion has two legs to stand upon compassion and contentment. But we did not final these two attitudes in our so called religionists.

The second important trait of the

poet saint's teaching was democratization of religion. Religion ceased to be the monopoly of priests and it was proclaimed to be the birth right of every man and woman. Before the appearance of the saints on the scene, religion belonged to a certain privileged class.

Janeshwar, originator of the Bhakti movement in Maharashtra, is reported to have remonstrated with the persecutors of saint Namdeo, a tailor by birth, in the following manner.¹⁵ "There was no high or low with God. All were alike to him. Never entertain the thought that I am high born, and my neighbour is low by birth. The Ganga is not polluted, nor is the wind tainted, nor the earth rendered untouchable, because the low born and high born bathe in the one, or breathe the other or move on the back of the third."

Jnaneshwar's revolt was not only against meaningless authority of priests, but also against classical and so-called sacred language Sanskrit. Against stiff Brahmanical opposition, Jnaneshwar wrote his immortal commentary on the Bhagwadgita in Marathi and destroyed the barrier between the common man and the learned few. His example was followed by all other saints in the region, many of whom rose from the so-called lower castes.¹⁶

The saint poet's freedom from caste prejudices is best illustrated in the following lines composed by Eknath.¹⁷ "They say that women and sudras belong to the low caste. But when you say that God dwells everywhere then is He not in the heart of a Sudra? Had not a sudra come from the same place as the Brahman? Is he not also composed of the same five elements? Has he no birth; has he no death? Eknath says : You are

misguided when you say that a sudra belongs to the lowest class."

Basveshwara, born a Brahman, laboured for social equality and propagated his egalitarian doctrine in Kannada, the language of common people. He ridiculed man-made caste barriers in the following verse:¹⁸ "Should I call Sirigola a banker? Machayya a Washerman? Chanayya a Cobbler? O Dear Sir, Kudala Sangayya will laugh if I call myself a Brahman."

It also needs to be stressed that the saints were absolutely free from any communal bias or Prejudices. Sant Tukaram, a contemporary of Shivani, who is revered by the entire Marathi speaking world, had also much love and respect to the name Allah as he had to his beloved Vithoba. This he has portrayed in the following lines.¹⁹ "First among the great name is Allah, never forget to respect it. Allah is verily one, the prophet is verily one, Thera Thou art one, there Thou art one, there Thou art one: O friend There is neither I nor thou.

The general ennobling impact of the work of saints, especially on the Maratha country, is aptly summed up by Justice M.G. Ranade as under:²⁰

It gave us a literature of considerable value in the vernacular language of the country. It modified the strictness of the old spirit of caste exclusiveness. It raised the Shudra classes to a position of spiritual power and social importance, almost equal to that of the Brahmans. It gave sanctity to the family relations, and raised the status of woman. It made the nation more humane, at the same time more prone to hold together by mutual toleration. It suggested and partly carried out a plan of reconciliation with the Mahomedans.

It subordinated the importance of rites and ceremonies, and of pilgrimages and fasts, and of learning and contemplation, to the higher excellence of worship by means of love and faith. It checked the excesses of polytheism. It tended in all these ways to raise the nation generally to a higher level of capacity both of thought and action Thus the approach of the saints poets was broadly humanistic and they emphasized the broadest human sentiments-the sentiment of love and beauty in all forms.

But inspite of a cluster of saints all committed more or less to the same goal the Bhakti movement failed to develop into a revolutionary movement and did not change the situation to any substantial degree. It has been argued that the old forms of religion continued almost unchanged. Nor was it possible to effect any major breach in the caste system. Also in course of time, the ideas of Nanak gave birth to a new creed, Sikhism, and the followers of Kabir shrank into a sect, the Kabir panthis. According to K.S. Lal their effort were gallant in themselves but instead of doing away with the divisions of the society what they actually achieved was a further division of society into a number of groups. The ideal of social cohesion could not be achieved. These movements failed to develop on lines similar to Buddhism or Jainism. However, one thing that needs to be kept in mind is that they worked in conditions very different to those under which Buddha had founded his religion. No patronage was extended to them by the sultans of the period. Many of these saints did not aim at founding a sect or religion parallel to Hinduism. They were content with

bringing about some social and religious reforms.

In spite of all the constraints, the success achieved by these religious preachers is remarkable. They could not end the caste system but they succeeded in creating consciousness against it. They softened its rigour and built a platform for unity which could be apprehended by wider sections. The low born people were given opportunity to practice their religious ideas. Rules of interdining and intermarriage were made less rigid to some extent. A remarkable contribution of these saints was in the growth of vernacular languages. They adopted the local language of the masses for preaching instead of using Sanskrit. Languages like, Bengali, Punjabi, Rajasthani etc. were enriched by their writings and compositions. They along with the Sufis were responsible for bringing the Hindus and the Muslims closer. And last but not least, the birth of Sikhism in the Punjab was the direct outcome of the Bhakti movement. Thus, people belonging to various sects and creeds could meet and understand each, and was the essential background to the ideas of Akbar and his concept of Tauhid or unity of all religions.

Today we have religion, but no faith; speed but no direction; passion but no compassion, over production but no equitable distribution; goods but not God. Homes are breaking up, there is a violence on the streets. Every new economic advances gives birth to a new moral pains. We have lost confidence in ourselves, identifying ourselves not with a creative giving and forgiving God but with the Devil and the others who determined how good or happy we could or should be. Mahatma Gandhi had a great admiration for the saints, and he rated

their work, in terms of its impact on the masses, even higher than that of the great Raja Rammohan Roy. For, he said that Chaitanya, Kabir, Nanak “Communicated with the people entirely in their own idiom, of language and of spirit, while much of Rammohan’s major work was but to the elite.” Commenting on Gandhiji’s observation, Prof. Hiren Mukherjee has made a significant observation: “However one may react to this (Gandhiji’s) view, it does seem a fact that our grandiloquently termed ‘Renaissance’ of the 19th century suffered from a kind of original sin, detachment from the grass roots of Indian life.”²¹

Notes and References

1. A Sanskrit word, derived from the root bhaj which means to ‘adore or worship’; one who adores God with devotion is a bhakta or devotee of God.
2. The term Vedanta is composed of two words, Veda and the anta; the latter implies ‘the end’, the close or conclusion of the Vedas as a Shruti or ‘revealed literature’. More precisely speaking, the Vedanta comprises the subject – matter of the Aranyakas or ‘the forest books’ and as many as 108 Upanishads.
3. According to Maurice Winternitz ‘the later philosophy of the Indians is rooted in the Upanishads ... all philosophical systems and religions which have arisen in the course of the centuries, the heretical Buddhism no less than the orthodox Brahmanical religion of the post-Buddhist period, have sprung from the soil of the Upanishad doctrine.’ – A History of Indian Literature, 2 vols (Calcutta, 1927-33), I, Sec revised ed; Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi, 1972, pp. 264-65.
4. Referred to as Monism; many and varied religious cults of the Hindus ultimately find their way to Monism or the concept of oneness of all life.
5. K.A. Nilakanta Sastri, Development of Religion in South India; Orient Longmans, 1963, pp. 83-89.
6. For details refer to Aiyangar S. Krishnaswamy, Sri Ramanujacharya, Natesan, Madras, & A.

Govindacharyasvamin, Life of Ramanuja, Madras, 1906.

7. The Gazetteer of India, History and Culture, volume two, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, New Delhi, Second edition, Feb.1988, p. 414.
8. Ibid. P414
9. Cited by K.L. Khandelwal, “Kabir Panth and its Social contents,” S.P. Sen(ed) Social Contents of Indian Religious Reform Movements, Inst. Of Historical Studies, Calcutta, 1978, 80-81.
10. For details refer to G.H. Westcott, Kabir and The Kabir Panth, 2nd ed, Calcutta, 1953.
11. Cited by K.L. Khandelwal, “Kabir Panth and its Social Contents,” S.P. Sen(ed) Social Contents of Indian Religious Reform Movements, Inst. of Historical Studies, Calcutta, 1978, 80-81.
12. Cited by Teja Singh and Ganda Singh, A Short History of the Sikhs (1469-1765), Vol.I, Orient Longman, Bombay, 1960, p.10.
13. Teja Singh and Ganda Singh op. cit, See also Buta Singh, The Dalits and Dalit Awakening in India, Gyan Pub. House, New Delhi, 2004, p.257, Sohan Singh Sahota, The Destiny of the Sikhs, Sterling Publications, New Delhi, 1971, pp. 51, 55, 59.
14. Dr. Romila Thapar, A History of India, Volume one, Penguin Books, Great Britain, 1981, p.308.
15. V.B. Kulkarni, India and Pakistan – A Historical Survey of Hindu-Muslim Relations, Jaico, Bombay, 1973, p.82.
16. Mahadeo Govind Ranade, Rise of the Maratha Power, Pub. Div. Ministry of I.B; Government of India, 1966, reprint, p.68.
17. Cited by V.B. Kulkarni, op. cit., p. 83.
18. Ibid., p.84.
19. V.B. Kulkarni, op. cit p. 83; see also abhangas 443 and 444 in Shri Tukarambawanchi Abhanganchi Gatha, Govt. of Bombay, Govt. Central Press, Mumbai, 1955, reprint, p.82.
20. M.G. Ranade, Rise of the Maratha Power, op. cit., p. 67.
21. Hiren Mukerjee, Indian Renaissance and Raja Rammohan Roy, University of Poona, Poona, 1975, p.31; see also Krishna Kripalani, “Rammohan Roy and Mahatma Gandhi”, B.P. Barua (ed) Raja Rammohan Roy And The New Learning, Orient Longman, Calcutta, 1988, pp.4-23.

Ph.D. UGC-NET

Formation of States (Mahajanpadas) in 600 BC

Pushpa Kumari

In the later Vedic period the tribal organizations changed its identity and gradually shifted to the territorial identity. This territorial identity was gradually strengthened in the 600 BC with the rise of large states. The formation of bigger kingdoms made the king or the chief more powerful. Tribal authority became territorial and towns became the seat of the power. Instead of copper weapons the kings started using iron weapons and horse drawn chariots. Therefore from the 6th century BC the widespread use of iron in eastern UP and western Bihar led to the formation of large territorial states.

The new agricultural tools and implements enabled the peasants to produce a good amount of surplus which not only met the military needs but also the administrative requirements. The people became content with these material advantages and started settling permanently in their land. Towns came into existence as centres of industry and trade. People owed their allegiance to the territory to which they belonged and not to the Jana or the tribe to which they belonged. These areas of settlements were now regarded as janapadas or states. In transition from tribe to monarchy, janapadas lost the essential democratic pattern of the tribe but retained the idea of government through an assembly representing the tribes. These states consisted of either a single tribe such as Shakyas, Koliyas, Mallas etc or a confederacy of tribes such as Vrijis, Yadavas, Panchalas etc. Each janapada or state tried to dominate and subjugate other janapada to become mahajanapadas

Mahajanapadas, literally "Great realms," were Ancient Indian kingdoms or countries. Ancient Buddhist texts like Anguttara Nikaya make frequent reference to sixteen great kingdoms and republics (*Solas Mahajanapadas*) which had evolved and flourished in the northern/northwestern parts of the Indian subcontinent prior to the rise of Buddhism in India.

Overview

The political structure of the ancient Indians appears to have started with semi-nomadic tribal units called Jana (meaning subjects). Early Vedic texts attest several Janas

or tribes of the Aryans, living in semi-nomadic tribal state, fighting among themselves and with other Non-Aryan tribes for cows, sheep and green pastures. These early Vedic Janas later coalesced into Janapadas of the Epic Age.

The end of the Vedic Age (1500 BC-600 BC) was followed by the rise of small kingdoms and republics in the northern parts of India and especially in the Gangetic plains of Bihar. These small states later paved the way for large empires. The entrenchment of the caste system, which divided the society between the rulers and the ruled, also facilitated the rise of these states.

The earlier Aryan societies in India were tribal in context. Tribal chiefs, whose office was not hereditary, ruled these tribes. The criterion of selection was the number of cattle (cows in particular) a person owned. Clans often fought with each other over the control of herds of cattle. As the population of the tribes grew, their needs and aspirations also began to rise. In the course of time, the erstwhile small settlements grew into large settlements and managing large tracts of land became a problem. Soon these societies saw the rise of a ruling class, which belonged to the Kshatriya (warrior class) caste.

The strength of the early Aryan tribes was derived from the Jana (people) and not the Janapada (land). During the latter part of the Later Vedic Age (1000 BC-600 BC), all this changed with the rising influence of the Kshatriya (warrior class) caste and the Brahmin caste (priestly class), which took the reigns of the society in their hands and marginalized the other castes. The Kshatriyas and Brahmins worked in tandem and began to exploit the people belonging to the lower castes.

However, there was also a rift between the Kshatriyas on one hand and the Brahmins on the other hand. The rising influence of the Brahmins began to collide with the rule of the Kshatriyas, who formed the ruling class of each kingdom or republic. The Kshatriyas were alarmed by the rising power of the Brahmins, but they could not do much as they required the services of the Brahmins in all religious rituals and state occasions. The rise of

Buddhism and Jainism during this period was a natural outcome to counter the threat of the Brahmanical Hindu order, as the founders of these religions were themselves Kshatriyas or warriors.

The First Kingdoms

In the course of time, small settlements grew into small kingdoms and republics. A republic is that form of government where the power is held by the people or a group of elected people or elected chief. The concept of hereditary kingship is not present in republics. The main ruling class, which held the power of these republics, was the Kshatriya. Non-Kshatriyas were not a part of the ruling class in these republics. In the 6th century BC, 16 small territorial states or Mahajanapadas were formed. Of these 16 states, Magadh, Kosala, Vatsa, and Avanti were powerful. These various states constantly fought with each other for over a century to prove their supremacy

The political structure of the ancient Indians appears to have started with semi-nomadic tribal units called *Jana* (meaning subjects). Early Vedic texts attest several Janas or tribes of the Aryans, living in semi-nomadic tribal state, fighting among themselves and with other Non-Aryan tribes for cows, sheep and green pastures. These early Vedic Janas later coalesced into Janapadas of the Epic Age.

The term “Janapada” literally means the *foothold of a tribe*. The fact that *Janapada* is derived from *Jana* points to an early stage of land-taking by the Jana tribe for a settled way of life. This process of first settlement on land had completed its final stage prior to the times of Buddha and

Panini. The Pre-Buddhist Northwest region of Indian subcontinent was divided into several Janapadas demarcated from each other by boundaries. In Panini, *Janapada* stands for country and *Janapadin* for its citizenry. Each of these Janapadas was named after the Kshatriya tribe (or the Kshatriya Jana) who had settled therein. The Buddhist and other texts only incidentally refer to sixteen great nations (*Solasa Mahajanapadas*) which were in existence before the time of Buddha. They do not give any connected history except in the case of Magadha. The Buddhist Anguttara Nikaya, at several places, gives a list of sixteen great nations:

1. Kasi
2. Kosala
3. Anga
4. Magadha
5. Vajji (or Vriji)
6. Malla
7. Chedi
8. Vatsa (or Vamsa)
9. Kuru
10. Panchala
11. Machcha (or Matsya)
12. Surasena
13. Assaka
14. Avanti
15. Gandhara
16. Kamboja

Another Buddhist text Digha Nikaya mentions only first twelve Mahajanapadas and omits the last four in the above list.

Chulla-Niddesa, another ancient text of the Buddhist canon, adds Kalinga to the list and substitutes Yona for Gandhara, thus listing the Kamboja and the Yona as the only Mahajanapadas from Uttarapatha.

The Jaina Bhagvati Sutra gives slightly different list of sixteen Mahajanapadas viz: Anga, Banga (Vanga), Magadha, Malaya, Malavaka, Accha, Vaccha, Kochcha (Kachcha?), Padha, Ladha (Lata), Bajji (Vajji), Moli (Malla), Kasi, Kosala, Avaha and Sambhuttara. Obviously, the author of Bhagvati has a focus on the countries of Madhydesa and of far east and south only. He omits the nations from Uttarapatha like the Kamboja and Gandhara. The more extended horizon of the *Bhagvati* and the omission of all countries from Uttarapatha “clearly shows that the Bhagvati list is of later origin and therefore less reliable.”

The main idea in the minds of those who drew up the Janapada lists was basically more tribal than geographical, since the lists include names of the people and not the countries. As the Buddhist and Jaina texts only casually refer to the Mahajanapadas with no details on history, the following few isolated facts, at best, are gleaned from them and other ancient texts about these ancient nations.

References

- A History of Pali Literature, 2000 Edition, p 648 B. C. Law & Some Ksatriya Tribes of Ancient India, 1924.
- Anguttara Nikaya: Vol I, p 213, Vol IV, pp 252, 256, 260 etc.
- Vedic Index I, p 138, Dr Macdonnel, Dr Keith.
- Ethnology of Ancient Bha-rata – 1970, p 107, Dr Ram Chandra Jain.
- The Journal of Asian Studies – 1956, p 384, Association for Asian Studies, Far Eastern Association (U.S.).
- Digha Nikaya, Vol II, p 200.
- Political History of Ancient India, 1996, p 86; History & Culture of Indian People, Age of Imperial Unity, p 15-16

Andar Kila, Hazi Pur

Prehistoric Cultures in India

Dilip Kumar Yadav

Human colonization in India encompasses a span of at least half-a-million years and is divided into two broad periods, namely the prehistoric (before the emergence of writing) and the historic (after writing). The prehistoric period is divided into stone, bronze and iron ages. The stone age is further divided into palaeolithic, Mesolithic and neolithic periods. As the name suggests, the technology in these periods was primarily based on stone.

Economically, the palaeolithic and mesolithic periods represented a nomadic, hunting-gathering way of life, while the neolithic period represented a settled, food-producing way of life. Subsequently copper was introduced as a new material and this period was designated as the chalcolithic period. The invention of agriculture, which took place about 8000 years ago, brought about dramatic changes in the economy, technology and demography of human societies. Human habitat in the hunting-gathering stage was essentially on hilly, rocky and forested regions, which had ample wild plant and animal food resources. The introduction of agriculture saw it shifting to the alluvial plains which had fertile soil and perennial availability of water. Hills and forests, which had so far been areas of attraction, now turned into areas of isolation.

Agriculture led to the emergence of villages and towns and brought with it the division of society into occupational groups. The first urbanization took place during the bronze age in the arid and semi-arid region of northwest India in the valleys of the Indus and the Saraswati rivers, the latter represented by the now dry Ghaggar-Hakra bed. This urbanization is known as the Indus or Harappan civilization which flourished during 3500–1500 B.C. The rest of India during this period was inhabited by neolithic and chalcolithic farmers and mesolithic hunter-gatherers.

With the introduction of iron technology about 3000 years ago, the focus of development shifted eastward into the Indo-Gangetic divide and the Ganga valley. The location of the *Mahabharata* epic, which is set in the beginning of the first millennium B.C., is the Indo-Gangetic divide and the upper Ganga-Yamuna doab (land between two rivers). Iron technology enabled pioneering farmers to clear the dense and tangled forests of the middle and lower Ganga plains. The focus of development now shifted further eastward to eastern Uttar Pradesh and western

Bihar which witnessed the events of the *Ramayana* epic and rise of the first political entities known as *Mahajanapadas* as also of Buddhism and Jainism. The second phase of urbanization of India, marked by trade, coinage, script and birth of the first Indian empire, namely Magadha, with its capital at Pataliputra (modern Patna) also took place in this region in the sixth century B.C. The imposition by Brahmin priests of the concepts of racial and ritual purity, pollution, restrictions on sharing of food, endogamy, *anuloma* (male of upper caste eligible to marry a female of lower caste) and *pratiloma* (female of upper caste ineligible to marry a male of lower caste) forms of marriage, *karma* (reaping the fruits of the actions of previous life in the present life), rebirth, *varnashrama dharma* (four stages of the expected hundred-year life span) and the sixteen *sanskaras* (ceremonies) on traditional occupational groups led to the birth of the caste system – a unique Indian phenomenon.

As a consequence of the expansion of agriculture and loss of forests and wildlife, stone age hunter-gatherers were forced to assimilate themselves into larger agriculture-based rural and urban societies. However, some of them resisted this new economic mode. To this day they have persisted with their atavistic lifestyle, but have had to supplement their resources by producing craft items or providing entertainment to the rural population.

Humankind's past is divided into two broad periods: the prehistoric and the historic. The prehistoric period belongs to the time before the emergence of writing and the historic period to the time following this event. Modern humans, evolved in Africa and have lived on our planet for about 150,000 years. However, they learnt writing only about 5000 years ago. This means that only about 0.1% of humankind's past is known through the written word. In fact, knowledge of writing diffused very slowly and even today a large section of humanity remains illiterate. Further, before the invention of printing technology in the medieval period, written documents were few and far between, and many of them have been lost due to being written on perishable materials like tree bark, palm leaf, papyrus and cloth. This means that the story of humankind has to be reconstructed largely with the help of non-literary or archaeological sources. These sources comprise objects –

tools, weapons, ornaments, structures and artistic creations which were produced and used by humans and which have survived the ravages of time. Man differs from other creatures in his ability to learn, accumulate knowledge and pass it on to future generations. He has learnt to use various raw materials available in nature – stone, wood, bone, clay, metal, etc. – for shaping them into useful objects for satisfying his needs. Objects made of comparatively durable materials survive for varying lengths of time and constitute the main source of information for knowledge of the human past.

Like other creatures, humans too have had to adapt themselves to the environment in which they live. However, unlike other beings, they have done so with the aid of technology and material culture (material objects like tools, weapons, utensils, houses, clothes, ornaments, etc). Moreover, since the environment – landscape, climate, flora and fauna – tends to change over time, archaeologists have to reconstruct past environments as well. The biological remains of men have contributed to the understanding of not only his biological evolution but also cultural evolution. Archaeology, thus, is a multi-disciplinary study involving disciplines like geology, palaeontology, palaeobotany, biological anthropology and archaeological chemistry.

Further, since cultural changes take place at an uneven pace in different regions, in many parts of the world, particularly in India, prehistoric ways of life have survived more or less unchanged into modern times. The study of non-industrialized societies, especially those practising hunting-gathering, fishing, primitive cultivation and pastoralism, known as ethnoarchaeology, contributes to

interpreting the archaeological record. The story of man began in the Miocene period, around twenty million years ago, when the great apes, from whom the humans evolved, flourished in large areas of the Old World. Proto humans appeared in the Pliocene period, around five million years ago, and their cultural evolution largely took place during the Pleistocene period, which began about two million years ago. While biologically humans differ from the other apes in their upright posture, ability to walk on two feet or hind limbs, extremely versatile hand, and an unusually powerful brain, culturally they differ in their ability to manufacture and use tools.

The prehistoric period is divided into three ages, namely the stone, bronze and iron ages. These ages, besides being technological stages, also have economic and social implications. The Stone Age is divided into three periods, namely palaeolithic, mesolithic and neolithic. As the name suggests, the technology in these periods was primarily based on stone. Economically the palaeolithic and mesolithic periods represent the hunting-gathering stage while the neolithic represents the stage of food production, i.e. plant cultivation and animal husbandry. The palaeolithic period is further divided into three sub-periods, namely lower, middle and upper.

A point which needs to be emphasised is about chronology. Chronology is of two types, relative and absolute. Relative chronology dates prehistoric events in relation to other events and geological deposits. It only tells us if a particular event is earlier or later than another event. Absolute chronology, on the other hand, dates events and phenomena in solar calendar years. This chronology is based on physical techniques and

methods like radiocarbon, K/Ar, fission tracks, thermoluminescence, TH230/U234 and dendrochronology. While dendrochronology is applicable only to a period of a few thousand years and only in the few areas where old wood samples have been preserved, radiocarbon dating can date events up to sixty thousand years old. The other methods can, however, date events belonging to the entire prehistoric period. However, their application is dependent on the availability of suitable materials like volcanic ash and rock at archaeological sites.

The early human colonization of south Asia is represented largely by an abundance of stone tool assemblages. The oldest known tools, comprising simple cores and flakes, have been reported from the Siwalik hills at Riwat, near Rawalpindi in Pakistan. They have been dated to two million years on the basis of magnetic polarity stratigraphy. This exciting discovery made in 1985 has not yet been corroborated by more findings from other sites and for the present it stands in spatial and temporal isolation. The earliest reliable stone tool assemblages belong to two distinct cultural and technological traditions, namely (i) the Sohanian and (ii) the Acheulian.

References

- Aronovsky, Ilona; Gopinath, Sujata (2005). *The Indus Valley*. Chicago: Heinemann.
- Basham, A. L. (1967). *The Wonder That Was India*. London: Sidgwick & Jackson.
- Dani, Ahmad Hassan (1984). *Short History of Pakistan (Book 1)*. University of Karachi.
- Gupta, S. P. (1996). *The Indus-Saraswati Civilization: Origins, Problems and Issues*. Delhi: Pratibha Prakashan.
- Kirkpatrick, Naida (2002). *The Indus Valley*. Chicago: Heinemann.

MA, NET, BRA Bihar University

Arab Conquest of Sindh

Dr. Sunil Kumar

Sindh was under the sway of Harsha Vardana of Qannauj, the last great king of Hindu India before the advent of Muslims. When the empire of Harsha fell, the North broke up into small principalities. Rajput clans starting from their original homes establishing the chieftaincies in the Himalayan regions. The Rajputs thus were the masters of India from the Punjab to the Deccan and from the Arabian Sea to Bengal before the Muslims appeared upon the scene.

Not all Rajputs were of the same race. Many of them traced their descent to the ancient Kshatriyas of the Vedic period. But a large number of the Rajput tribes were of non-Aryan. The descendents of the Greeks, the Kushanas, the Huns ECT, who came to India because of their war-like qualities, were absorbed in the Hindu society and given the status of Rajputs.

The Rajput age was one of division and conflict and lack of political unity. Unless literature, art and sciences the condition of society was in eclipse. Doctor Tara Chand wrote, "Society was enfeebled by feudal anarchy and clannish pretensions on the one side and by religious dissensions and priestly selfishness on the other. But although political power suffered an eclipse, literature, art and science still continued to flourish".

The advent of Muslims in India was marked by the Arab conquest of Sindh, though long before that the Arabs already had settlements on the western coast of India. Some historian believed that there were Arabs in Sindh before the Arab invasion of Sindh, though they were small in number but their presence was significant. According to P. K. Hitti, Muhammad Ibn Qasim, under the order of Hajjaj, advanced in 710 A.D., at the head of a considerable army, of which 6000 were Syrians. He subdued Mukran, pushed on through Baluchistan and in 711-12 reduced Sindh, the lower valley and delta of the Indus.

Among the cities captured were the Sea Port Daybul, which had the statue of Buddha, "rising", said al-Yaqubi, "to a height of forty cubits", al-Nirun (modern Hyderabad), Siwistan, Brahmanabad and Alor. The conquest was extended (713) as far north as Multan in southern Punjab, but the rest of India was unaffected until the close of the tenth century, when a fresh invasion began

under Mahmud of Ghaznah. The people of the conquered towns welcome Muhammad Ibn Qasim as a liberator and helped him against their petty tyrants. By his conciliatory policy and his attitude of understanding and sympathy, Muhammad Ibn Qasim made himself immensely popular among all classes of people. At the time of his departure, records al-Baladhuri, the Hindus wept and they made an image of him and worshipped it.

The policy of Hajjaj and Muhammad Ibn Qasim was liberal beyond all the expectations of the Sindhis. The Hindus were given the status as enjoyed by the Christian and Jews in the Muslim state, which meant that on payment of Jizyah, their life, honour and property were safe, and they were assured freedom to practice their faith. S. A. A. Rizvi wrote, "An order was received from Hajjaj that, since the people of Sindh had accepted the status of protected subjects (zimmi), no interference should be made in their lives and property. They should be permitted to worship freely in their own temples and should also be allowed to build new ones".

The Jizyah was to be paid only by able-bodied men, who were sufficiently well-to-do, not to find it oppressive. Priests and hermits were exempted, so were women, children, cripples and the poor. If an able-bodied man entered government service, he was exempted from the tax. So long as a man paid Jizyah he could not be forced to join the Muslim army.

The "Chach-nama" details the administrative regulations introduced into Brahmanabad. According to the author, those civilians who had not become Muslims were then divided into three categories for the imposition of Jizyah. The men in the highest income brackets paid 48 dirhams of silver per head, the middle-income groups 24 dirhams and the lowest class 12 dirhams. Tribute was fixed according to their resources.

The treatment to the Brahmins displayed the utmost regard towards them. Titles, favours, costly gifts and robes of honour conferred on them. They were given the post they held under the fallen Brahmin dynasty. They were permitted to collect their customary fees from the merchants, thakuras and common Hindus; the 3% share of government revenue that they had previously received

was also reinstated. Some of them were chosen as ministers and advisers. Even certain defence duties were assigned to them.

After the departure of Muhammad Ibn Qasim, the Arabs could not make any material addition to their acquisitions. The strong native powers in Rajputana blocked any extension towards northern India. Muslim power in Sindh suffered from two weakness; lack of support from the home government and increasing disunity among the local authorities.

The Muslim rule in the North led to far-reaching effects in the field of culture and learning. Some Sindhi Muslim scholars went and taught at Mecca. The Arab Muslims also came into touch with Indian sciences. They learned from the Hindus some principles of mathematics, astronomy and philosophy. The Arabs introduced some new industries in Sindh. They also introduced some new plants. They brought to an end the isolation of the subcontinental.

Muslims lived with the Hindus together. Mutual intercourse led to mutual understanding. Their buildings were erected by the Hindus. Many Hindus had changed their faith and converted to Islam. And many Muslims had changed their faith as well, differed little from those whom they had left. The Hindus and Muslims prepared to find a via media whereby to live as neighbours. The effort to seek a new life led to the development of a new culture, which were neither exclusively Hindu nor purely Muslim. It was indeed a Muslim-Hindu culture.

The Arab rule brought Sindh within the orbit of the Islamic civilization, Sindhi language was developed and written in the naskh script. Education became widely diffused and Sindhi scholars attained

fame in the Muslim world. Agriculture and commerce progressed considerably. Ruins of Mansura, the medieval Arab capital of Sindh (11 kms south east of Shahdadpur) testify to the grandeur of the city and the development of urban life during this period. In the 10th century, native people replaced the Arab rule in Sindh. Samma and Soomra dynasties ruled Sindh for long. These dynasties produced some rulers who obtained fame due to judicious dispensation and good administration. Sindh was partially independent and the scene of great disorders till late in the sixteenth century when it failed into the hands of Emperor Akbar, and for a hundred and fifty years the chiefs paid tribute, but only as often as they were compelled to do so, to the Emperor at Delhi. Later the Kalhora clan claiming descent from the house of Abbas and long settled in Sindh produced religious leaders of whom Main Adam Shah attained

prominence in the 16th century. His descendants continued to gather large following and this enabled them to capture political power in the north western Sindh under the leadership of Mian Nasir Muhammad. This happened in the 2nd half of the 17th century. By the turn of that century, foundations of the Kalhora power were firmly laid in the northern Sindh under the leadership of Mian Yar Mohammad. During the reign of his son, Mian Noor Muhammad, lower Sindh with Thatta as its capital came under the Kalhora administration (1150 A.H).

References

- Alberuni's India (Sachau E. C., translator). New Delhi: Low Price Publications, 1993.
- Arab-o-Hind ke Tulluqat, by Sulaiman Nadvi.
- Ancient Trade in Pakistan, by Mortimer Wheeler, Pakistan Quarterly, Vol VII #1957

MA, Ph.D. Kashipur, Vaishali

States of India Series

India is a federation of states and union territories. As of now, there are 28 states and 7 union territories in the country, all these states have made tremendous progress in almost every sphere since 1947, when the nation had attained freedom. People of one state have little authentic knowledge about other states. This situation, in some cases, creates problems and difficulties with no ready solution at hand. The books cover life and people under various heads—Land and the People, Education, History, Geography, Economy, Polity, Tourism, etc. This is the best example of 'knowledge in a nutshell'.

To Order Please Write to :

PUSHPANJALI PRAKASHAN

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053

Phone : 9811710900

Rise and Growth of Guptas

Kumar Sanjay Kishore

After briefly discussing the political situation of the fourth century A.D. we go on to analyse the historical situation which led to the rise of the Gupta dynasty. The attempt here will be to give you a political outline of the period. We take into account the controversies relating to the succession of Gupta kings and at the same time discuss some of their achievements which made possible the formation and consolidation of the empire. Kings like Samudragupta, Chandragupta-11, Kumaragupta and Skandagupta figure very prominently in the history of the empire. We will also take into account some of the problems faced by the Gupta kings and the factors responsible for the decline of Gupta rule.

Political Background

In the beginning of the fourth century A.D. no large state structure existed in India. In the post-Mauryan period two large state structures had emerged in north India and in the Deccan. These were the Kushana state of the north and the Satavahana state of the Deccan. But although the Kushanas and Saka chiefs continued to rule even in early fourth century A.D., their power had become considerably weak, and the Satavahana state had disappeared before the middle of the third century A.D. This does not however mean that there was complete political vacuum. There was no major political power but there were minor powers and new families of rulers were emerging. It was in this situation that the Guptas, a family of uncertain origins, began to build up an empire from the beginning of the fourth century A.D. Before we take up the history of this empire, we present an outline of the political situation of this period by taking up different regions separately.

Northwestern and Northern India

Before the middle of the third century A.D. the rule of the Sassanians had been established in Iran and the Sassanian rulers started claiming overlordship over Kushana kings. The mighty Kushana kings of northwestern India were reduced to the position of subordinates and the Sassanian authority also extended to Sindh and certain other areas. However, a large number of coins which are based on earlier Kushana coins and are found in Afghanistan and Punjab suggest that several branches of rulers, some Kushana, continued to rule in the region. There are also the coins of Kidara Kushana and his successors, in Afghanistan, Kashmir and western Punjab and it is possible that some of these rulers were contemporaries of the early Gupta rulers. In other parts

of the Punjab, Haryana and Rajasthan, old coins again point to the existence of a number of republican states. These were states which were not ruled by a single king but possibly by several chiefs; it was only occasionally that one finds a chief claiming the status of the King of a clan. The Madras, mentioned in connection with the explain of the Gupta ruler Samudragupta, were located in the Punjab; the Yaudheyas were extremely powerful with their centre in present-day Haryana and the Malavas were located in Rajasthan. There were many other republican states like these, and some of them are even mentioned in the Gupta records.

Several branches of the Nagas who became very powerful in Mathura and other centres after the decline of Kushana power in north India are also known. Some of the north Indian rulers who were defeated by Samudragupta were definitely of Naga origin.

Western and Central India

A branch of Kshatrapa rulers established themselves in Western India in the post-Mauryan period. The line of Chastana, to which the well-known Saka Kshatrapa Rudradaman belonged, continued to rule till 304 A.D. and then a new line of rulers began to rule. However, Kshatrapa rule came to an end towards the close of the fourth century A.D. when Gupta ruler Chandragupta-11 conquered and annexed their territories.

In the region of ancient Vidarbha, the core of which was Nagpur in northeast Maharashtra, a new power had emerged by the middle of the third century A.D. This power was that of the Vakatakas, a new line of rulers started by Vindhyasakti. Vakataka power soon became formidable and a branch was also established at Vatsagulma (modern Basim in Akola district). The Vakataka family later on came into close contact with the Guptas, particularly after a matrimonial alliance was formed between the two families.

The Deccan and South India

The decline of the Satavahana state of the Deccan was followed by the emergence of a number of new royal families in different parts of the Deccan. In coastal Andhra, there was a succession of families like the Ikshvakus, the Salankayanas and others. In Kamataka, the most important ruling family was that of the Kadambas. The Kadamba power was founded by Brahmin Mayurasarman whose Talagunda inscription gives some interesting details of the circumstances leading to the establishment of the kingdom

and also some iderregarding its extent. The ruling family of the Pallavas, which became a formidable power in Tamil Nadu till the ninth century is known from their records to have started ruling from the middle of the third century A.D. The inscriptions of the early Pallava rulers were written in the Prakrit language and were in the form of copper plates. They are generally assigned to the period between century 250-350 A.D. Sivaskandarasman of this family, who ruled in the beginning of the fourth century A.D., was a powerful ruler and his kingdom included parts of Andhra, Kamataka and Tamil Nadu. Kanchi or Kanchipuram in the Chingleput district of Tamil Nadu became the capital of the Pallavas and when Gupta ruler Samudragupta led an expedition to the south, he encountered Pallavan king Vismigopa at Kanchi. The above sketch does not mention many areas and many ruling families but only those who were comparatively important. It must however be noted that in many areas like Bengal, Orissa, forest regions of Madhya Pradesh and elsewhere kingdoms were emerging for the first time. This was a new trend and was very significant for the later course of political history.

The Rise of the Guptas

The ancestry and early history of the Gupta family are little known, and have naturally given rise to various speculations. Names ending in Gupta, such as Sivagupta which occurs in a Satavahana inscription, are sometimes taken to suggest their ancestry. But these suggestions are rather far-fetched. Different scholars also place the original home of the Guptas differently: Some would place it in north Bengal, some in Magadha in Bihar and some in U.P. on the basis of the following arguments it may, at the moment, be suggested that the original core of the Gupta territory lay in eastern U.P.:

Allahabad pillar inscription, the earliest inscription recording the achievements of an early Gupta ruler, Samudragupta, comes from this region. The nature of the coin-hoards of the Guptas, found in this region, suggests this. The description of early Gupta territories in the *Puranas* may point to this. It is possible that in the closing decades of the 3rd century A.D. the Guptas were subordinates of a branch of the later Kushanas ruling in northwestern India. However, literary and archaeological sources indicate that they became independent in the second decade of the fourth century A.D.

Inscriptions tell us that Srigupta was the first king and Ghatotkacha was the next to follow him. Chandragupta-I was the first independent king with the title Maharajadhiraja. After declaring his independence in Magadha, he with the help of a matrimonial alliance with the Lichchhavis, enlarged his kingdom. We know about his alliance from a special category of coins. These coins have Chandragupta and his queen Kumaradevi engraved on the obverse and a seated goddess on the reverse with a legend Lichchhavayah (i.e. the Lichchhavis). These coins were made of gold, and this fact in addition to the fact that the Guptas followed the weight system of Kushana gold coins suggests that the Guptas had been in contact with the Kushana territories.

There are no concrete evidences to determine the boundaries of Chandragupta's kingdom. But it is assumed that it covered parts of Bihar, U.P. and Bengal.

Chandragupta-I is said to have also started a new era from 319-320 A.D. It is not clear from any records that he started this era, which came to be known as Gupta Samvat or Gupta era, but since Chandragupta-I is mentioned as a Maharajadhiraja he is credited with the founding of the era. It was during the times of his son

Samudragupta that the kingdom grew into an empire.

Samudragupta

An inscription engraved (at a later date) on the Ashokan pillar at Allahabad (known as Prayagaprasasti) gives us information about Samudragupta's accession and conquests. Harishena, an important official of the state, had composed 33 lines which were engraved on the pillar. The inscription mentions that Maharajadhiraja Chandragupta-I in a highly emotional tone declared his son Samudragupta as his successor. This caused joy among the courtiers and heart-burning among those of equal birth. It can be presumed that other princes might have put forward their contending claims which were put to rest by this declaration. Further, the discovery of some gold coins bearing the name of Kacha has generated a controversy relating to this. The controversy has arisen because:

- i) in many respects Kacha's coins are similar to the coins of Samudragupta,
- ii) the name of Kacha does not appear in the official lists of Gupta rulers, as they are available in the Gupta inscriptions.

Various interpretations have been given in this regard: According to one interpretation Samudragupta's brothers revolted against him and placed Kacha, the eldest brother, on the throne. However he died in the war of succession. Another view mentions that these coins were issued by Samudragupta in the memory of his brother.

References

- Raghu Vamsa v 4.60-75
- Kathasritsagara 18.1.76-78
- Murray, H.J.R. (1913). A History of Chess. Benjamin Press (originally published by Oxford University Press).
- S.K. Lall, Ancient India

R.S. , BRA Bihar University

Discovery, Chronology, Emergence and Geographical Spread of Harappan Civilization

Subodh Kumar Chaudhary

In 1856, British engineers John and William Brunton were laying the East Indian Railway Company line connecting the cities of Karachi and Lahore. John wrote: "I was much exercised in my mind how we were to get ballast for the line of the railway." They were told of an ancient ruined city near the lines, called Brahminabad. Visiting the city, he found it full of hard well-burnt bricks, and "convinced that there was a grand quarry for the ballast I wanted," the city of Brahminabad was reduced to ballast. A few months later, further north, John's brother William Brunton's "section of the line ran near another ruined city, bricks from which had already been used by villagers in the nearby village of Harappa at the same site. These bricks now provided ballast along 93 miles (150 km) of the railroad track running from Karachi to Lahore.

In 1872–75 Alexander Cunningham published the first Harappan seal (with an erroneous identification as Brahmi letters). It was half a century later, in 1912, that more Harappan seals were discovered by J. Fleet, prompting an excavation campaign under Sir John Hubert Marshall in 1921–22 and resulting in the discovery of the hitherto unknown civilization at Harappa by Sir John Marshall, Rai Bahadur Daya Ram Sahni and Madho Sarup Vats, and at Mohenjo-daro by Rakhil Das Banerjee, E. J. H. MacKay, and Sir John Marshall. By 1931, much of Mohenjo-Daro had been excavated, but excavations continued, such as that led by Sir Mortimer Wheeler, director of the Archaeological Survey of India in 1944.

Among other archaeologists who worked on IVC sites before the partition of the subcontinent in 1947 were Ahmad Hasan Dani, Brij Basi Lal, Nani Gopal Majumdar, and Sir Marc Aurel Stein. Following the Partition of India, the bulk of the archaeological finds were inherited by Pakistan where most of the IVC was based, and excavations from this time include those led by Sir Mortimer Wheeler in 1949, archaeological adviser to the Government of Pakistan. Outposts of the Indus Valley civilization were excavated as far west as Sutkagan Dor in Baluchistan, as far north as at Shortugai on the Amudarya or Oxus River in current Afghanistan.

The Age of the Harappan Civilization

Archaeologists use various methods for finding out how old various settlements are. Let us see how Marshall concluded that the Harappan civilization was about five thousand years old and not one thousand years old, as believed by Cunningham. Marshall found that the seals, sealings, written script and works of art found in Harappa were totally different from those with which scholars were already familiar and which belonged to a much later period. Similar finds were reported in another place called Mohenjodaro in Sindh. In Mohenjodaro the settlement lay underneath a Buddhist monastery belonging to the Kushan period. It has been found that in ancient times if a house was destroyed for some reason people would generally use the brick or mud of the house to prepare a plinth and make another house on top of it. Thus, if an archaeologist excavates an area and finds remains of a house beneath another house, he can figure out that the one below is older than the one above. That is why the deeper he digs the earlier he moves in the time scale.

Thus, Marshall could find out that the houses below the Buddhist monastery must have been older than the Kushan period. Then, there was the evidence that people living in these settlements did not know the use of iron. This meant that these cities were part of an age when iron was unknown. Iron came in use in the beginning of the second millennium B.C. When Marshall established his discoveries some other writers found objects similar to those of Harappa and Mohenjodaro in Mesopotamia. Mesopotamian cities came into existence in the early 3rd millennium B.C.

Thus, if anything Harappan was discovered in the ancient cities of Mesopotamia it would indicate that the people of Harappa lived at the same time. With these evidences scholars could figure out that the conclusions of the local population and Cunningham were incorrect. Marshall's chronology of Harappa has been further supported by new methods of dating, such as Radio carbon dating. Thus, scholars accept the following chronology for the pre-Harappan and Harappan cultures.

The Chronology of Pre-Harappan and Harappan Cultures

3500 B.C. To 3500 B.C. –

Neolithic: Baluchistan and the Indus plains settlements like Mehrgarh and Kili Ghul Muhammad came up. Beginning with pastoralism with limited cultivation and seasonal occupation of the villages, permanent villages emerged. Knowledge of wheat, barley, dates, cotton and sheep, goat and cattle.

3500 B.C. to 2600 B.C.-Early

Harappan Period: Many more settlements established in the hills and the plains. Largest numbers of villages occur in this period. Use of copper, wheel and plough. Extraordinary range of pottery forms showing beginning of many regional traditions. Evidence of granary, defensive walls, and long distance trade. Emergence of uniformities in the pottery tradition throughout the Indus Valley. Also, the origins of such motifs as Pipal, humped bulls, Cobras, horned deity etc.

2600 B.C. to 1800 B.C.-Mature

Harappan Period: Emergence of large cities, uniform types of bricks, weights, seals, beads and pottery. Planned township and long distance trade.

1800 B.C. Onwards-Late

Harappan Period: Many Harappan sites abandoned. Interregional exchange declines. Writing and city life abandoned. Continuation of Harappan Crafts and pottery tradition. The village cultures of Punjab, Sutlej-Jamuna divide and Gujarat imbibe the Harappan crafts and pottery traditions.

The Origin of Indus Valley Civilization

According to some earlier archaeologists, the Indus Civilization had its origin outside the soil of the subcontinent. They also believed that the Civilization made its way into India from either West Asia or Central

Asia in the late 3rd millennium BC. The hypothesis was in acceptance in the academic sphere until recently when the excavation conducted at Mehrgarh, a Neolithic site, located in the catchment of the Indus River in Baluchistan surprisingly revealed artefacts, corresponding to a much earlier period than the Indus Civilization. Located on the bank of river Bolan, Mehrgarh was predominantly a Neolithic site that flourished from the 7th and 6th millennium B.C., three millennia before the presence of the Indus Civilization. Regular excavations at the site have revealed a sequence of cultural periods; each characterised by some significant aspects of an early cultural evolution that was taking place in the northwestern part of South Asia, prior to the Indus Civilization.

At the beginning, the people of Mehrgarh were essentially hunters and gatherers. As reflected in the archaeological evidence, they used a variety of lithic weapons like axe, chisel, blades, scrapers, and adzes for the purpose of hunting and gathering. In the succeeding time, they domesticated animals, practiced rudimentary farming and generally led a sedentary lifestyle. The archaeologists feel that agriculture was introduced at Mehrgarh through local innovation. They lived in simple multi roomed houses made of mud bricks of uniform size. They also erected a granary for storing grains. The communities of Mehrgarh buried the dead bodies outside the perimeter of their houses. Before burying, the body was painted with red ochre colour and placed in a pit either in an extended position or flexed, lying on the right side. A variety of 'grave goods' (the rare and exotic goods offered to the deceased), ranging from necklaces of micro-beads made of steatite to others made from seashells, were offered to the deceased as a symbol of honour and respect. In the consequent period,

Mehrgarh saw the predominance of a well-developed ceramic industry and the beginning of rudimentary trade. This period also witnessed the structural activities. For instance, five narrow compartments, erected on either side of a narrow path are amongst the most remarkable relics of Mehrgarh. The period has been dated to about the beginning of 5th millennium B.C. In the later periods, some of the earlier customs made some further progress, and the ultimate outcome of this progress was the birth of the Indus Valley Civilization. According to archaeologists, in the 4th millennium B.C., a segment of population from Mehrgarh and its surrounding settlements moved into the river valleys of the Indus and the Saraswati. Likewise, another group moved into the Saurashtra region of Gujarat.

As most of the other contemporary civilizations, the Indus Civilization thrived in three successive phases. In the beginning phase (between 3500 B.C. and 2600 B.C.), the Indus Valley lifestyle was marked by a rural culture. The period between 2600 B.C. and 2000 B.C. represented the mature phase of the civilization. In this era, a majority of the Indus Valley cities achieved considerable prosperity and many reached their zenith. After the mature phase, it was the late phase that existed between 2000 B.C. and 1500 B.C., marking the declining phase of the civilization.

References

- Aronovsky, Iona; Gopinath, Sujata (2005). *The Indus Valley*. Chicago: Heinemann.
- Basham, A. L. (1967). *The Wonder That Was India*. London: Sidgwick & Jackson. pp. 11–14.
- Gupta, S. P. (1996). *The Indus-Saraswati Civilization: Origins, Problems and Issues*. Delhi: Pratibha Prakashan. ISBN 81-85268-46-0.
- Kirkpatrick, Naida (2002). *The Indus Valley*. Chicago: Heinemann.

MA, Ph.D. BRA Bihar University

Historical Sources of Mauryan Period

Shyam Kumar

Epigraphical Evidences

The most authentic source of Mauryan history is the epigraphical evidence. The edicts of Ashoka are the oldest, the best preserved and the most precisely dated epigraphic records of India. The inscriptions are engraved on rocks, boulders, cave walls and pillars of stone. The inscriptions of Ashoka are of two kinds—the smaller group consists of declaration of the king as a lay Buddhist to his church. These describe his own acceptance of Buddhism and his relationship with the Samgha. The second group of important inscriptions consists of Major and Minor rock edicts and the pillar edicts.

They describe his famous policy of Dhamma. These inscriptions were installed in prominent places either near towns or on important trade and travel routes or in the proximity of religious centres and places of religious importance.

Literary Sources

Of the religious sources the Buddhist and Jain traditions the early Dharmashastra are of great importance. The Ashokavadana and Divyavadana are two Buddhist texts containing information about Bindusara, Ashoka's expeditions to Taxila to suppress a rebellion and about his conversion to Buddhism. Dip Vamsa and Maha Vamsa describe in detail the role played by Ashoka in the spreading of Buddhism in Sri Lanka. Chaitra or Parisisthaparvan (biography of Chanakya) of Hemachandra provides very interesting information on Chandra Gupta Maurya.

Amongst the Brahmanical works the Puranas give information on the history of the Mauryas. Megasthenes's Indica is another source in which he had described the physical features of the country—soil, climate, animals and plants, its government and religion, the manners of the people and their art.

This book in original form has been lost. But most passages have been preserved in form of epitomes and quotations which are found scattered here and there in the later writings of various Greek and Roman authors such

as Strabo, Arrian and Plinius. Another important source which gives valuable information on the Mauryan period is the Arthashastra. It is believed to be the work of Vishnu Gupta Kautilya also known as Chanakya. He was the chief advisor of Chandragupta Maurya. His book Arthashastra is a standard work on politics and art of government.

It is considered to be the most valuable work in the field of secular literature. Mudra Rakshasa is another important work which throws some light on Chandragupta Maurya's career. It is a drama written by Vaisakha Dutta in the Gupta period. The author collected all the information available to him in the 5th century AD. This drama gives the detail of the revolution by which Chandragupta Maurya overthrew the Nandas. It also mentioned that Chandragupta belonged to a low caste.

Arthashastra

The *Arthashastra* is an ancient Indian treatise on statecraft, economic policy and military strategy which identifies its author by the names Kautilya and Vishnu Gupta, who are traditionally identified with Chanakya (c. 350—283 BC), who was a professor at Taxila University and later the prime minister of the Maurya Empire.

Date and Authorship

The original identification of Kaumilya and Vishnugupta with the Mauryan minister Nickasaur would date the *Arthashastra* to the 4th century BC. However, certain affinities with smritis and references that would be anachronistic for the 4th century BC suggest assigning the *Arthashastra* to the 2nd through 4th centuries CE. Thomas R. Trautmann and I.W. Mabbett concur that the *Arthashastra* is a composition from no earlier than the 2nd century AD, but based on earlier material. K.C. Ojha puts forward the view that the traditional identification of Vishnu Gupta with Kaumilya was caused by a confusion of editor and originator and suggests that Vishnu Gupta is in fact a redactor of the original work of Kaumilya. Thomas Burrow goes even further and says that Chanakya and Kaumilya are actually two different people. The end of

this treatise Arthashastra, however, says : “This Shastra has been made by him who from intolerance (of misrule) quickly rescued the scriptures and the science of weapons and the earth which had passed to the Nanda king.”

Translation of the Title

Different scholars have translated the word “Arthashastra” in different ways.

- R.P. Kangle – “science of politics,” a treatise to help a king in “the acquisition and protection of the earth.”
- A.L. Basham – a “treatise on polity”
- D.D. Kosambi – “science of material gain”
- G.P. Singh – “science of polity”
- Roger Boesche – “science of political economy”

Roger Boesche describes the *Arthashastra* as “a book of political realism, a book analysing how the political world does work and not very often stating how it ought to work, a book that frequently discloses to a king what calculating and sometimes brutal measures he must carry out to preserve the state and the common good.”

Centrally, *Arthashastra* argues for an autocracy managing an efficient and solid economy. It discusses the ethics of economics and the duties and obligations of a king. The scope of *Arthashastra* is, however, far wider than statecraft, and it offers an outline of the entire legal and bureaucratic framework for administering a kingdom, with a wealth of descriptive cultural detail on topics such as mineralogy, mining and metals, agriculture, animal husbandry, medicine and the use of wildlife. The

Arthashastra also focuses on issues of welfare (for instance, redistribution of wealth during a famine) and the collective ethics that hold a society together.

Books of Arthashastra

Arthashastra is divided into 15 books:

- I Concerning Discipline
- II The Duties of Government Superintendents
- III Concerning Law
- IV The Removal of Thorns
- V The Conduct of Courtiers
- VI The Source of Sovereign States
- VII The End of the Six-Fold Policy
- VIII Concerning Vices and Calamities
- IX The Work of an Invader
- X Relating to War
- XI The Conduct of Corporations
- XII Concerning a Powerful Enemy
- XIII Strategic Means to Capture a Fortress
- XIV Secret Means
- XV The Plan of a Treatise

The Rajarshi

Arthashastra deals in detail with the qualities and disciplines required for a Rajarshi—a wise and virtuous king.

“In the happiness of his subjects lies the king’s happiness, in their welfare his welfare. He shall not consider as good only that which pleases him but treat as beneficial to him whatever pleases his subjects”—Kautilya.

According to Kautilya, a Rajarshi is one who:

- Has self-control, having

conquered the inimical temptations of the senses;

- Cultivates the intellect by association with elders;
- Keeps his eyes open through spies;
- Is ever active in promoting the security & welfare of the people;
- Ensures the observance (by the people) of their dharma by authority & example;
- Improves his own discipline by (continuing his) learning in all branches of knowledge; and
- Endears himself to his people by enriching them & doing good to them.

Such a disciplined king should:-

- Keep away from another’s wife;
- Not covet another’s property;
- Practice ahimsa (non-violence towards all living things);
- Avoid day dreaming, capriciousness, falsehood & extravagance; and
- Avoid association with harmful persons and indulging in (harmful) activities.

Kautilya says that artha (Sound Economies) is the most important; dharma & kama are both dependent on it. A Rajarishi shall always respect those councillors and purohitas who warn him of the dangers of transgressing the limits of good conduct, reminding him sharply (as with a goad) of the times prescribed for various duties and caution him even when he errs in private.

References

- Robert Morkot, The Penguin Historical Atlas of Ancient Greece.
- Chanakya, Arthashastra.
- J.F.C. Fuller, The Generalship of Alexander the Great.

MA, NET, BRA Bihar University

Post Mauryan Period

Dr. Jai Shankar Prasad

Political events in India from the close of the Mauryan period to about 300 A.D. is the period of the assimilation of diverse foreign elements into the mainstream of Indian society. Central Asian contacts in the fields of trade and technology, religion, art and material remains of that period had deep impact on every facet of Indian life. The final blow to the last of the Mauryan Kings was rendered by Pushyarnitra Sunga in about 180 B.C. The period which commenced from about 200 B.C. did not witness a large empire, but it is historically important as one in which there were widespread cultural contacts with Central Asia, and the assimilation of foreign elements into the Indian society. This period witnessed the emergence of a number of political regions in north and northwestern India. Some of the more prominent dynasties of this period were Sungas, the Indo-Greeks, the Sakas, the Parthians and the Kushanas. It is interesting to study the cultural contacts in various fields, like trade, technology, art, and religion.

Sources

The political history of this period has to be pieced together by going through different types of sources. For some regions, the Puranic lists of dynasties and rulers become important sources of information. Inscriptional sources are also very important and in some cases, they supplement the information that we get from the Puranas. For the period immediately succeeding the overthrow of the Mauryas scraps of information are found in such texts as: the Gargi Samhita, the Mahabhashya of Patanjali, the Divyavadana, the Malavikagnimitra of Kalidasa and the Harshacharita of Bana. Evidence of Sunga history comes to us also from the inscriptions from Ayodhya, Vidisa and Bharhut.

In the post-Mauryan period political power did not remain in the hands of one family. Two main trends are seen in this period. One is that in the north west, there was a succession of rulers, first of Greek Origin, then of Saka or Parthian origin and next of Yuch-chi origin. The second trend was that in the major part of northern India minor local ruling families came up. In some areas, we also find gana-samghas distributed over a wide area in this period. For all these ruling families, the most important data are provided by the different types of coins minted by them. Coins, with the names of rulers appearing on them, thus become a major source now, but for the political

history of this period, this source has to be supplemented by other sources. Cultural contacts with parts of Western Asia but more with Central Asia became regular in this period. So for the north western region some other types of sources become important in this period. For example in addition to coins, inscriptions written in Kharosthi script are found in large numbers in this period in the region of Gandhara and there are many Kharosthi documents found in Central Asia as well. Similarly, there are stray references in Greek and Latin sources to regions of north western India and its rulers. In the Buddhist sources too we find evidence regarding this period. For example, the Pali work Milinda-Panha (The questions of Milinda) bears on the Yavana King Menander and on Buddhism in this period. The Chinese historical chronicles too contain references to contemporary events in Central Asia, Bactria and north west India. For example, for information on the early history of the Yuch-chis or the Kushanas, we have to depend on the chronicles of early Han and later Han dynasties of China.

Indo-Greeks

The Indo-Greek Kingdom (or sometimes Graeco-Indian Kingdom) covered various parts of the northwest and northern Indian subcontinent during the last two centuries BC, and was ruled by more than 30 Hellenistic kings, often in conflict with each other. The kingdom was founded when the Greco-Bactrian king Demetrius invaded India early in the second century BC; in this context the boundary of "India" is the Hindu Kush. The Greeks in India were eventually divided from the Greco-Bactrian Kingdom centered in Bactria (now the border between Afghanistan and Uzbekistan). The expression "Indo-Greek Kingdom" loosely describes a number of various dynastic polities. There were numerous cities, such as Taxila Pakistan's Punjab, or Pushkalavati and Sagala. These cities would house a number of dynasties in their times, and based on Ptolemy's *Geographia* and the nomenclature of later kings, a certain Theophila in the south was also probably a satrapal or royal seat at some point.

During the two centuries of their rule, the Indo-Greek kings combined the Greek and Indian languages and symbols, as seen on their coins, and blended ancient Greek, Hindu and Buddhist religious practices, as seen in the archaeological remains of their cities and in the indications

of their support of Buddhism, pointing to a rich fusion of Indian and Hellenistic influences. The diffusion of Indo-Greek culture had consequences which are still felt today, particularly through the influence of Greco-Buddhist art. The Indo-Greeks ultimately disappeared as a political entity around 10 AD following the invasions of the Indo-Scythians, although pockets of Greek populations probably remained for several centuries longer under the subsequent rule of the Indo-Parthians and Kushans.

Background

Preliminary Greek Presence in India

In 326 BC Alexander the Great conquered the northwestern part of the Indian subcontinent as far as the Hyphasis River, and established satrapies as well as several cities, such as Bucephala, until his troops refused to go further east. The Indian satrapies of the Punjab were left to the rule of Porus and Taxiles, who were confirmed again at the Treaty of Triparadisus in 321 BC, and remaining Greek troops in these satrapies were left under the command of general Eudemus. Sometime after 321 Eudemus toppled Taxiles, until he left India in 316 BC. Another general also ruled over the Greek colonies of the Indus: Peithon, son of Agenor, until his departure for Babylon in 316 BC.

In 305 BC, Seleucus I led an army to the Indus, where he encountered Chandragupta. The confrontation ended with a peace treaty, and “an intermarriage agreement”, meaning either a dynastic marriage or an agreement for intermarriage between Indians and Greeks. Accordingly, Seleucus ceded to Chandragupta his northwestern territories, possibly as far as Arachosia and received 500 war elephants (which played a key role in

the victory of Seleucus at the Battle of Ipsus):

“The Indians occupy in part some of the countries situated along the Indus, which formerly belonged to the Persians: Alexander deprived the Ariani of them, and established there settlements of his own. But Seleucus Nicator gave them to Sandrocottus in consequence of a marriage contract, and received in return five hundred elephants.” —Strabo 15.2.1(9)

Also several Greeks, such as the historian Megasthenes, followed by Deimachus and Dionysius, were sent to reside at the Mauryan court. Presents continued to be exchanged between the two rulers. The intensity of these contacts is testified by the existence of a dedicated Mauryan state department for Greek (Yavana) and Persian foreigners, or the remains of Hellenistic pottery that can be found throughout northern India.

On these occasions, Greek populations apparently remained in the northwest of the Indian subcontinent under Mauryan rule. Chandragupta’s grandson Ashoka, who had converted to the Buddhist faith declared in the Edicts of Ashoka, set in stone, some of them written in Greek, that Greek populations within his realm also had converted to Buddhism:

“Here in the king’s domain among the Greeks, the Kambojas, the Nabhakas, the Nabhapamkita, the Bhojas, the Pitinikas, the Andhras and the Palidas, everywhere people are following Beloved-of-the-Gods’ instructions in Dharma.” —Rock Edict Nb13 (S. Dhammika).

In his edicts, Ashoka mentions that he had sent Buddhist emissaries to Greek rulers as far as the Mediterranean (Edict No. 13), and that he developed herbal medicine in

their territories, for the welfare of humans and animals (Edict No. 2).

The Greeks in India even seem to have played an active role in the propagation of Buddhism, as some of the emissaries of Ashoka such as Dharmaraksita, or the teacher Mahadharmaraksita, are described in Pali sources as leading Greek (“Yona”) Buddhist monks, active in Buddhist proselytism (the Mahavamsa, XII). It is also thought that Greeks contributed to the sculptural work of the Pillars of Ashoka, and more generally to the blossoming of Mauryan art. Again in 206 BC, the Seleucid emperor Antiochus led an army into India, where he received war elephants and presents from the king Sophagasenus:

“He (Antiochus) crossed the Caucasus (Hindu Kush) and descended into India; renewed his friendship with Sophagasenus the king of the Indians; received more elephants, until he had a hundred and fifty altogether; and having once more provisioned his troops, set out again personally with his army; leaving Androsthenes of Cyzicus the duty of taking home the treasure which this king had agreed to hand over to him.”

—Polybius 11.39

References

- Bernard, Paul (1994). "The Greek Kingdoms of Central Asia." The development of sedentary and nomadic civilizations: 700 B.C. to A.D. 250.
- Errington, Elizabeth; Joe Cribb; Maggie Claringbull; Ancient India and Iran Trust; Fitzwilliam Museum (1992).
- Narain, A.K. (1957). The Indo-Greeks. Oxford: Clarendon Press.
- Narain, A.K. (1976). The coin types of the Indo-Greeks kings. Chicago, USA: Ares Publishing.
- Rosenfield, John (1967). The Dynastic art of the Kushans. Berkeley, California: University of California Press.

**Principal, S.K. Women’s College,
Begusarai**

The Greatness of Pala Empire

Pawan Kumar

The Pala Empire was a Buddhist dynasty as well as one of the major middle kingdoms of India that ruled from the northeastern region of the Indian subcontinent. The Palas were often described by opponents as the *Lords of Gauda*. The name *Pala* means *protector* and was used as an ending to the names of all Pala monarchs. The Palas were followers of the Mahayana and Tantric schools of Buddhism. Gopala was the first ruler from the dynasty. He came to power in 750 in Gour by a democratic election. This event is recognized as one of the first democratic elections in South Asia since the time of the Maha Janapadas. He reigned from 750-770 and consolidated his position by extending his control over all of Bengal. The Buddhist dynasty lasted for four centuries (750-1120 AD) and ushered in a period of stability and prosperity in Bengal. They created many temples and works of art as well as supported the Universities of Nalanda and Vikramashila. Somapura Mahavihara built by Dharmapala is the greatest Buddhist Vihara in the Indian Subcontinent.

The empire reached its peak under Dharmapala and Devapala. Dharmapala extended the empire into the northern parts of the Indian Subcontinent. This triggered once again the power struggle for the control of the subcontinent. Devapala, successor of Dharmapala, expanded the empire to cover much of South Asia and beyond. His empire stretched from Assam and Utkala in the east, Kamboja (modern day Afghanistan) in the northwest and Deccan in the south. According to Pala copperplate inscription Devapala exterminated the Utkalas, conquered the Pragjyotisha (Assam), shattered the pride of the Huna, and humbled the lords of Pratiharas, Gurjara and the Dravidas.

The death of Devapala ended the period of ascendancy of the Pala Empire and several independent dynasties and kingdoms emerged during this time. However, Mahipala I rejuvenated the reign of the Palas. He recovered control over all of Bengal and expanded the empire. He survived the invasions of Rajendra Chola and the Chalukyas. After Mahipala I the Pala dynasty again saw its decline until Ramapala, the last great ruler of the dynasty, managed to retrieve the position of the dynasty to some extent. He crushed the Varendra rebellion and extended his empire farther to Kamarupa, Orissa and Northern India.

The Pala Empire can be considered as the golden era of Bengal. Never had the Bengali people reached such height of power and glory to that extent. Palas were responsible for the introduction of Mahayana Buddhism in Tibet, Bhutan and Myanmar. The Palas had extensive trade as well as influence in southeast Asia. This can be seen in the sculptures and architectural style of the Sailendra Empire (present-day Malaya, Java, Sumatra). The Pala Empire eventually disintegrated in the 12th century under the attack of the Sena dynasty.

Origin of the Palas

The Ramacharitam of Sandhyakar Nandi attests that Varendra (or North Bengal) was the fatherland (*Janakabhū*) of the Palas. In the Bangarh Copperplate of Mahipala I, it has been stated that Mahipala recovered his ancestral homeland (*Rajyam Pitram*) from the usurpers (which was until that time occupied by the Kamboja-Pala Kingdom).

Caste

The caste origin of the Palas is not clearly stated in any of the numerous Pala records. The Khalimpur Plate of Dharmapala, the second Pala emperor, states that Gopala I was a son of a warrior (*Kbanditarat*) named Vapyata, grandson of a highly educated man (*Saryavidyavadat*) named Dayitavishnu, and he himself was elected to the throne of Bengal, therefore he was not initially of a distinguished royal blood from the Hindu point of view. The Kamauli Copper Plate inscription of king Vaidyadeva of Kamarupa (Assam) connects the Palas to the Kshatriyas of "*Mihirasya vamsa*" (Surya lineage).

Balla-Carita says that the "The Palas were low-born Kshatriya", a claim reiterated by the historian Taranatha in his "History of Buddhism in India" as well as Ghanarama in "Dharma Mangala" (both written in the 16th century CE). The Ramacharitam also attests the fifteenth Pala emperor, Ramapala, as a Kshatriya. As Gopala I was a Buddhist, he was also branded as a Shudra king in some sources. According to Manjuúree Mulakalpa, Gopala I was a Shudra.

Arabic accounts tell us that Palas were not kings of noble origin. According to Abu'l-Fazl ibn Mubarak (in *Ain-i-Akbari*), the Palas were Kayasthas. There are even accounts that claim Gopala may have been from a Brahmin lineage.

Matsyanyaya and the Ascendancy of the Palas

After Shashanka's reign, Bengal was shrouded in obscurity and was shattered by repeated invasions. During the reign of Manava, Bengal was invaded and divided between Harshavardhana and Bhaskaravarma. In 730 CE Jayavardhana of the Shaila Dynasty from Central India invaded Bengal and killed the king of Pundra Kingdom. Yasovarman (725-752) of Kannauj killed the king of Magadha and Gauda. Later Lalitaditya Muktapida (724-760) of Kashmir who defeated Yasovarman invaded Bengal. Sri Harsha of Kamarupa conquered Anga, Vanga, Kalinga and Odra. The social and political structure of Bengal was devastated. According to Taranatha: Every single Brahman, every Kshatriya, every Elite became all powerful in their areas and surrounding regions. This condition has been described by him as Matsyanyam (Eating of small fish by the big fish) or the Dark Age of Bengal. Disgusted at the situation the desperate people of Bengal made a bold move which marked a glorious period in the history of the subcontinental. They elected Gopala, a popular military leader, as their king by a democratic election which was probably the only democratic election in medieval India.

Buddhism

After the Buddhist king Harsha Vardhana, Buddhism faced the possibility of extinction. The Palas emerged as the champion of Buddhism, and they patronized Mahayana Buddhism. The Palas supported the Universities of Vikramashila and Nalanda which became the premier seats of learning in Asia. The Nalanda University which is considered one of the first great universities in recorded history, reached its height under the patronage of the Palas. The Palas were

responsible for the spread of Mahayana Buddhism to Tibet, Nepal, Bhutan, Myanmar and the Malay archipelago. Bengal became famous in the Buddhist world for the cultivation of Buddhist religion, culture and other knowledge in the various centres that grew under the patronage of the Pala rulers. Buddhist scholars from the Pala empire travelled from Bengal to the Far-East and propagated Buddhism. A few outstanding individuals among them are Shantarakshit, Padmanava, Dansree, Bimalamitra, Jinamitra, Muktimitra, Sugatasree, Dansheel, Sambhogabajra, Virachan, Manjughosh and many others. But the most prominent was Atish Dipankar Srigyan who reformed Buddhism in Tibet after it had been destroyed by king Langdharma. Although the Palas were Vaishnavas, they had also given support to Saiva ascetics, typically the ones associated with the Golagi-Math. Many of the Pala Dynasty's coins also bear the image of Shiva and his bull. Besides sculptures of Vaishnava deities, they had also constructed statues of Shiva and Saraswati.

Main Pala Rulers

- * Gopala I (756 - 781)
- * Dharmapala (781 - 821)
- * Devapala (821 - 861)
- * Mahendrapala, Shurapala I, Vighrapala I (861 - 866)
- * Narayanapala (866 - 920)
- * Rajyapala (920 - 952)
- * Gopala II (952 - 969)
- * Vighrapala II (969 - 995)
- * Mahipala I (995 - 1043)
- * Nayapala (1043 - 1058)
- * Vighrapala III (1058 - 1075)
- * Mahipala II (1075 - 1080)
- * Shurapala II (1080-1082)
- * Ramapala (1082 - 1124)
- * Kumarapala (1124 - 1129)
- * Gopala III (1129 - 1143)

* Madanapala (1143 - 1162)

* Govindapala (1162 - 1174)

Peace and Expansion

Gopala united all of Bengal and brought peace and prosperity in the region. The period of anarchy ended with his election. The Pala kings devoted themselves in public welfare and social reform. The Palas adopted the policy of religious toleration and co-existence of the Buddhists and the Hindus. Pala kings won the heart of the people by welfare activities like digging tanks establishing towns and took place in many folklores in the rural areas of Bengal. The Mahipala Geet (Songs of Mahipala) is still popular in the rural areas. Palas adopted aggressive policy and began the period of expansion under Dharmapala and Devapala. At its height Dharmapala's empire covered most of northern and central region of the Indian Subcontinent. His successor Devapala extended the boundaries of the empire further to Assam in the east, Kamboja in the northwest and the Deccan in the south. Devapala united much of South Asia under his rule, a feat only achieved before by Ashoka the Great. The successors of Devapala had to contend with the Gurjara-Pratihara and the Rashtrakutas for the supremacy of the Kannauj Triangle. After Narayanapala the Pala empire declined but was revived once more under the vigorous reigns of Mahipala and Ramapala.

References

- "The Pala Dynasty".
- The History and Culture of the Palas of Bengal and Bihar, cir. 750 A.D.-Cir 1200AD, 1993.
- Ancient Kamboja, People and the Country, 1981.
- History of Ancient Bengal, 1971, p 427, Ramesh Chandra Majumdar - Calcutta
- Social Change in Modern India, 1995, p 9, M N Srinivas

R.S., BRA Bihar University

Rise of Tamil Bhakti Movement

Nand Kishor Ram

Background

As far as religious history of early India is concerned While archaeological material suggests that certain elements of Indian religions were present in the archaeological cultures dating prior to the Vedas, the hymns of the Rig Veda give us for the first time, an idea of how prayers were offered to deities to please them. However, 'the simple prayers of the Rig Veda gave place gradually to complex rituals dominated by Brahmanas and one can notice the growth of a close relationship between the Brahmanas and the rulers and warriors on this situation. Not only the wandering ascetics who moved away from the established society but also the Buddhist and the Jainas did not accept the dominance of the Brahmanas and the rigid social and moral order which the Brahmanas advocated. There thus grew the heterodox movements which received support not only from rulers and rich merchants but also from other sections of people. In the pre-Gupta period Buddhism reached the height of its glory, spread to countries outside India and Buddhist centres were constructed on a large scale. Meanwhile certain changes were taking place within Brahmanism as well as within heterodox sects. From the religious point of view the most important change was that the devotee was considered as being bound to the supreme god head by devotion (bhakti) and the god head was worshipped in the form of images. Vaishnavism and Shaivism as parts of Brahmanical religion attracted many devotees; image worship became widespread among the Buddhists who worshipped not only the Buddha or Bodhisatva but also a host of other deities, the Jainas too worshipped the images of Tirthankaras, various minor deities, stone ayagapatas and other objects.

The Brahmanas used image worship to build up pantheons of deities by assimilating gods and goddesses from diverse sources. This is how many female deities (shakti) became Prominent in Brahmanical religions from the Gupta period onward. In fact, there was no homogeneity in Brahmanical religions and religious practices and beliefs varied widely. Different sects of Shavism, such as the Pasupatas, the Kaula-Kapalikas and the Kalamukhas were opposed to the dominance of the Brahmanas. They had their own religious orders centred around mathas or monasteries and they received support from many royal families. At the same time, Brahmanas who cultivated the Vedas and continued to perform Vedic

sacrifices received royal support and agrahara settlements of the Brahmanas came to be a major link in the spread of Brahmanical ideas and practices throughout the country. The temple also became an institution which drew people together and served effectively in the spread of ideas.

Although in the complex religious situation of early medieval India the Brahmanas were gaining ascendancy, one should keep in mind also the following terms:

- 1) The orthodox Brahmanical order continued to be challenged particularly by movements within Shaivism, by poet saints and by those who practised tantric form of worship.
- 2) Most religions irrespective of whether it was Brahmanism, Buddhism or Shaivism, developed institutional bases in the form of temples and monasteries.
- 3) Ruling powers and elite sections of society supported institutions and Brahmanas, monks, acharyas or religious heads and others by grants of land, wealth and by other means. By these acts of patronage, the ruling powers and elite sections of society strengthened their own social base.

These are the various aspects which have been taken up in this Unit.

Emergence of Bhakti in Brahmanism

Brahmanism had to accept the growing importance of new gods like Shiva and Vishnu side by side with Vedic gods like Indra and Varuna. It also assimilated many other popular deities like Vasudeva, Skanda and so on. All these led to the growth of the Bhakti cult. Around the fourth century B.C. the cult of Vasudeva was becoming popular. This is suggested by reference to it by classical authors like Megasthenes who came to the court of Chandragupta Maurya.

The worshippers of Vasudeva submitted to Bhakti as the proper religious approach and called themselves Bhagavatas. Several epigraphs of the early Christian era bear testimony to the prevalence of the Vasudeva cult in central India and the Deccan. Simultaneously with the cult of Vasudeva arose the sect of Pasupatas, devotees of Pasupati or Shiva, a fertility deity. This cult was kept alive in non-brahmanic circles from the days of the Harappan culture.

The popularity of these new gods increased during the Sunga and Kanva periods. Patanjali, who lived in the Sunga period, in his Mahabhashya refers to the exhibition and sale of the images of Shiva, Skanda and Vishakha. These gods appear on the coins of the Kushana kings, especially Huvishka. An important characteristic of later Brahmanism was its capacity to adopt new trends. This became necessary to meet the challenge of the 'hetical sects' which were opposed to Brahmanism. Besides adopting new gods, Brahmanism gradually shifted its emphasis from Vedic ritual to Bhakti, which implied the cultivation and development of a personal relationship between God and the devotee. Thus a monotheistic concept of God, with either Shiva or Vishnu as his manifestation and Bhakti (loyalty and devotion) to him was gaining strength. Soon Bhakti became the dynamic force of later Brahmanism also called Hinduism.

Syncretism of Deities

An important characteristic of the new Brahmanism was its genius to syncretise many local deities and to evolve a monotheistic great God. Syncretism in this context will mean that deities worshipped at different places and by different people were recognised as identical and were worshipped as manifestation of the same supreme deity. Thus Vasudeva was identified with Vishnu, a minor Vedic god and Narayana, a god of obscure origin mentioned in the Brahmana literature. Then Vishnu was closely connected with the name of Krishna, who represented the fusion between martial hero and a flute-playing pastoral deity. Vishnu could assimilate many other cults—the cult of the 'divine boar' which prevailed among some of the tribes of Malwa, the cult of Parasurama, a Brahmana hero; and Rama, the great hero of the Ramayana. Then Vishnu

rose to the status of the Universal God in the Bhagavad Gita.

Similarly, Shiva came to be syncretised with the Vedic Rudra and Bhairava, a tribal god and was worshipped in the form of the phallic emblem or linga. With Shiva were later associated certain other deities such as Skanda and the elephant-headed Ganesha. These theistic cults stressed the merit of worship rather than the performance of Vedic sacrifice.

Adaptation of Tribal Rituals

Yet another important feature of later Brahmanism was its adaptation of the tribal rituals keeping the Vedic Yajna rites supreme only in theory. In course of time the merit derived out of these new rituals were equated with the merit of the Vedic Yajna. Further, the sacred spots of the tribals were included as new places of pilgrimage (tirtha) with suitable myths to make them respectable. The Itihisas and Puranas are full of such material or stories which inspire bhakti (devotion) to a personal god.

Royal Support to Temples and Theism

The Puranas highlighted the merits acquired by visiting great cult centres like Mathura and Varanasi which were major places of pilgrimage. This gave a stimulus to the institution of the temple. In fact, the Puranas and other texts of the period list numerous places of pilgrimage (tirthas) which drew devotees in large numbers because visiting tirthas would ensure merit. The temple which housed the deity, became a place of worship and thus drew devotees away from home to an institution which became a public centre. The Gupta age marked the beginning of temple construction. It laid the foundation of the typical styles of Indian temple architecture. Among the few Gupta temples which survive, the Dasavatara temple of Devagarh, the Vishnu temple at Tigawa, and the Shiva

temple at Bhumara are known for their beauty. The epic and Puranic stories relating to Rama and Krishna were represented in the temple sculptures. Excellent specimens of them are still found in the Devagarh temple. The Gupta emperors patronised both Shaivism and Vaishnavism. However, the personal religion of most of the Gupta rulers was Vaishnavism which led to the creation of a number of important Vaishnava centres and Vaishnava sculptures in the Gupta period. The idea of the avatars or incarnations of Vishnu in which Vishnu is born on earth as a boar, a fish, or a human being for rescuing earth from a crisis, also seems to have been systematised in the Gupta period.

In the sixth and seventh centuries A.D. Shaivism seems to have replaced Vaishnavism as recipient of royal patronage in northern India. Shaivism counted among its followers supreme rulers, foreign as well as indigenous, such as Mihirakula, Yashodharman, Sasanka and Harsha. Pasupata or Saiva acharyas are frequently mentioned in contemporary records which include inscriptions, and many literary works like those of Varahamihira, Bana and Hiuen Tsang.

References

- Prasad, Durga, P. 180, History of the Andhras up to 1565 A. D.
- Some Aspects of Ancient Indian Culture By D. R. Bhandarkar
- C. J. Fuller, The Renewal of the Priesthood: Modernity and Traditionalism in a South Indian Temple P117, Princeton University Press 2003
- Politics and Social Conflict in South India, the Non-Brahman Movement and Tamil Separatism, 1916-1929. Berkeley: University of California Press, 1969.
- Smith, Brian K., Canonical Authority and Social Classification: Veda and "Varna" in Ancient Indian Texts-, History of Religions, The University of Chicago Press (1992).
- J. Gonda, Vedic Literature: Sam.hita-s and Bra-hman.as, A History of Indian literature.

NET, BRA Bihar University

The Glorious Sangam Literature

Rajiv Kumar

Sangam literature refers to a body of classical Tamil literature created between the years 300 BCE and 600 CE. This collection contains 2381 poems written by 473 poets, some 102 of whom remain anonymous. The period during which these poems were written is commonly referred to as the 'Sangam' age, referring to the prevalent Sangam legends claiming literary academies lasting thousands of years, giving the name to the corpus of literature. Sangam literature is primarily secular dealing with everyday themes in a South Indian context.

The poems belonging to the Sangam literature were composed by Tamil poets, both men and women, from various professions and classes of society. These poems were later collected into various anthologies, edited and had colophons added by anthologists and annotators around 1000 CE. Sangam literature fell out of popular memory soon thereafter, until they were rediscovered in the 19th century by scholars such as S. V. Damodaram Pillai and U. V. Swaminatha Iyer.

Sangam Literature

Sangam literature deals with emotional and material topics such as love, war, governance, trade, and bereavement. Much of the Tamil literature believed to have been written in the Sangam period is lost to us, though detailed lists of works known to the 10th century compilers have survived.

Indologist Zvelebil quotes A.K.Ramanujan :”In their antiquity and in their contemporaneity, there is not much else in any Indian literature equal to these quiet and dramatic Tamil poems. In their values and stances, they represent a mature classical poetry: passion is balanced by courtesy, transparency by ironies and nuances of design, impersonality by vivid detail, austerity of line by richness of implication. These poems are not just the earliest evidence of the Tamil genius. The Tamil in all their 2,000 years of literary effort wrote nothing better”.

Compilation of Literature

The available literature from this period was categorized and compiled in the 10th century into two categories based roughly on chronology. The categories

are: *The Major Eighteen Anthology Series* comprising *The Eight Anthologies* and the *Ten Idylls* and *The Minor Eighteen Anthology Series*.

Classification

Sangam Poems falls into two categories: the 'inner field' and the 'outer field' as described even in the first available Tamil grammar, the *Tolkappiyam*.

The 'inner field' topics refer to personal or human aspects, such as love and sexual relationships, and are dealt with in a metaphorical and abstract manner. The 'outer field' topics discuss all other aspects of human experience such as heroism, valour, ethics, benevolence, philanthropy, social life, and customs.

The division into *akam* and *puram* is not rigid, but depends upon the interpretation used in a specific context.

Environmental Classifications

Sangam literature illustrates the thematic classification scheme first described in the *Tolkappiyam*. The classification ties the emotions involved in agam poetry to a specific landscape. These landscapes are called *thinai*. These are: *kurinji* mountainous regions; *mullai*, forests; *marutham* agricultural land; *neithal* coastal regions; *paalai* deserts. In addition to the landscape based *thinais*, *kaikkilai* and *perunthinai* are used for unsolicited love and unsuited love respectively.

Similar *thinais* pertain to *puram* poems as well, though these categories are based on activity rather than landscape: *vetchi*, *karanthai*, *vanchi*, *kanchi*, *umignai*, *nochchi*, *thumbai*, *vaagai*, *paataan*, and *pothuviyal*.

Tamil Sangams

According to the compilers of the Sangam works such as Nakkeeran, the Tamil Sangams were academies, where Tamil poets and authors are said to have gathered periodically to publish their works. The legends claim that the Pandya rulers of the mythical cities of 'South' Madurai, Kapatapuram and Madurai to have patronized the three Sangams. The word "Sangam" is probably of Indo-Aryan origin, coming from "*Sangha*", the Buddhist and Jain term for an assembly of monks.

While these claims of the Sangams and the description of sunken land masses have been dismissed as frivolous by the historian and scientific community, “Sangam literature” is still the preferred term for referring to the collection of Tamil works from the period 200 BCE to 200CE. Noted historians like Kamil Zvelebil have stressed that the use of ‘Sangam literature’ to describe this corpus of literature is a misnomer and *Classical* literature should be used instead.

Rediscovery

The works of Sangam literature were lost and forgotten for several centuries before they were brought to light by several Tamil Scholars such as S. V. Damodaram Pillai and U. V. Swaminatha Iyer. They painstakingly collected and catalogued numerous manuscripts in various stages of deterioration. They printed and published *Tholkappiyam*, *Nachinarkiniyar urai* (1895), *Tholkappiyam Senavariyar urai*, (1868), *Manimekalai* (1898), *Cilappatikaram* (1889), *Pattupattu* (1889), and *Purananuru* (1894), all with scholarly commentaries. Damodaram Pillai and Swaminatha Iyer published more 100 works in all, including minor poems.

Purananuru

Purananuru is a Tamil poetic work in the *Pathinenmaelkanakku* anthology of Tamil literature, belonging to the Sangam period corresponding to between 200 BCE–100 CE. *Purananuru* is part of the *Ettutbokai* anthology which is the oldest available collection of poems of Sangam literature in Tamil. *Purananuru* contains 400 poems of varying lengths in the *Akaval* meter. More than 150 poets wrote the poems. It is not known when or who collected these poems into these anthologies.

Purananuru is an excellent source of information on the political and social history of prehistoric Tamil Nadu. There is a wealth of information on the various rulers who ruled the Tamil country before and during the Sangam era (200 BCE–100 CE).

Nature of Purananuru

There are 400 poems in *Purananuru* including the invocation poem. Poems 267 and 267 are extinct and some of the poems are partially extinct. Of the poets who wrote these poems, there are men and women, kings and paupers. The oldest book of annotations found so far has annotations and commentary on the first 266 poems. The commentator Nachinarkiniyaar of the eleventh – twelfth century Tamil Nadu has written a complete commentary on all the poems.

Authors

It is not known exactly how many authors wrote the poems in *Purananuru*. There are 147 different names found from the colophons. However some of these could denote the same author. For example, Mangudi Kizhaar and Mangudi Maruthanaar could denote the same person. We don’t know the authors of around 14 poems. Fourteen of the authors are kings and chieftains. Fifteen of the authors were women, one of whom was Auvaiyar who is credited with 33 poems. Some of the authors of the poems such as Kapilar and Nakkirar have also written poems that are part of other anthologies.

Some of the names of the authors such as Irumpitarthalaiaar and Kookaikozhiyaar seem to be nick names based on words from the poems rather than proper names. This suggests that those who compiled this anthology must have made up these names as the author’s names must have been lost when these poems were collected.

Subject Matters

As its name suggests, *Purananuru* poems deal with the *puram* (external or objective) concepts of life such as war, politics, wealth, as well as aspects of everyday living. Some of the poems are in the form of elegies in tribute to a fallen hero. These poems exhibit outpourings of affection and emotions. There are also a few poems in *Purananuru*, which are classified as *arruppatais*. *Arruppatai* poems read like travelogues in which poets who were returning with gifts received from a king, encourage other poets to do the same by describing in glowing terms the king and his country. This gives the opportunity to the poet, among other topics, to describe in great detail the natural beauty, fertility, and resources of the territory that has to be traversed to reach the palace of the patron.

Structure

There seems to be some definite structure to the order of the poems in *Purananuru*. The poems at the beginning of the book deal with the three major kings Chola, Chera and Pandya of ancient Tamil Nadu. The middle portion is on the lesser kings and the Velir chieftains who were feudatories of these three major kingdoms with a short intervening section (poems 182-195) of didactic poems. The final portion deals with the general scenery of war and the effect of warfare.

Landscapes

Just as the *akam* (subjective) poems are classified into seven *thinai*s or landscapes based on the mood of the poem, the Tamil prosodial tradition mentioned in the ancient Tamil grammatical treatise *Tolkappiyam* also classifies *puram* (objective) poems into seven *thinai*s based on the subject of the poems. These are *vetchi* when the king

provokes war by attacking and stealing the cattle of his enemy, *vanchi* when the king invades the enemy territory, *oozhinai* when the king lays a siege of the enemy's fortress, *thumbai* when the two armies meet on a battlefield, *vaakai* when the king is victorious, *paataan* when the poet praises the king on his victory and *kanchi* when the poet sings on the fragility of human life. The *Purananuru* does not, however, follow this system. The colophons accompanying each poem name a total of eleven thinais. From the subject matter of the poems they accompany, each can be said to represent the following themes:

- *vetchi*-the provocation of war through attack and cattle raids
- *karanthai*-defending against cattle raids
- *vanchi*-invasion of the enemy's territory
- *kanchi*-transience and change, the fragility of human life, against the backdrop of war
- *uzhingi*-attacking the fort
- *nochchi*-defence of the fort or territory
- *thumpai*-the frenzy of battle
- *vaakai*-victory
- *paadaan*-praise of a king's heroism or generosity, asking for gifts
- *pothuviyal*-general heroism (mostly philosophical musings and elegies for heroes).
- *kaikkilai*-unrequited love
- *perunthinai*-unsuitable love

The last two themes are traditionally associated with *akam* poetry. In *Purananuru*, they occur in the context of the familiar *puram* landscape of warfare. Thus songs 83, 84 and 85 are classified to belong to the *kaikkilai thinai*, which denotes unrequited love, and describe a noblewoman's love for King Cholan Poravai Kopperunarkilli. Similarly,

songs 143 to 147 are classified as *perunthinai* or *perunkilai thinai*, which denotes unsuitable love, and deal with King Pekan's abandonment of his wife.

Pothuviyal is described in commentaries as a general *thinai* used for poems that cannot be classified in any other manner but, in the context of *Purananuru*, is used almost exclusively for didactic verse and elegies or laments for dead heroes.

Tolkappiyam does not mention several of *Purananuru*'s themes. Also, *Tolkappiyam*'s *oozhinai* theme does not occur in *Purananuru*, its role being filled to some extent by the *nochchi* theme, whilst other themes described as having a particular function in *Tolkappiyam* are utilised differently by *Purananuru*. The *thinais* for 44 poems have been lost due to the deterioration of the palm-leaf manuscripts.

The poems are further classified into *thurais*. A *thurai* denotes the *locale* of the poem giving the situation under which it was written. Some of these are *parisil thurai* when the poet reminds the king or patron of the reward that was promised to him, *kalitrutamilai* in which the hero dies with the elephant he killed in battle, and so on. Some of the poems are too damaged in the manuscripts to determine their *thurais*. It is not known whether the authors of the poems made these classifications. It is more likely that those who collected the anthology applied these classifications. Poem 289 was not assigned any classification for reasons unknown.

Realism and Fantasy

Purananuru songs exhibit a unique realism and immediacy not frequently found in classical literature. The nature and the subject of the poems lend us to believe that poets did not write these poems on events that happened years prior, rather they wrote (or sang) them on impulse *in*

situ. Some of the poems are conversational in which the poet pleads, begs, chides or praises the king. One such example is poem 46.

The poet Kovur Kizhaar address the Chola king Killivalavan to save the lives of the children of a defeated enemy who are about to be executed by being trampled under an elephant. The poet says, "... O king, you belong to the heritage of kings who sliced their own flesh to save the life of a pigeon, look at these children; they are so naive of their plight that they have stopped crying to look at the swinging trunk of the elephant in amusement. Have pity on them..." The almost impressionistic picture the poem paints cannot be anything but by someone who is witness to the events present in the poem.

Along with such realism, *Purananuru* shows glimpses of fantasy as well. The second poem by Mudinagarayar addresses the Chera king Uthayan Cheralaathan and praises him for his feeding the armies at the Kurukshetra war. This is an obvious anachronism suggesting a king of the early common era Tamil country had a role to play in a mythological battle of the Mahabharata epic. Based on this one poem, there have been attempts at dating the *Purananuru* poems to around 1000 BCE or older.

References

- "Companion Studies to the History of Tamil Literature", Kamil V. Zvelebil
- Kamil Veith Zvelebil, Companion Studies to the History of Tamil Literature.
- Minatchisuntharan, T.P. History of Tamil Literature. Annamalai University Publications in linguistics, 3. Annamalai University, 1965
- Krishnamurti, C.R., *Thamizh Literature Through the Ages*, Vancouver, B.C. Canada
- Zvelebil, Kamil V., *Tamil Literature*, 1975, E J Brill, Leiden.

**Radhakrishna Lane, Bhagwanpur,
Muzaffarpur**

The Evolution of Vaishnavism and Shaivism

Dr. Surendra Kumar Singh

In considering the evolution of modern Hinduism out of the old Vedic religion, three of the many factors responsible for this huge and complicated result deserve special attention. The first is the unusual intensity and prevalence of the religious temperament. This has a double effect, both conservative and alterative: ancient customs receive an unreasonable respect: they are not abolished for their immorality or absurdity; but since real interest implies some measure of constructive power, there is a constant growth of new ideas and reinterpretations resulting in inconsistent combinations. The second is the absence of hierarchy and discipline. The guiding principle of the Brahmans has always been not so much that they have a particular creed to enforce, as that whatever is the creed of India they must be its ministers. Naturally every priest is the champion of his own god or rite, and such zeal may lead to occasional conflicts. But though the antithesis between the ritualism of the older Brahmanism and the faith or philosophy of Shaivism and Vishnuism may remind us of the differences between the Catholic Church and Protestant reformers, yet historically there is no resemblance in the development of the antithesis. To some extent Hinduism showed a united front against Buddhism, but the older Brahmanism had no organization which enabled it to stand as a separate Church in opposition to movements which it disliked. The third factor is the deeply rooted idea, which reappears at frequent intervals from the time of the Upanishads until today, that rules and rites and even creeds are somehow part of the lower and temporal order of things which the soul should transcend and leave behind. This idea tinges the whole of Indian philosophy and continually crops up in practice. The founder of a strange sect who declares that nothing is necessary but faith in a particular deity and that all ceremonies and caste observances are superfluous is not in the popular esteem a subverter of Hinduism.

The history of both Shaivism and Vishnuism illustrates these features. Shiva begins as a wild deity of non-moral attributes. As the religious sense develops he is not rejected like the less reputable deities of the Jews and Arabs but remains and collects round himself other strange wild ideas which in time are made philosophical but not ethical. The rites of the new religion are, if not antagonistic, at least

alternative to the ancient sacrifices, yet far from being forbidden they are performed by Brahmans and modern Indian writers describe Shiva as peculiarly the Brahman's god. Finally the Shivaite schools of the Tamil country reject in successive stages the grosser and more formal elements until there remains nothing but an ecstatic and mystical monotheism. Similarly among the Vishnuites Krishna is the centre of legends which have even less of conventional morality. Yet out of them arises a doctrine that the love of God is the one thing needful so similar to Christian teaching that many have supposed it must be borrowed.

The first clear accounts of the worship of Shiva and Vishnu are contained in the epics and indicate the existence of sectarian religion, that is to say of exclusive devotion to one or other deity. But there is also a tendency to find a place for both, a tendency which culminates in the composite deity Shankara Narayana already mentioned. Many of the Puranas reflect this view and praise the two deities impartially. The Mahabharata not unfrequently does the same but the general impression left by this poem is that the various parts of which it consists have been composed or revised in a sectarian spirit. The body of the work is a narrative of exploits in which the hero Krishna plays a great part but revised so as to make him appear often as a deity and sometimes as the Supreme Spirit. But much of the didactic matter which has been added, particularly books XII and XIII, breathes an equally distinct Shivaite spirit and in the parts where Krishna is treated as a mere hero, the principal god appears to be not Vishnu but Shiva.

The Mahabharata and Puranas contain legends which, though obscure, refer to conflicts of the worshippers of Shiva with those who offered Vedic sacrifices as well as with the votaries of Vishnu, and to a subsequent reconciliation and blending of the various cults. Among these is the well-known story of Daksha's sacrifice to which Shiva was not invited. Enraged at the omission he violently breaks up the sacrifice either in person or through a being whom he creates for the purpose, assaults the officiants and the gods who are present, and is pacified by receiving a share. Similarly we hear that he once seized a victim at a sacrifice and that the gods in fear allotted to him the choicest portion of the offerings. These stories indicate

that at one time Brahmans did not countenance his worship and he is even represented as saying to his wife that according to rule (dharmatah) he has no share in the sacrifice. Possibly human victims were immolated in his honour, as they were in Kali's until recently, for in the Mahabharata it is related how Krishna expostulated with Jarasandha who proposed to offer to Shiva a sacrifice of captive kings. In the Vishnu-Purana, Krishna fights with Shiva and burns Benares. But by the time that the Mahabharata was put together these quarrels were not in an acute stage. In several passages Krishna is made to worship Shiva as the Supreme Spirit and in others vice versa Shiva celebrates the glory of Krishna. Vishnuites do not disbelieve in Shiva but they regard him as a god of this world, whereas their own deity is cosmic and universal. Many Vishnuite works are said to be revealed by Shiva who acts as an intermediary between us and higher spheres.

In the following sections I shall endeavour to relate the beginnings of sectarianism. The sects which are now most important are relatively modern and arose in the twelfth century or later, but the sectarian spirit can be traced back several centuries before our era. By sectarians I mean worshippers of Shiva or Vishnu who were neither in complete sympathy with the ancient Brahmanism nor yet excommunicated by it and who had new texts and rites to replace or at least supplement the Vedas and the Vedic sacrifices. It is probable that the different types of early Indian religion had originally different geographical spheres. Brahmanism flourished in what we call the United Provinces: Buddhism arose in the regions to the east of this district and both Vishnuism and Shaivism are first heard of in the west. The earliest sect of which we have any record is that

of the Bhagavatas, who were or became Vishnuite. At a date which it is impossible to fix but considerably before the epoch of Panini, a tribe named the Yadavas occupied the country between Muttra and the shores of Gujarat. Sects of this tribe were called Vrishni and Sattvata. The latter name has passed into theology. Krishna belonged to this sect and it is probable that this name Vasudeva was not originally a patronymic but the name of a deity worshipped by it. The hero Krishna was identified with this god and subsequently when the Brahmans wished to bring this powerful sect within the pale of orthodoxy both were identified with Vishnu. In the Mahabharata the rule or ritual (vidhi) of the Sattvatas is treated as equivalent to that of the Bhagavatas and a work called the Sattvata Samhita is still extant. Bhagavata appears to be the most general name of the sect or sects and means simply of the Lord (Bhagavat), that is worshippers of the one Lord. Their religion is also called Ekantika dharma, or the religion with one object, that is monotheism.

A considerable literature grew up in this school and the principal treatise is often spoken of as Pancaratra because it was revealed by Narayana during five nights. The name however appears to be strictly speaking applicable to a system or body of doctrine and the usual term for the books in which this system is expounded is Samhita. All previous discussions and speculations about these works, of which little was known until recently, are superseded by Schrader's publication of the Ahirbudhnya Samhita, which appears to be representative of its class. The names of over two hundred are cited and of these more than thirty are known to be extant in MS. The majority were composed in northwestern India but the Pancaratra

doctrine spread to the Dravidian countries and new Samhitas were produced there, the chief of which, the Ishvara Samhita, can hardly be later than 800 A.D. Of the older works Schrader thinks that the Ahirbudhnya was written in Kashmir between 300 and 800 A.D. and perhaps as early as the fourth century. It mentions the Shattvata and Jayakhya, which must therefore be older.

The most remarkable feature of this literature is its elaborate doctrine of evolution and emanation from the Deity, the world process being conceived in the usual Hindu fashion as an alternation of production and destruction. A distinction is drawn between pure and gross creation. What we commonly call the Universe is bounded by the shell of the cosmic egg and there are innumerable such eggs, each with its own heavens and its own tutelary deities such as Brahma and Shiva who are sharply distinguished from Vishnu. But beyond this multitude of worlds are more mysterious and spiritual spheres, the highest heaven or Vaikuntha wherein dwells God in his highest form (Para) with his Shaktis, certain archangels and liberated souls. Evolution commences when at the end of the cosmic night the Shakti of Vishnu is differentiated from her Lord and assumes the two forms of Force and Matter. He as differentiated from her is Vasudeva a personal deity with six attributes and is the first emanation, or Vyûha, of the ineffable godhead. From him proceeds Sankarshana, from Sankarshana Pradyumna, and from Pradyumna Aniruddha. These three Vyûhas take part in creation but also correspond to or preside over certain aspects of human personality, namely Sankarshana to the soul that animates all beings, Pradyumna to intelligence and Aniruddha to individuality. Strange to say these seem to be the

names of distinguished personages in the Shattvata or Vrishni clan. Mere deification occurs in many countries but the transformation of heroes into metaphysical or psychological terms could hardly have happened outside India. Next to the Vyûhas come twelve sub-Vyûhas, among whom is Narayana, and thirty-nine Avatars. All these beings are outside the cosmic eggs and our gross creation. As a prelude to this last there takes place the evolution of the aggregates or sources from which individual souls and matter are drawn, of space and of time, and finally of the elements, the process as described seeming to follow an older form of the Sankhya philosophy than that known to us. The task of human souls is to attain liberation, but though the language of the Samhitas is not entirely consistent, the older view is that they become like to God, not that they are absorbed in him.

Thus it is not incorrect to say that the Bhagavata religion is monotheistic and recognizes a creator of souls. Indeed Shankara condemns it on the very ground that it makes individual souls originate from Vasudeva, in which case since they have an origin they must also have an end. But Ramanuja in replying to this criticism seems to depart from the older view, for he says that the Supreme Being voluntarily abides in four forms which include the soul, mind and the principle of individuality. This, if not Pantheism, is very different from European monotheism. The history of these Bhagavatas, Pancaratras or worshippers of Vishnu must have begun several centuries before our era, for there are allusions to them in Panini and the Niddesa. The names of Vasudeva and Sankarshana occur in old inscriptions and the Greek Heliodoros calls himself a Bhagavata on the column found at Besnagar and supposed to date from the first part of the second century B.C.

The Pancaratra was not Brahmanic in origin and the form of the Sankhya philosophy from which it borrowed was also un-Brahmanic. It seems to have grown up in northwestern India in the centuries when Iranian influence was strong and may owe to Zoroastrianism the doctrine of the Vyûhas which finds a parallel in the relation of Ahura Mazda to Spenta Mainyu, his Holy Spirit, and in the Fravashis. It is also remarkable that God is credited with six attributes comparable with the six Amesha Spentas. In other ways the Pancaratra seems to have some connection with late Buddhism. Though it lays little stress on the worship of goddesses, yet all the Vyûhas and Avatars are provided with Shaktis, like the Buddhas and Bodhisattvas of tantric Buddhism, and in the period of quiescence which follows on the dissolution of the Universe Vishnu is described under the name of Shunya or the void. It attaches great importance to the Shakra, the wheel or discus which denotes Vishnu's will to be, to evolve and maintain the universe, and it may have contributed some ideas to the very late form of Buddhism called Kalacakra. This very word is used in the Ahirbudhnya Samhitâ as the name of one of the many wheels engaged in the work of evolution.

Though the Pancaratra is connected with Krishna in its origin, it gives no prominence to devotion to him under that name as do modern sects and it knows nothing of the pastoral Krishna. It recommends the worship of the four Vyûhas presiding over the four quarters in much the same way that late Buddhism adores the four Jinas depicted in somewhat similar forms. Similarly the Shivaites say that Shiva has five faces, namely Janana or Sadadiva (the highest, undifferentiated form of the deity) at the top and below Vamadeva, Aghora, Tatpurusha, and Sadyojata, presiding

respectively over the north, south, east and west. It is thus clear that in the early centuries of our era (or perhaps even before it) there was a tendency in Vishnuism, Shivaism and Mahayanist Buddhism alike to represent the ineffable godhead as manifested in four aspects somewhat more intelligible to human minds and producing in their turn many inferior manifestations. Possibly the theory originated among the Vishnuites, but as often happened in India it was adopted by their opponents. None of these theories are of much importance as living beliefs at the present day but their influence can be seen in iconography. As a sect the Pancaratras seem to have been a subdivision of the Bhagavatas and probably at the present day many Vishnuites would accept the second name but not the first. The Pancaratra is studied at only a few places in southern India but its doctrines permeate the popular work called Bhaktamala and in view of the express approbation of Ramanuja and other authorities it can hardly be repudiated by the Shri-Vaishnavas. Bhagavata is sometimes used in the south as a name for Smartas who practise Vedic rites and worship both Shiva and Vishnu.

References

- Goswami, B.K. (1965). *The Bhakti Cult in Ancient India*.
- Matchett, Freda (2000). *Krsna, Lord or Avatara? the relationship between Krsna and Visnu: in the context of the Avatara myth as presented by the Harivamsa, the Visnupurana and the Bhagavatapurana*. Surrey: Routledge.
- Bhandarkar, Ramakrishna Gopal (1913). *Vaisnavism, S'aivism, and Minor Religious Systems*. New Delhi: Asian Educational Services.
- Bhattacharyya (Editor), Haridas (1956). *The Cultural Heritage of India*. Calcutta: The Ramakrishna Mission Institute of Culture.
- Keay, John (2000). *India: A History*. New York: Grove Press.

**Post Doctoral Research Scholar
Patna University, Patna**

Post-gupta Kingdoms in North India

Ajit Kumar Singh

In the sixth century A.D. the disintegration of the Gupta empire gradually paved way for the growth of many smaller kingdoms. In certain regions new kingdoms emerged and in other areas the dynasties which had earlier accepted Gupta suzerainty now declared their independence. For example, kings like Yasodharman and political powers like the Maukharis, the Hunas and the later Magadhan Guptas were the new powers. Besides these the Pushyabhusis, the Gaudas, the Varmans and the Maitrakas also grew in importance. This is an attempt to give a brief sketch of the political history of these kingdoms. It also takes into account certain other aspects like the nature of the administrative system under Harshavardhana of the Pushyabhusi family, political patronage to Buddhism, etc.

The Regional Powers

In the absence of a strong power there emerged quite a number of regional powers in different regions. These powers, representing different dynasties, established their kingdoms and were often at war with each other. Here we briefly mention some of these powers:

Yasodharman

During the reign of Kumaragupta-I his feudatory Bandhuvarman ruled over Mandasor as it was a major Centre of western Malwa. He belonged to the Aulikara family which perhaps ruled there up to the beginning of the sixth century A.D. Two stone pillar inscriptions from Mandasor in Madhya Pradesh, one of which is dated in 532 A.D., refer to a powerful king Yasodharman. One of these inscriptions reports the victories of Yasodharman. The inscription describes him as the victor of all those lands which had not been subdued even by the Guptas. But the names of the defeated powers have not been mentioned except that of Mihirkula. It appears that Yasodharman rose to power in about 528 A.D. and continued to rule till 532 A.D., (the date of Mandasor inscription) but by 543 A.D. his power must have been eclipsed.

The Maukharis

The Maukharis were an old family as we find references to them in Patanjali's work and in other early documents.

The Maukharis must have started gaining political power towards the end of 5th century A.D. as the Harsha inscription of 554 A.D. mentions the rise of Yajnavarman from Gaya during this period

We also get the names of three Maukhari kings mentioned in the Barabar and Nagarjuni inscriptions who ruled in Gaya, about 150 years earlier than their successors at Kanauj. The first three Maukhari kings are Yajnavarman, Sardulavarman and Anantavarman. Some of these kings held simply the title of Samanta which indicates that they were acting as kings under the over-lordship of the Guptas.

From the Asirgarh Copper seal we get the names of (1) Harivarman, (2) Adityavarman, (3) Isvaravarman, (4) Isanavarman, (5) Sarvavarman, who had ruled over Kanauj in U.P. The first three kings had the title of Maharaja whereas Isanavarman is called Maharajadhiraja.

It was perhaps Isanavarman who set up an independent kingdom. The early Maukhari kings had established family ties with the later Guptas. However, Isanavannan's declaration of his independence must have spoilt the relations between the later Guptas and the Maukharis for the Apsad inscription tells us of the victory of Kumaragupta the fourth king of the Later Gupta family of Magadha, over Isanavannan. But the dynasty seems to have continued its rule. Sarvavarman, the second son of Isanavannan, was successful in retrieving the lost prestige of the Maukharis by defeating Damodaragupta of the Later Gupta dynasty. The last of the Maukhari kings was Grahavannan who was married to Rajyasri, the daughter of Prabhakaravardhan of Thaneshwar and sister of the famous ruler Harshavardhana. The Malava king Devagupta attacked Kanauj and killed Grahvarman bringing the Maukhari kingdom to an end. The Maukharis held sway over modern U.P. and parts of Magadha. However, the innumerable wars which they lost and won kept changing their boundaries.

The Later Guptas

From around the middle of sixth century A.D. till about 675 A.D. the kings who ruled Magadha were known as Magadha Guptas or Later Guptas. However, it is not clear what connection they had with the Imperial Guptas of the earlier period. The Apsad inscription from Gaya gives the names of 8 Gupta Monarchs:

- (1) Krishnagupta
- (2) Harshagupta
- (3) Jivitagupta
- (4) Kumaragupta
- (5) Damodaragupta

- (6) Mahasenagupta,
- (7) Madhavagupta and
- (8) Adityasena.

The Later Guptas entered into matrimonial alliances with other contemporary ruling families. For example, Harshagupta married his sister to a Maukhari king. Throughout this period the Later Guptas remained engaged in battle with one enemy or the other. For example, Harshagupta had to fight the Hunas; his son Jivitagupta fought against Lichchhavis of Nepal and Gaudas of Bengal; and Jivita Gupta's successor king Kumaragupta defeated Maukhari King Isanavarman. The next king Damodaragupta, son of Kumaragupta, was defeated and killed by Maukhari king Sarvarman and lost a portion of Magadha. For some time the successors of Damodaragupta retreated to Malwa because of the Maukharis but they again established their supremacy in Magadha.

Their most powerful ruler was Adityasena, who ruled in Magadha in 672 A.D., a date which seems to occur in one of his inscriptions. The Later Gupta power survived the empire of Harshavardhana and Adityasena signalled his accession to power by the performance of a horse sacrifice. According to the Apsad inscription, his empire included Magadha, Anga and Bengal. It is just possible that his kingdom included a portion of eastern Uttar Pradesh. He was a Parama-Bhagavata and got a temple of Vishnu constructed. The Later Gupta line came to an end with the expansion of the power of the Gaudas of Bengal westward. But the Gaudas themselves were subdued by Yasovarman of Kanauj. Besides the abovementioned dynastic powers the other important states that emerged in the post-Gupta period were those of the:

- Maitras of Valabhi in Gujarat
- Gurjaras in Rajputana and Gujarat
- Gaudas in Bengal
- Varmans in Kamrup (Assam)

- Mana and Sailodbhava families in Orissa.

The Maitraka kings of Valabhi had initially been under the overlordship of the Imperial Guptas and they gradually established their own supremacy. The founder of the Gurjara kingdom was Harichandra whose three successors ruled till about 640 A.D. Gauda, the region of north and northwest of Bengal was ruled by Sasanka, a contemporary and arch-rival of Harshavardhana, as an independent kingdom in the early seventh century A.D. The Prayaga-prasasti recording the achievements of the Gupta ruler Samudragupta refers to two kingdoms in Assam: Kamarupa and Davaka. Kamarupa became an important political region in northeastern India from the middle of the fourth century A.D. Pushyavarman probably founded, around this date, the first historical royal family of Assam. This family ruled for twelve generations till the time of Bhaskaravarman who was a contemporary and an ally of Harshavardhana of Kanauj and ruled in the first half of the seventh century A.D. Although there is evidence that some local rulers of Orissa owed allegiance to Imperial Gupta rulers towards the end of Gupta rule, two autonomous kingdoms emerged in Orissa in the second half of the sixth century A.D. One was the Mana kingdom which extended from Balasore to Puri district and the other was the kingdom of the Sailodbhavas of Kongoda, which extended from hilka lake to Mahendragiri mountains in Ganjam district. Both kingdoms suffered setbacks because of the rise of Sasanka of Bengal and Harshavardhana of Kannauj.

The Pushyabhutis of Thaneshwar and Kannauj

A variety of sources inform us about the rise of the family of Pushyabhutis which first ruled from Thaneshwar in Haryana and later from Kannauj in Uttar Pradesh. These sources include the text

Harshacharita of Banabhatta, accounts of Hiuen-tsang and some inscriptions and coins etc. Banabhatta informs us that the founder king of this dynasty at Thaneshwar was Pushyabhuti and that the family was known as Pushyabhuti vamsa. However, the inscriptions of Harsha make no reference to him. The Banskhera and Madhuvan plates and royal seals mention five earlier rulers among whom the first three are given the title of Maharaja. This may indicate that they were not sovereign monarchs. The fourth king Prabhakarvardhana has been described as a Maharajadhiraja which makes us infer that he was an independent monarch and had established matrimonial relations with the Maukharis by marrying his daughter Rajyasri with Grahavarman.

Thaneshwar, during this time (about 604 A.D.) was threatened by the Hunas from the western side. Banabhatta has described Prabhakarvardhana as "a lion to the Huna deer". According to him an army under Rajyavardhana was sent to defeat the Hunas but due to the sudden illness of his father he had to come back. With Prabhakarvardhana's death the family had to face troubled times for a while. The Malava king killed Grahavarman and took, Rajyasri prisoner. It appears that the Malava and the Gauda kings entered into alliance and even Thaneshwar was threatened. Rajyavardhana defeated the Malavas but was killed through treachery by Sasanka, the Gauda king. Now it was Harsha's responsibility to seek revenge and in due course he was able to establish a strong empire.

References

- Mandasor Pillar Inscription of Yashodharman
- Bijayagadh Stone Pillar Inscription of Vishnuvardhana
- Srivastra, A. L., History of India, 1000-1707.
- Falling Rain Genomics, Inc - Kannauj
- S.K. Lall, Ancient India
- Andrea Berens Karls & Mounir A. Farah. World History The Human Experience

R.S., BRA Bihar University

Expansion of Aryans in India

Neeraj Kumar Tiwari

Models of the Indo-Aryan migration discuss scenarios of prehistoric migrations of the early Indo-Aryans to their historically attested areas of settlement in the northwest of the Indian subcontinent (i.e. the area of modern Pakistan) and from there further across all of North India. Claims of Indo-Aryan migration are primarily drawn from linguistic evidence but also from a multitude of data stemming from Vedic religion, rituals, poetics as well as some aspects of social organization and chariot technology.

Indo-Aryan derives from an earlier Proto-Indo-Iranian stage, usually identified with the Bronze Age Sintashta and Andronovo culture north of the Caspian Sea. Their migration to and within Northwestern parts of South Asia is consequently presumed to have taken place in the Middle to Late Bronze Age, contemporary to the Late Harappan phase (ca. 1700 to 1300 BC). An influx of early Indo-Aryan speakers over the Hindukush (comparable to the Kushan expansion of the first centuries CE) together with Late Harappan cultures gave rise to the Vedic civilization of the Early Iron Age. This period is marked by a gradual and continual shift of the population to the east, first to the Gangetic plain with the Kurus and Panchalas, and further east with the Kosala and Videha. This Iron Age expansion corresponds to the black and red ware and painted grey ware cultures.

Linguistics

The linguistic centre of gravity principle states that a language family's most likely point of origin is in the area of its greatest diversity. Take, for example, the Germanic languages—of which English is one. North America may have more speakers of Germanic languages, but almost all of them are exclusively or primarily speakers of English. Northern Europe, where the Germanic languages are known to have originated, has in significant numbers speakers not only of English but also German, Dutch/Flemish, Frisian, and North Germanic (Swedish, Danish, Norwegian, Icelandic).

By this criterion, India, home to only a single branch of the Indo-European language family (i.e. Indo-Aryan), is an exceedingly unlikely candidate for the Indo-European homeland; Central-Eastern Europe, on the other hand, is

home to the Italic, Venetic, Illyrian, Albanian, Germanic, Baltic, Slavic, Thracian, and Greek branches of Indo-European.

Both mainstream Urheimat solutions locate the Indo-European homeland in the vicinity of the Black Sea.

Dialectical variation

Indo-European isoglosses, including the centum and satem languages (blue and red, respectively), augment, and mending.

It has been recognized since mid-19th century that a binary tree model cannot capture all linguistic alignments; certain areal features cut across language groups and are better explained through a model treating linguistic change like waves rippling out through a pond. This is true of the Indo-European languages as well. Various features originated and spread while Proto-Indo-European was still a dialect continuum. These features sometimes cut across sub-families: for instance, the instrumental, dative, and ablative plurals in Germanic and Balto-Slavic feature endings beginning with *-m-*, rather than the usual **-bh-*, e.g. Old Church Slavonic instrumental plural *synŭ-mi* 'with sons', despite the fact that the Germanic languages are centum, while Balto-Slavic languages are satem.

There is a close relationship between the dialectal relationship of the Indo-European languages and the actual geographical arrangement of the languages in their earliest attested forms that makes an Indian origin for the family unlikely.

Substrate influence

Bryant (2001:76) believes that evidence of a pre-Indo-European linguistic substratum in South Asia is solid reason to exclude India as a potential Indo-European homeland.

Burrow compiled a list of approximately 500 foreign words in Sanskrit that he considered to be loans predominantly from Dravidian. Kuiper identified 383 Zgvedic words as non-Indo-Aryan—roughly 4% of its (liturgical) vocabulary—borrowed from Old Dravidian, Old Munda, and several other languages. However, Thieme has questioned Dravidian etymologies proposed for Vedic words, most of which he gives Indo-Aryan or Sanskrit

etymologies, and condemned what he characterizes as a misplaced “zeal for hunting up Dravidian loans in Sanskrit”. Das even contends that there is “not a single case in which a *communis opinio* has been found confirming the foreign origin of a Rigvedic (and probably Vedic in general) word”. Burrow in turn has criticized the “resort to tortuous reconstructions in order to find, by hook or by crook, Indo-European explanations for Sanskrit words”. However, later on he revoked many of his 26 Dravidian etymologies in the Rigveda. Kuiper reasons that given the abundance of Indo-European comparative material—and the scarcity of early Dravidian or Munda—the inability to clearly confirm whether the etymology of a Vedic word is Indo-European implies that it is not. In addition, the state of the art of the three language families differs widely.

Dravidian and other South Asian languages share with Indo-Aryan a number of syntactical and morphological features that are alien to other Indo-European languages, including even its closest relative, Old Iranian. Phonologically, there is the introduction of retroflexes, which alternate with dentals in Indo-Aryan; morphologically there are the gerunds; and syntactically there is the use of a quotative marker (“*iti*”). Krishnamurti states: “Besides, the Zg Veda has used the gerund, not found in Avestan, with the same grammatical function as in Dravidian, as a non-finite verb for ‘incomplete’ action. Zg Vedic language also attests the use of *iti* as a quotative clause complementizer. All these features are not a consequence of simple borrowing but they indicate

substratum influence (Kuiper 1991: ch 2)”. Several linguists, all of whom accept the external origin of the Aryan languages on other grounds, are quite open to considering that various syntactical developments in Indo-Aryan could have been internal developments (Hamp 1996 and Jamison 1989, as cited in Bryant 2001:81–82) rather than the result of substrate influences, or have been the result of adstratum (Hock 1975/1984/1996 and Tikkanen 1987, as cited in Bryant 2001:80–82). About retroflexion Tikkanen (1999) states that “in view of the strictly areal implications of retroflexion and the occurrence of retroflexes in many early loanwords, it is hardly likely that Indo-Aryan retroflexion arose in a region that did not have a substratum with retroflexes.”

Writing specifically about language contact phenomena, Thomason & Kaufman (1988) state that there is strong evidence that Dravidian influenced Indic through “shift”, that is, native Dravidian speakers learning and adopting Indic languages. Even though the innovative traits in Indic could be explained by multiple internal explanations, early Dravidian influence is the only explanation that can account for all of the innovations at once – it becomes a question of explanatory parsimony; moreover, early Dravidian influence accounts for the several of the innovative traits in Indic better than any internal explanation that has been proposed.

Erdosy (1995:18) states that the most plausible explanation for the presence of Dravidian structural features in Old Indo-Aryan is that the majority of early Old Indo-Aryan speakers had a Dravidian mother

tongue which they gradually abandoned. Zvelebil remarks that “Several scholars have demonstrated that pre-Indo-Aryan and pre-Dravidian bilingualism in India provided conditions for the far-reaching influence of Dravidian on the Indo-Aryan tongues in the spheres of phonology, syntax and vocabulary”. In addition, the influences of other non-Indo-Aryan languages on early Indo-Aryan (such as Proto-Burushaski, the Indus substrate language(s), Witzel’s Para-Munda, Masica’s Gangetic “language X”, Proto-Munda, etc.) have to be taken into account.

Material archaeology

Jim Shaffer wrote, “Current archaeological data do not support the existence of an Indo-Aryan or European invasion into South Asia any time in the pre-or protohistoric periods. Instead, it is possible to document archaeologically a series of cultural changes reflecting indigenous cultural developments from prehistoric to historic periods” The vast majority of the professional archaeologists Bryant (2001) interviewed in India insisted that there was no convincing archaeological evidence whatsoever to support any claims of external Indo-Aryan origins. Kenoyer (as cited in Bryant 2001:231) and Shaffer (as cited in Bryant 2001:232) argue that current archaeological evidence does not support an invasion of South Asia in the pre-or proto-historic periods.

According to Kenoyer (as quoted in Bryant 2001:190):

Although the overall socioeconomic organization changed, continuities in technology, subsistence practices, settlement organization, and some regional symbols show that the

indigenous population was not displaced by invading hordes of Indo-Aryan speaking people. For many years, the 'invasions' or 'migrations' of these Indo-Aryan-speaking Vedic/Aryan tribes explained the decline of the Indus civilization and the sudden rise of urbanization in the Ganga-Yamuna valley. This was based on simplistic models of culture change and an uncritical reading of Vedic texts...

Similar arguments were made by Häusler (as cited in Bryant 2001:141), who found that the archaeological evidence in central Europe showed continuous linear development, with no marked external influences. As Bryant (2001:235) points out, "India is not the only Indo-European-speaking area that has not revealed any archaeological traces of immigration." Mallory (in Blench & Spriggs 1997) states that archaeological continuity can be supported for every Indo-European-speaking region of Eurasia, not just India. Several historically documented migrations, such as those of the Helvetii to Switzerland, the Huns into Europe, or Gaelic-speakers into Scotland are not attested in the archaeological record. Cavalli-Sforza (2000) states that "archeology can verify the occurrence of migration only in exceptional cases".

Bryant (2001:236) grants that "there is at least a series of archaeological cultures that can be traced approaching the Indian subcontinent, even if discontinuous, which does not seem to be the case for any hypothetical east-to-west emigration." Erdosy (1995) states that "some support was found in the archaeological record for small-scale migrations from Central to South Asia in the late 3rd/early 2nd millennia BC."

The Andronovo, BMAC and Yaz cultures have often been associated with Indo-Iranian migrations. The Gandhara Grave (GGC), Cemetery H, Copper Hoard and Painted Grey Ware (PGW) cultures are candidates for cultures associated with Indo-Aryan movements. The Indo-Aryan migration is dated subsequent to the Mature Harappan culture and the arrival of Indo-Aryans in the Indian subcontinent dated during the Late Harappan period. Based on linguistic data, many scholars argue that the Indo-Aryan languages were introduced to India in the 2nd millennium BC. The standard model for the entry of the Indo-European languages into India is that this first wave went over the Hindu Kush, forming the Gandhara grave (or Swat) culture, either into the headwaters of the Indus or the Ganges (probably both). The language of the Rigveda, the earliest stratum of Vedic Sanskrit is assigned to about 1500-1200 BC.

The separation of Indo-Aryans proper from Proto-Indo-Iranians has been dated to roughly 2000–1800 BC. It is believed Indo-Aryans reached Assyria in the west and the Punjab in the east before 1500 BC: the Hurrite speaking Mitanni rulers, influenced by Indo-Aryan, appear from 1500 in northern Mesopotamia, and the Gandhara grave culture emerges from 1600. This suggests that Indo-Aryan tribes would have had to be present in the area of the Bactria-Margiana Archaeological Complex (southern Turkmenistan/northern Afghanistan) from 1700 BC at the latest (incidentally corresponding with the decline of that culture).

The Gandhara grave culture is the most likely locus of the earliest Indo-European presence east of the Hindu Kush of the bearers of Rigvedic

culture, and based on this Parpola (1998) assumes an immigration to the Punjab ca. 1700-1400 BC, but he also postulates a first wave of immigration from as early as 1900 BC, corresponding to the Cemetery H culture. However, this culture may also represent forerunners of the Indo-Iranians, similar to the Lullubi and Kassite invasion of Mesopotamia early in the second millennium BC.

Rajesh Kochhar (2000:185–186) argues that there were three waves of Indo-Aryan immigration that occurred after the mature Harappan phase: the "Murghamu" (BMAC) related people who entered Baluchistan at Pirak, Mehrgarh south cemetery, etc. and later merged with the post-urban Harappans during the late Harappans Jhukar phase; the Swat IV that co-founded the Harappan Cemetery H phase in Punjab and the Rigvedic Indo-Aryans of Swat V that later absorbed the Cemetery H people and gave rise to the Painted Grey Ware culture. He dates the first two to 2000-1800 BC and the third to 1400 BC.

References

- "Manu Samhita" II.17-18.
- "Rig Veda" VII.95.2.
- "Vedanga Jyotisha of Lagadha", Indian National Science Academy, Delhi, India, 1985.
- R. Griffith, "The Hymns of the Rig Veda", Motilal Banarasidas, Delhi, 1976.
- C. Renfrew, "Archeology and Language", Cambridge University Press, New York, 1987.
- Simpson, John Andrew; Weiner, Edmund S. C., (1989), "Aryan, Arian", Oxford English Dictionary, Oxford University Press.
- Thapar, Romila (January 1, 1996), "The Theory of Aryan Race and India: History and Politics", *Social Scientist* 24 (1/3).
- Ivanov, Vyacheslav V.; Gamkrelidze, Thomas (1990), "The Early History of Indo-European Languages", *Scientific American* 262 (3).

R.S., L.N.M.U., Darbhanga

Moksha in Jainism

Lakhindra Kumar

Moksha or Moksha means liberation, salvation or emancipation of soul. It is a blissful state of existence of a soul, completely free from the karmic bondage, free from samsara, the cycle of birth and death. A liberated soul is said to have attained its true and pristine nature of infinite bliss, infinite knowledge and infinite perception. Such a soul is called siddha or paramatman and considered as supreme soul or God. In Jainism, it is the highest and the noblest objective that a soul should strive to achieve. It fact, it is the only objective that a person should have; other objectives are contrary to the true nature of soul. With right faith, knowledge and efforts all souls can attain this state. That is why, Jainism is also known as mokshamarga or the “path to liberation”.

The Concept

The concept of moksha, presupposes an existence of infinite eternal souls, who alone are doer, enjoyer and responsible for their action. Thus, all souls are entangled in the mundane worldly activities, bound to karmas since beginningless time and transmigrating and reincarnating from one existence to another. According to Jainism, all souls can bring an end to this repeated cycle of births and deaths and attain liberation, that is moksha.

Description in Jain Texts

Saman Sutta contains the following description of Nirvana-

- Where there is neither pain nor pleasure, neither suffering nor obstacle, neither birth nor death, there is emancipation.
- Where there are neither sense organs, nor surprise, nor sleep, nor thirst, nor hunger, there is emancipation.
- Where there is neither Karma, nor quasi-Karma nor the worry, nor any type of thinking which is technically called Artta, Raudra, Dharma and Sukla, there is Nirvana.

Uttaradhyana Sutra provides an account of Gautama explaining the meaning of moksha to Kesi, a disciple of Parsva.

There is a safe place in view of all, but difficult of approach, where there is no old age nor death, no pain nor disease. It is what is called Nirvana, or freedom from pain, or perfection, which is in view of all; it is the safe, happy, and quiet place which the great sages reach. That is the eternal place, in view of all, but difficult of approach. Those sages who reach it are free from sorrows, they have put an end to the stream of existence.

Bhavyata

However, from the point of view of potentiality of moksha, Jain texts bifurcates the souls in two categories—bhavya and abhavya. Bhavya souls are those souls who have faith in moksha and hence will make some efforts to achieve liberation.

This potentiality or quality is called bhavyata. However, bhavyata itself does not guarantee moksha, as the soul needs to expend necessary efforts to attain it. On the other hand abhavya souls are those souls who cannot attain liberation as they do not have faith in moksha and hence never make any efforts to attain it.

The Concept of Individuality

Jainism upholds the concept of individuality of souls, even after liberation. There are infinite living beings who have attained moksha and infinite living who have not attained moksha, The soul continues to maintain distinct individuality even after moksha. Hence, there are infinite siddhas or liberated beings existing in eternal infinite bliss.

Siddhasila

According to Jain cosmology, Siddhasila is the place where all the siddhas i.e. the liberated beings reside. It is at the apex of the universe.

Human Birth

Moksha or liberation can be attained only in the human birth. Even the demi-gods and heavenly beings have to reincarnate as humans and practice right faith, knowledge and conduct to achieve liberation. According to Jainism, human birth is quite rare and invaluable and hence one should make wise choices.

Milestones towards Moksha

Image of a *Siddha*: the soul who attains Moksha; although the *Siddhas* (the liberated beings) are formless and without a body, this is how the Jain temples often depict the *Siddhas*.

A soul is bound by the karmas since beginningless time. The first step to achieve moksha is to inculcate Samyaktva or rational faith or perception.

Samyaktva

According to Jainism, Samyak darsana (Rational Perception), Samyak Jnana (Rational Knowledge) and Samyak Caritra (Rational Conduct) collectively also known as Ratnatraya or the three Jewels of Jainism constitute true Dharma. According to Umasvati, Samyak Darsana, Jnana Caritra together constitutes mokcamarga or the path to liberation.

Samyak Darsana or rational perception is the rational faith in the true nature of every substances of the universe.

Samyak Jnana or rational knowledge is the right knowledge of true and relevant knowledge of the reality, the tattvas.

It incorporates the two principles of Anekantvada or non-absolutism and Syadvada or relativity of truth. Right knowledge must be free from three main defects: doubt, delusion, and indefiniteness

Samyak Caritra or rational conduct is the natural conduct of a (soul) living being. It consists in following austerities, engaging in right activities and observance of vows, carefulness and controls. Once a soul secures samyaktva, moksha is assured within a few lifetimes.

Kevala Jnana

Kevala Jñana, the highest form of transcendental knowledge that a samyaktvisti soul can attain, also means “absolute knowledge”, “Enlightenment” and “Omniscience”. Kevala is the state of isolation of the jīva from the ajīva attained through ascetic practices which burn off one’s karmic residues, releasing one from bondage to the cycle of death and rebirth. Kevala Jñana, thus means infinite knowledge of self and non-self, attained by a soul after annihilation of the all ghatiya karmas. Such is person who has attained Kevala Jñana is called a Kevali. He is also known as Jina (the victor) or Arhat (the worthy one) and worshipped as a god by the Jains. The soul who has reached this stage achieves moksha at the end of his life span, after annihilation of the aghatiya karmas.

Nirvana

Nirvana means final release from the karmic bondage. When an enlightened human, such as, an Arhat or a Tirthankara extinguishes his remaining aghatiya karmas and thus ends his worldly existence, it is called nirvana. Technically, the death of an Arhat is called nirvana of Arhat, as he has ended his worldly existence and attained liberation. Moksha, that is to say, liberation follows nirvana. However, the terms *moksha* and *nirvana* are often used interchangeably in the Jain texts. An Arhat becomes a siddha, the liberated one, after attaining nirvana.

Nirvana as Moksha

The terms moksha and nirvana are often used interchangeably in the Jain texts.

Uttaradhyana Sutra provides an account of Gautama explaining the meaning of nirvana to Kesi a disciple of Parsva.

“There is a safe place in view of all, but difficult of approach, where there is no old age nor death, no pain nor disease. It is what is called Nirvana, or freedom from pain, or perfection, which is in view of all; it is the safe, happy, and quiet place which the great sages reach. That is the eternal place, in view of all, but difficult of approach. Those sages who reach it are free from sorrows, they have put an end to the stream of existence. (81-4)”

References

1. Varni, Jinendra; Ed. Prof. Sagarmal Jain, Translated Justice T.K. Tukol and Dr. K.K. Dixit (1993). *Saman Sutta*. New Delhi: Bhagwan Mahavir memorial Samiti.
2. Jacobi, Hermann; Ed. F. Max Müller (1895). *Uttaradhyana Sutra, Jain Sutras Part II, Sacred Books of the East, Vol. 45*. Oxford: The Clarendon Press.
3. Jaini, Padmanabh (2000). “Chapter 5. *Bhavyata* and *Abhavyata* : A Jaina Doctrine of ‘Predestination’”. *Collected Papers on Jaina Studies*. Delhi: Motilal Banarsidass Publ.. ISBN 81-208-1691-9.
4. Kuhn, Hermann (2001). *Karma, The Mechanism : Create Your Own Fate*. Wunstorf, Germany: Crosswind Publishing. ISBN 3-9806211-4-6.
5. Jaini, Padmanabh (1998). *The Jaina Path of Purification*. New Delhi: Motilal Banarsidass. ISBN 81-208-1578-5.
6. Varni, Jinendra; Ed. Prof. Sagarmal Jain, Translated Justice T.K. Tukol and Dr. K.K. Dixit (1993). *Saman Sutta*. New Delhi: Bhagwan Mahavir memorial Samiti. Verse 262-4
7. Jaini, Padmanabh (2000). *Collected Papers on Jaina Studies*. Delhi: Motilal Banarsidass Publ.. ISBN 81-208-1691-9. : “*Moksha and Nirvana are synonymous in Jainism*”. p.168.

Banskund, Vaishali

Theory of Multiple Intelligences

Manoranjan Rai

The theory of multiple intelligences was proposed by Howard Gardner in 1987 to more accurately define the concept of intelligence and to address the question whether methods which claim to measure intelligence (or aspects thereof) are truly scientific. Gardner's theory argues that intelligence, particularly as it is traditionally defined, does not sufficiently encompass the wide variety of abilities humans display. In his conception, a child who masters multiplication easily is not necessarily more intelligent *overall* than a child who struggles to do so. The second child may be stronger in another *kind* of intelligence and therefore 1) may best learn the given material through a different approach, 2) may excel in a field outside of mathematics, or 3) may even be looking at the multiplication process at a fundamentally deeper level, which can result in a seeming slowness that hides a mathematical intelligence that is potentially higher than that of a child who easily memorizes the multiplication table.

Gardner's Categories of Intelligence

Gardner's categories of multiple intelligences is a theoretical axiom whose structure is a derivative of Kant's metaphysical theory of personality. Gardner's perspective of human intelligence attempts to deconstruct Kant's *a priori* categorical structure. Whereas Kant describes human personality as a homeostatic dialogism that extends Aristotelian "idea", Gardner suggests that personality is not static at all; rather it is in a constant state of flux. While personality cannot be pinned down and truly defined, he argues that it circumnavigates around a central impossibility. Therefore, positive human traits often embody the characteristics of their opposites. Human intelligence is both a reflection of and a collapse of its own categories. This being the case, Gardner tries to reconstruct the disintegration of Kant's faulty construction. Gardner's heteroglossia entails 7 distinct non-Kantian groups. The categories of intelligence proposed by Gardner (1983) are the following:

Bodily-kinesthetic

This area has to do with bodily movement and physiology. In theory, people who have bodily-kinesthetic intelligence should learn better by involving muscular

movement (eg. getting up and moving around into the learning experience), and are generally good at physical activities such as sports or dance. They may enjoy acting or performing, and in general they are good at building and making things. They often learn best by doing something physically, rather than reading or hearing about it. Those with strong bodily-kinesthetic intelligence seem to use what might be termed muscle memory—they remember things through their body such as verbal memory or images. Careers that suit those with this intelligence include: athletes, dancers, musicians, actors, surgeons, doctors, builders, police officers, and soldiers. Although these careers can be duplicated through virtual simulation, they will not produce the actual physical learning that is needed in this intelligence.

Interpersonal

This area has to do with interaction with others. In theory, people who have a high interpersonal intelligence tend to be extroverts, characterized by their sensitivity to others' moods, feelings, temperaments and motivations, and their ability to cooperate in order to work as part of a group. They communicate effectively and empathize easily with others, and may be either leaders or followers. They typically learn best by working with others and often enjoy discussion and debate. Careers that suit those with this intelligence include sales, politicians, managers, teachers, and social workers.

Verbal-linguistic

This area has to do with words, spoken or written. People with high verbal-linguistic intelligence display a facility with words and languages. They are typically good at reading, writing, telling stories and memorizing words along with dates. They tend to learn best by reading, taking notes, listening to lectures, and discussion and debate. They are also frequently skilled at explaining, teaching and oration or persuasive speaking. Those with verbal-linguistic intelligence learn foreign languages very easily as they have high verbal memory and recall, and an ability to understand and manipulate syntax and structure. Careers that suit those with this intelligence include writers, lawyers, philosophers, journalists, politicians, poets, and teachers.

Logical-mathematical

This area has to do with logic, abstractions, reasoning, and numbers. While it is often assumed that those with this intelligence naturally excel in mathematics, chess, computer programming and other logical or numerical activities, a more accurate definition places emphasis on traditional mathematical ability and more reasoning capabilities, abstract patterns of recognition, scientific thinking and investigation, and the ability to perform complex calculations. It correlates strongly with traditional concepts of “intelligence” or IQ. Careers which suit those with this intelligence include scientists, mathematicians, engineers, doctors and economists.

Intrapersonal

This area has to do with introspective and self-reflective capacities. People with intrapersonal intelligence are intuitive and typically introverted. They are skilful at deciphering their own feelings and motivations. This refers to having a deep understanding of the self; what are your strengths/weaknesses, what makes you unique, can you predict your own reactions/emotions.

Careers which suit those with this intelligence include philosophers, psychologists, theologians and writers.

Visual-spatial

This area has to do with vision and spatial judgment. People with strong visual-spatial intelligence are typically very good at visualizing and mentally manipulating objects. Those with strong spatial intelligence are often proficient at solving puzzles. They have a strong visual memory and are often artistically inclined. Those with visual-spatial intelligence also generally have a very good sense of direction and may also have very good hand-eye coordination, although this

is normally seen as a characteristic of the bodily-kinesthetic intelligence.

There appears to be a high correlation between spatial and mathematical abilities, which seems to indicate that these two intelligences are not independent. Since solving a mathematical problem involves manipulating symbols and numbers, spatial intelligence is involved. Careers that suit those with this intelligence include artists, engineers, and architects.

Musical

This area has to do with rhythm, music, and hearing. Those who have a high level of musical-rhythmic intelligence display greater sensitivity to sounds, rhythms, tones, and music. They normally have good pitch and may even have absolute pitch, and are able to sing, play musical instruments, and compose music. Since there is a strong auditory component to this intelligence, those who are strongest in it may learn best via lecture. In addition, they will often use songs or rhythms to learn and memorize information, and may work best with music playing in the background.

Careers that suit those with this intelligence include instrumentalists, singers, conductors, disc-jockeys, orators, writers (to a certain extent) and composers.

Naturalistic

This area has to do with nature, nurturing and relating information to one's natural surroundings. This type of intelligence was not part of Gardner's original theory of Multiple Intelligences, but was added to the theory in 1997. Those with it are said to have greater sensitivity to nature and their place within it, the ability to nurture and grow things, and greater ease in caring for, taming and interacting with animals. They may also be able to discern changes in

weather or similar fluctuations in their natural surroundings. They are also good at recognizing and classifying different species. They must connect a new experience with prior knowledge to truly learn something new.

“Naturalists” learn best when the subject involves collecting and analysing, or is closely related to something prominent in nature; they also don't enjoy learning unfamiliar or seemingly useless subjects with little or no connections to nature. It is advised that naturalistic learners would learn more through being outside or in a kinesthetic way.

The theory behind this intelligence is often criticized, much like the spiritual or existential intelligence, as it is seen by many as not indicative of an intelligence but rather an interest. However, it remains an indispensable intelligence for humans who live almost entirely from nature such as some native populations. Careers which suit those with this intelligence include scientists, naturalists, conservationists, gardeners, and farmers.

Other Intelligences

Other intelligences have been suggested or explored by Gardner and his colleagues, including spiritual, existential and moral intelligence. Gardner excluded spiritual intelligence due to what he perceived as the inability to codify criteria comparable to the other “intelligences”. Existential intelligence (the capacity to raise and reflect on philosophical questions about life, death, and ultimate realities) meets most of the criteria with the exception of identifiable areas of the brain that specialize for this faculty. Moral capacities were excluded because they are normative rather than descriptive.

Savant Syndrome

Gardner used case studies of autistic savants as part of his theory on multiple intelligences. On one hand they have severe mental disabilities and thus impaired social skills, but on the other they have some extraordinary mental abilities not found in most people. The savant syndrome skills involve striking feats of memory and often include arithmetic calculation and sometimes unusual abilities in art or music. There is actually a disproportionate regularity with which the triad of blindness, mental disability and musical genius occurs in savant syndrome. Examples include Derek Paravicini who has severe learning disability but can remember every song he has ever heard.

Others with savant syndrome are not autistic, but develop these abilities later on in life usually as a result of some accident, illness or trauma. For example Alonzo Clemons was a regular child until he suffered brain damage as a result of a fall. Afterwards he learned to create accurate animal sculptures from clay using his photographic memory. Some scientists thus believe that the

potential to be a genius is latent in all people but is obscured by normal functioning intellect. In the case of savants, the damage to the brain has somehow disrupted normal functioning and has allowed the brain to access these latent skills.

Savants are generally viewed as having exceptional spatial intelligence but verbal defects.

References

- Demetriou, A., & Kazi, S. (2006). Self-awareness in g (with processing efficiency and reasoning). *Intelligence*, 34, 297-317.
- Demetriou, A., Mouyi, A., & Spanoudis, G. (2010). The development of mental processing. Nesselroade, J. R. (2010). Methods in the study of life-span human development: Issues and answers. In W. F. Overton (Ed.), *Biology, cognition and methods across the life-span. Volume 1 of the Handbook of life-span development* (pp. 36-55), Editor-in-chief: R. M. Lerner. Hoboken, NJ: Wiley.
- Eysenck, M. W (1994) "Intelligence". In M. W. Eysenck, (ed.), *The Blackwell dictionary of cognitive psychology* (pp. 192-193). Cambridge, Massachusetts: Blackwell Publishers.
- Gardner, Howard. (1983) "Frames of Mind: The Theory of Multiple Intelligences." New York: Basic Books.
- Gardner, Howard. (1993) "Multiple Intelligences: The Theory In Practice." New York: Basic Books.
- Gardner, Howard. (1999) "Intelligence Reframed: Multiple Intelligences for the 21st Century." New York: Basic Books.
- Gardner, Howard. (1998) "A Reply to Perry D. Klein's 'Multiplying the problems of intelligence by eight'" *Canadian Journal of Education*, 23(1), 96-102.
- Gardner, Howard, and Seana Moran. (2006). The science of Multiple Intelligences theory: A response to Lynn Waterhouse. *Educational Psychologist*, Volume 41, Issue 4, Fall 2006.
- Gardner, H. (2004) Changing minds: The art and science of changing our own and other people's minds. Boston: Harvard Business School Press, p. 196.
- Kavale, Kenneth, A., and Steven R. Forness, 1987. "Substance over style: Assessing the efficacy of modality testing and teaching", *Exceptional Children* 54:228-239.
- Klein, Perry, D. (1997) "Multiplying the problems of intelligence by eight: A critique of Gardner's theory", *Canadian Journal of Education*, 22(4), 377-394.
- Klein, Perry, D. (1998) "A response to Howard Gardner: Falsifiability, empirical evidence, and pedagogical usefulness in educational psychology" *Canadian Journal of Education*, 23(1), 103-112.
- Kornhaber, Mindy. (2004) "Psychometric Superiority? Check the Facts"
- Kornhaber, Mindy, Edward Fierros and Shirley Veenema. (2003) "Multiple Intelligences: Best Ideas from Research and Practice".

Bachchwara, Begusarai

New Release

The World of Chemistry

By Dr. Sapna Kumari

Chemistry is the science concerned with the composition, structure, and properties of matter, as well as the changes it undergoes during chemical reactions. It is a physical science for studies of various atoms, molecules, crystals and other aggregates of matter whether in isolation or combination, which incorporates the concepts of energy and entropy in relation to the spontaneity of chemical processes. Modern chemistry evolved out of alchemy following the chemical revolution.

Sociology of Conflict

Dr. Henna Tabassum

Conflict theories are perspectives in social science which emphasize the social, political or material inequality of a social group, which critique the broad socio-political system, or which otherwise detract from structural functionalism and ideological conservatism. Conflict theories draw attention to power differentials, such as class conflict, and generally contrast traditional or historically dominant ideologies. Conflict theory is most commonly associated with Marxism, but as an alleged reaction to functionalism and the positivist method may also be associated with critical theory, feminist theory, queer theory, postmodern theory, post-structural theory, postcolonial theory, and a variety of other perspectives.

Basic conflicts

Conflict theory is a theory, or collection of tenets, which places emphasis on conflict in human society. The discourse of conflict theory or perspectives is on the emergence of conflict and what causes conflict within a particular human society. Or we can say that conflict theory deals with the incompatible aspects of human society. Conflict theory emerged out of the sociology of conflict, crisis and social change. Consensus theory, on the other hand, is a sociological perspective or collection of theories, in which social order and stability/social regulation forms the base of emphasis. In other words consensus theory is concerned with the maintenance or continuation of social order in society; in relation to accepted norms, values, rules and regulations as widely accepted or collectively by the society-or within a particular society-itself. It Emerged out of the sociology of social order and social stability/social regulation.

Conflict theory was elaborated in the United Kingdom by Max Gluckman (1911-1975) and John Rex (1925-...), in the United States by Lewis A. Coser (1913-2003) and Randall Collins (1941-...), and in Germany by Ralf Dahrendorf (1929-2009), all of them being influenced by Ludwig Gumplowicz (1838-1909), Vilfredo Pareto (1848-1923), Georg Simmel (1858-1918), and perhaps most greatly by Karl Marx (1818-1883).

Stratification

Social identity theory (SIT) can restore some coherence to organizational identification, and it can suggest fruitful applications to organizational behaviour. SIT offers a social-psychological perspective, developed principally by Henri Tajfel (1978, 1981; Tajfel & Turner, 1985) and John Turner (1975, 1982, 1984, and 1985). Following a review

of the literature on SIT, the antecedents and consequences of social identification in organizations are discussed. This perspective is then applied to three domains of organizational behaviour: socialization, role conflict and intergroup relations Social Identity Theory

According to SIT, people tend to classify themselves and others into various social categories, such as organizational membership, religious affiliation, gender, and age cohort. As these examples suggest, people may be classified in various categories, and different individuals may utilize different categorization schemes. Categories are defined by prototypical characteristics abstracted from the members. Social classification serves two functions. First, it cognitively

Fisher argues that intergroup conflicts arise from objective differences of interest, coupled with antagonistic or controlling attitudes or behaviours. Incompatibilities, which can prompt conflict, include economic, power or value differences, or differences in needs-satisfaction. Often intergroup conflicts have a mixture of these elements.

These incompatibilities can then be exacerbated into destructive intergroup conflict by common perceptual and cognitive processes. The very act of group categorization tends to create some in-group favouritism. Conflict between groups encourages negative stereotyping of the opposing group. Cognitive biases lead individuals to attribute positive personal characteristics to fellow in-group members and excuse their negative behaviours. At the same time, such biases lead people to attribute negative characteristics to out-group members and explain away any positive behaviours.

Education

Children enter school with a wide range of knowledge and physical, social, emotional, linguistic, and cognitive skills. Because wealthier families spend much more money on their children's school preparation when compared with their poorer counterparts, children from lower income families whose knowledge and skills are far behind those of their classmates from wealthier families enter school at a disadvantage. If these delayed children are unable to catch up, they face greater challenges throughout their school careers have indicated that the racial gap in achievement scores of high schools students is oftentimes already evident when children first began school. With regard to preschool training, according to, children living in poverty are much less likely than are non-poor children to be able

to recognize the letters of the alphabet, count higher, write their name, or read. Furthermore, children's cognitive/literacy school readiness skills are higher among those with more educated mothers have also noted that children from higher class families are more likely to have a home environment that provides the intellectual skills they need to do well in school. Because of this early preparation, many researchers have found that middle-upper class children are already ahead of lower-class children in intellectual ability before the first year of school.

Once children get to school, poorer students, who are already less readily prepared for school when compared with their non-poor counterparts, typically face additional hardships with regard to school quality. School quality varies by neighbourhood socioeconomic status. Because schools are funded by local property taxes, there are large differences in per-pupil expenditures such that expenditures in the richest 5% of schools are more than twice the expenditures in the poorest 5%. In addition to these economic measures, there are large differences in many non-economic measures of school quality such as school violence, the number of AP course offerings, and the extent of the school's library collections. School differences such as these influence the degree of education that students obtain and perpetuate continual income and race differentials in the education system.

As confirmed by through data collected from public schools, tracking is another means by which education structures inequality. A large percentage of U.S. public schools follow the practice of placing children in different tracks that prepare some students for college and others for vocational skills that do not lead to college. Factors such as measured intellectual skills and class

background, influence track placement. Because cognitive skills and academic performance are influenced by class background and race, the effect is the similar: tracking tends to separate children by class and race and limits opportunities for students to move from one academic track to another have confirmed this criticism of educational tracking by showing that children in the college-prep track improve in academic achievement over the years, while those in the lower track perform at lower levels propose that this differential achievement in school occurs because of the different expectations of administrators, teachers, and parents for students in the separate tracks. Evidence such as the previous, and results from studies comparing differences in tracked and non-tracked educational systems, confirm that the reinforcement of schooling practices such as tracking increases educational inequality, reinforces class differences, and differentiates children in terms of family background.

With respect to Conflict Theory, employment requirements reflect the efforts of the bourgeoisie or the upper class to monopolize or dominate jobs by imposing their cultural standards on the selection process examined, educational upgrading as a means of maintaining class boundaries noted that when college degrees were much more limited and the middle class typically had only high school degrees, middle class occupations required a high school degree. However, as more middle class Americans obtained college degrees and more of the working class obtained high school degrees, middle class occupations were upgraded so that they required a college degree argued that education is a certification of class membership more than of technical skills and certifies that people have learned to

respect the authority, and accept the values, ideals, and system of inequality in the occupational structure. Furthermore, postulate that the educational system teaches people to properly subordinate to reproduce social relations of production by valuing the cultural capital of the upper class and devaluing the cultural capital of the lower class. In other words, schools train the wealthy to take up places at the top of the economy while conditioning the poor to accept their lowly status in the class structure.

References

1. Lee, V., & Burkam, D. (2002). *Inequality at the Starting Gate: Social Background Differences in Achievement of Children in School*. Washington, D.C.: Economic Policy Institute.
2. Jencks, C., Smith, M., Acland, H., Bane, M. J., Cohen, D., Gintis, H., et al. (1972). *Inequality: A Reassessment of the Effect of Family and Schooling in America*. Basic Books, Inc.
3. (Card, David E. and Krueger, Alan B. (1996). Labor market effects of school quality: Theory and evidence. NBER Working Paper No. W5450.
4. Oakes, J. 2005. *Keeping track: How schools structure inequality*. Yale University Press, New Haven, CT.
5. Talbert, J. & Ennis, M. (1990). *Teacher tracking: Exacerbating inequalities in the high school*. Centre for Research on the Context of Teaching, Stanford University
6. Alexander, K., & Cook, M. (1982). *Curricula and coursework: A surprise ending to a familiar story*. *American Sociological Review*, 626-640.
7. Bowles, S., & Gintis, H. (1976). *Schooling in Capitalist America: Educational Reform and the Contradictions of Economic Life*. Routledge.
8. Hanushek, E. (2005). *Does educational tracking affect performance and inequality? Differences-in-differences evidence across countries*. National Bureau of Economic Research.
9. Collins, R. (1971). *Functional and conflict theories of educational stratification*. *American Sociological Review*, 1002-1019.
10. Ragunathan, Victor (2006-04-07). "War is a Complex, Multi-Symptom Disease". Ilnkai Tamil Sangam.

Head PG Dept. of Sociology
A.N. College, Patna

Higher Education & Sustainable Development

Dr. Chandrakant Singh

Education is one of the major tools, which provides individuals the necessary based skills and knowledge to assume qualifications to in society economic roles and consequently improve their socio-economic status. Higher education has much importance as it provides not only requisite expertise for ones future economic participation but also acts as revolutionary force which is assumed to liberate one from traditional bonds and protect them from subjugation and exploitation. Higher education is of special significance and relevance in so far as the entry into professions is concerned. It serves as powerful tool and positive intervention that can transform the lives of masses and improve their standard and style of living and thus promotes the well being of a nation. There can be no doubt that higher education has made a significant contribution to economic development, social progress and political democracy in independent India.

The system of higher education in India faces serious challenges and it needs a systematic overhaul, so that we can educate much larger numbers without diluting academic standards. This is imperative because the transformation of economy and society in the twenty-first century would depend, in significant part, on the spread and the quality of education among our people, particularly in the sphere of higher education.

Higher education is the most important part of sustainable development and at the same time it is the most important means to achieve it. Universities are indispensable because they are vital part of the social system and they immensely contribute to it. The higher education which is the important part of the social system must make original and indigenous contribution in innovating, organizing and using knowledge as per needs and aspirations of the society. Development model of present postmodern societies of the West is based on pragmatic consideration of their own societies.

A model of development cannot be adopted only because of its success in an alien society having altogether different social architecture. But most of the scientific knowledge and technology used for developmental processes in the developing countries like us are directly

borrowed from the west or appropriated with little modifications. The developmental plan, strategy and tools are based on western models.

As a consequence the universities in India are generally modelled on western curricula and in the name of globalization the trend is getting stronger. This is one of the important reasons behind third world countries not making original contributions to the development processes. Mahatma Gandhi had greatly emphasized the learning of our own processes of doing things instead of borrowing from others. He says "If you give me rice, I'll eat today; if you teach me how to grow rice, I'll eat every day."

The Dr. S. Radhakrishnan Commission on University Education, 1948, defined the very important tasks of higher education thus: "Democracy depends for its very life on a high standard of general, vocational and professional education. Dissemination of learning, incessant search for new knowledge, unceasing effort to plumb the meaning of life, provision of professional education to satisfy occupational needs of our society are the vital tasks of higher education." Thus a system of education that could hopefully serve development needs and ensure social justice was put in place.

It is emphasized that imparting higher education was the responsibility of the government and recommended the creation of the University Grants Commission. However, it disapproved of government control in the matter of determining subjects and prescribing syllabi. The D.S. Kothari Commission on Education came out with a progressive and important report in 1966. It suggested the restructuring of education into a uniform pattern of 10+2+3. It adopted a "manpower approach" to the enrolment issue and declared that the principal purpose of higher education was to cater to the needs of industrial and other sectors, even as it acknowledged its role in promoting social transformation.

Since 1980s the state started to abandon its responsibilities in the areas of education citing financial crunch due to gradual adoption of neo liberal economy

policy and related political developments. The New Education Policy introduced by the Rajeev Gandhi government in 1986 paved the way for large-scale participation of the private sector in education. Although the New Education Policy accepted the concept of education for all, it favoured greater participation by the private sector.

India has 369 universities, of which about 100 are private institutions. Of the 17,700 colleges, only 4,300 are government-run. Of the rest, 7,650 are under unaided private managements and 5,750 under aided private managements. Significantly, private professional colleges account for the majority of the students who have entered the portals of higher learning in the last 10 years. A substantial number of these private institutions bother very little about the quality of education they offer at exorbitant prices. This crass commercialization makes higher education the preserve of the rich, creates an imbalance in the courses offered and leads to a fall in standards.

Privatization of higher education is controversial in India because it is basically market driven, excellence is not a priority. In February 2005, the Supreme Court declared illegal 112 private universities created in the Central Indian State of Chhattisgarh in the last two years with the State Government approval. A petition filed by Yashpal, former Chairman of the University Grants Commission, which oversees education in India, prompted the court's ruling. He said that the private universities in many places were no more than teaching 'shops' held in shopping complexes, without basic infrastructure, staff or finances.

In January, Prathap Narain Srivastava, former vice-chancellor of

Jawaharlal Nehru University in Delhi, told the Indian Science Congress in Ahmedabad that 'unfortunately a good percentage of private institutions (In India) provide only low quality education while charging very high fees.' P.M. Bhargava said that India's private universities must be strictly regulated.

The NKC has dwelt upon building the excellence in the educational system to meet the knowledge challenges of the 21st century and increase India's competitive advantage in the field of knowledge. 'Knowledge Creation' is one of the focus areas of the Commission's recommendations in which it has emphasized the creation of self sufficiency by promoting indigenous research especially in a Science & Technology. It says that 'S&T has the ability to accelerate parallel knowledge objectives' leading to economic growth and security.' In a other focus area i.e. 'Knowledge Application' it says that application of knowledge should not be directionless. Knowledge should be applied in various fields like agriculture, health, education, industry where productivity can be enhanced. But it should have taken up the issue of higher education for sustainable development more overtly in terms of its process and content.

Process and content of higher education is indispensable for sustainable development. Human capital comprises learner skills which alone can create intellectual capital, reservoir of knowledge, insights and technology. The curricular process that can achieve these goals should be comprehensive to create programmes and courses that match them. The curricular content itself should be determined by needs of sustainable development. Courses may be

developed around the above frontline needs.

Awareness and concerns towards frontline needs are among indispensable goals. The curricular structure reflects the goals. As a result of modern curricular contents science is galloping at a breath-taking speed in developed countries. The rate of new knowledge generation has increased manifold. Scientific breakthroughs are taking place at a very high speed. But lack of awareness and concerns towards humane and egalitarian society becoming our indispensable goals has posed great threat to sustainability of our developmental processes. For example, genetically engineered crops may be threat to soil fertility. Without soil food web, plants obtain the nutrients necessary for growth.

With technological advances we face problems with E-waste. We succumb to natural calamities like earth quakes, floods, famine etc. It is therefore necessary that nature conservation, rainwater harvesting, solid waste management, used of solar energy, proper planning of tall buildings should also be included in curriculum.

Mahatma Gandhi said at Trivandrum in 1925: 'I think we cannot live without science if we keep it in its right place. But I have learnt so much during my wandering in the world about them misuse of science that I have often remarked, or made such remarks, as would lead people to consider that I was really an opponent of science. In my humble opinion there are limitations even to scientific research and limitations that I place upon scientific search are limitations that humanity imposes upon us. In fact Mahatma Gandhi envisioned the sustainable approach towards science and technology much

before world is talking of it today. Use of science and technology demands wisdom which is not lost in knowledge. In the words of T.S. Eliot: 'Where is the wisdom that we have lost in knowledge; where is knowledge that we have lost in information?' The cycles of heaven in the present century bring us farther from God and nearer to dust.

As for the entry of foreign institution, it should have provided clear guidelines so that standard degrees are provided, and the leaning of Indian students towards foreign degrees is not exploited. M. Anandkrishnan felt that no serious attention had been paid to the issue of political interference in higher education, which came in the form of packing the governing bodies of universities with political appointees.

Higher education cannot be seen in isolation from school education. Unless quality universal school education becomes a reality, inclusive higher education will remain a distant dream. The National Knowledge Commission believes that "expansion and reform of our school system is necessary to ensure that every child has an equal opportunity to enter the world of higher education;" but what prompted it to push the study of this "crucial area" of school education to the back burner is difficult to understand.

Education is the fundamental mechanism for social inclusion through the creation of more opportunities. It is, therefore, essential to ensure that no student is denied the opportunity to participate in higher education due to financial constraints. It may proposed the following measures:-

1. Institutions of higher education should be encouraged to adopt

a needs blind admissions policy. This would make it unlawful for educational institutions to take into account any financial factor while deciding whether or not to admit a student.

2. There must be a well-funded and extensive National Scholarship Scheme targeting economically underprivileged students and students from historically socially disadvantaged groups.
3. "A major aim of the higher education system must be to ensure that access to education for economically and historically socially underprivileged students is enhanced in a substantially more effective manner.
4. Reservations are essential but they are only a part, and one form, of affirmative action.
5. Disparities in educational attainments are related to caste and social groups, but are also strongly related to other indicators such as income, gender, region and place of residence."

The recommendations require action at three different levels: reforms within existing systems, changes in policies, and amendments in, or the introduction of, new statutes or legislation. The suggested changes would also be implemented at three different levels: universities, state governments and the central government.

The development of any society is not possible without inclusion of the common mass in the processes of development. University is an important agency for generating required knowledge for better understanding of human problems;

disseminating knowledge for high level of awareness in human problems and assimilating knowledge in various developmental processes. The inbuilt role of a university requires inclusion of all those who desire to study here and ensures quality education to all of them. Equity has hardly any meaning until high participation especially from marginalized mass is ensured and efforts are made to bring qualitative changes into them.

Higher education's has a development philosophy to provide a well knit remedial measure for sustainable development. Let it be participative, prompt, transparent and fair for a developed India in coming decades.

REFERENCES

1. Verma, J.S.(2004), "Education, Sustainable Development and the Human Rights Approach", in Quality Higher Education and Sustainable Development-NAAC Decennial Lectures. Bangalore:NAAC.
2. Ghosh, S.C.(1995), The History of Education in Modern India 1757-1986, Delhi: Orient Longman.
3. Kumar, Khagendra (2000), Understanding A People's Science Movement, Patna: Janaki p.xii.
4. National Knowledge Commission Report, 2006.
5. NKC (2006) Higher Education Letter, 29 Nov.
6. Nagashetty Mallikarjun, Swami Prabhu, Women in Medical and Engineering Education: A study of Karnataka. 3rd concept September, 08.
7. Dr. Kumar Khagendra, Higher Education Through NKC. 3rd concept Jan, 08.
8. Barker, Kashryn, "Lifelong leaving Policy Framework for HRDC" 1998.
9. Amit Rahul, (2008) Lifelong learning : Problems and prospects, Third World Impact, July-September, 2008

**Lecturer, Deptt. of
Economics, Nitishwar Singh
College, Sarmastpur, Distt-
Muzaffarpur (Bihar)**

Global Recession : Opportunities and Challenges : A Theoretical Probe

Dr. Chandrama Singh

Abstract

The global economic recession started from the USA and gripping in its fold nearby all countries is an inevitable result of contradiction inherent in capitalist system. The efforts made on the part of governments to restrict the crisis by providing economic packages are nothing more than socialization of losses and meeting them with public money to save the financial oligarchy.

The only way out to empower the crisis is to raise the income of the common people by the imposition of restriction on accumulation of wealth and national income in a few hands. The problem is related more to the capitalist system than any other factor. The measures initiated by governments, including the government of India, are irroneous, because they, instead of raising the financial capacity of purchasers make addition to the wealth of big capital, and thus prepare grounds for a greater crisis in future.

The apologists of globalization, marketization and free flow of capital, now a days, have hardly been struck, on ideological plank, by the global economic meltdown that has widened itself all over the world and has forced the world economy to face a tsunami type economic crisis. All sorts of opinions, at every place, right from the intellectual debates to business circles, are engaged in discussing the severity and impacts of the global economic crisis and making its comparison with the great economic depression of 1930's. Even the persons like Francis Fukuyama, who was widely appraised for his writing, *The End of History and the Last Man* by the pro-imperialist economists and the apologists of neo-liberalism in the decade of 1990's, now, have taken a complete about-turn position and has inferred that capitalism has lost its relevance. But still there is no paucity of propaganda that the economic tsunami, that has commenced globally, has opened new vistas for the world capitalism to exploit the occasion for future prosperity and advance of capitalism. Even in deciding the titles of this debate the deciders are not seemed to be immune without being influenced by the myths/misleading

facts about global economic recession otherwise they could not have seen "opportunities" in this economic meltdown.

The analysis and impacts of the present day global financial crisis can hardly be understood without its examination in a theoretical framework-mere placing of date related to acceleration or deceleration in the percentage of growth rate or stock market is nothing but to place the fact in distorted way. In spite of their varied ideological gestures the economists of all shades agree at least, on one point that the present crisis is a financial crisis that has started in the US financial market and gradual embraced in its fold the financial markets of other countries. Some structural changes that took place in the global capitalism triggered the present crisis in financial market instead of in real economy. The imperialist apologists and some other intellectuals agree that world capitalism is in crisis and gave suggestions how to bail out the world from this crisis but none of them gives straight answer to the question why the crisis has happened and how-the basic question tracing which its impacts can be assessed and amelioration can be assured. This requires a theoretical probe into the entire problem-gamut.

To begin with this short extract will be much helpful to have a theoretical understanding of the issue to be debated: ".....it is necessary to make a distinction here between the reality of what capitalism produces i.e. the expansion of capital, and the concept of development. The first phenomenon, studied as a social reality, must be considered on two levels, that of its immanent (abstract) tendencies and that of its historical (concrete) reality. The concept of development, on other hand, is, by nature, ideological. It enables one to judge results according to criteria that have been drawn up *a priori*-the same criteria that contribute to the definition of a social project." A single fact will suffice to explain how speedily world capitalism is generating capital eg. nearby 49 trillions dollar appear daily in stock markets of various countries and earn huge profit without producing any commodity for being used by society. Even the huge profits they earn never get

themselves engaged in production or installation of any such industrial unit as can be a production centre for the production of goods and services demanded by society rather they again, come back to financial market, for the same gambling. Such widening of capital, in amount, does increase the income of the share brokers and others, including the concerned companies, but can not be said to be the development of the economy-it is expansion of capital not development.

The expansion of capital in a market economy has its own feature which has made itself distinct, or peared in a distinct way than what the classical theory of capitalism had endorsed. In 18th century the classical economists, who adhered the theory of demand and supply as the main determinant of economic activities postulated that in real economy there will not be any shortage of demand. After some adjustment supplies will always equalise demands and economy will go smoothly. But the great depression that hit the world economy in the decade of 1930's, proved that their theory was wrong, not congenial to the emerging new production relation under the aegis of more developed instruments of production. First of all Keynes² contradicted this theory and said that demand does not always equal supply and fall short of supply³ and it was the responsibility of the government to fill the gap, thus arisen. But Keynes also failed to explain why demand falls short of supply. Keynes did not perceive that over production and tendencies to stagnation are inherent characteristics of capitalism. The bail out packages recommended to prizefighters are superfluous, temporary and self-limiting. Even some of the apologists of neo-liberalism have tried to explain what

Keynes and others did not attempt or fail to explain. Among them one, whose mention is required here is the ex-governor of Reserve Bank of India, Y.V. Reddy, who has traced out 10 causes for global economic crisis. Among these 10 causes one, which he has mentioned as second cause, unvaquely says: "In many countries, micro economic policies in the recent past resulted in gross inequalities in the income and wealth. For example, median wage was constant in real terms despite the growth in output in the US. Consequently, there has been a deficiency in aggregate demand, which was not manifest as long as the illusion of economic activity was maintained by the excessive development of the financial sector. These excesses in the financial sector created an illusion of sustainable activity in the real sector for quite some time, but it could not last. The sub-prime crisis of the US was only one of the symptoms of the lack of aggregate demand, coupled with excessive financialization of the economy and excessive beverage (that is utilising a far larger proportion of borrowed or other's money relative to one's own in undertaking risky business)"⁴.

In the extract, quoted above, what Y.V. Reddy infers as reason for present day crisis is that the recent neo-liberal policy resulted in concentration of wealth with capitalist, decline in aggregate demand, the financialization of global economy, specially the US economy, and booms and burst in the US economy. The sub-prime crisis in the US economy was only one of symptoms of the crisis. His argument about the reason to cause the crisis implies that the main cause for the crisis is inequality in income and wealth.

Mr. Y. V. Reddy is correct, to a great extent, in his postulation, as in

capitalism income and wealth concentrate with a few capitalists and labouring masses get impoverished-the masses whose expenditure constitutes a major part of the total expenditure on output produced. It, thus, leads to a situation in which capitalists can not sell their produces and extract profit. This is a major contradiction in capitalism. The tendencies to over production and stagnation are inherent in capitalism and to that sequel the crisis is failure of the system and not any single cause like sub-prime that has caused the crisis. The bailout packages, the governments are giving, rule out any possibility of success, they do not restrict the primacy of profit making and accumulation of wealth.

The present economic crisis started in the US, which is the largest economy of the world as well as the motor engine to pull the world economy. To have a closer understanding of the inner cardinality of the economic crisis let us see the present economic inequality, shortage of aggregate demands and financialization of the economy, over production and stagnation in the US economy, for drawing inferences in Indian context.

Since the last decades of 19th century the US economy has experienced a structural change and that is, its transformation from the economy of free competition to monopolistic economy. The speciality of the monopoly capitalism is that if the producers fail to sell their products they do not cut prices, but cut the output and use their industrial capacities partially. In that circumstances new investments do not get any impetus rather many old industrial units are laid off and closed owing to which workers are retrenched. This feature of monopoly capital has been explained by

economists like Paul M. Sweezy and Paul A. Baran⁵ and also by Joseph Sleindl⁶. In their theorization they see a matured monopoly capitalism which is dominated by its own contradiction. The very growth of its productive potentials put in superable obstacles in the way of making full use of available human and material resources for the satisfaction of the demands of the great masses of the population. This postulation underscores three factors in the modern accumulation process, each of them influencing the other:

1. The fact that prices are largely stuck in the downward direction in the monopoly capitalist markets, leading firms compensate for demand decline by their capacity utilization rather than lowering prices.
2. There is close correspondence between decline in capacity utilization and stagnant investment with the growth in excess capacity creating accumulative process inhibiting further investment.
3. The reality that individual giant corporations in reducing investment to prevent further build up of excess capacity within their own firm only intensify the economy wide problem of rising excess capacity and declining investment. For Steindl and for Paul Sweezy and Paul A. Baran these three factors helped to account for the economic stagnation of 1930's.⁷ These factors are equally accountable for present day stagnation with respect to financial stagnation and crisis. The whole sphere of production has gone saturated with capital, with result that the profit increasingly enters into speculation. Now, the new

speculation meets with difficulties for getting itself employed and this condition has arisen due to surplus in the branches of production and over supply of loan capital. This plethora of loanable money capital merely shows the limitation of capitalist production. This subsequent credit swindle proves that no real obstacle stands in the way of the employment of this surplus capital. However, an obstacle appears to be imminent in its law of expansion eg. in the limit in which capital can realise itself as capital.

The economic data released at the end of April this year shows how grim was the economic state of the US in early 2009. Industrial production in the first quarter of the year (2009) dropped by an annual rate of 20 percent while the manufacturing capacity utilization decelerated at 65.8 percent in March, the lowest level over experienced since 1942. The present crisis, therefore, can not be seen as a mere financial shock like sub-prime mortgages but is embedded in some way in the real economy and the process of capital accumulation. However, all apologists of capitalism like Krugman, and Joseph Stiglitz do not accept that capitalism is an inherently contradictory historical system which displays increasing irrationality in its later stages, but the laws of motion of capitalism explain that in the process of accumulation of capital, centralization and concentration of capital and accumulation of wealth with minority and impoverishment of majority is bound to take place. The consumption expenditure constitutes a major part of aggregate demands and the majority people spend major share of their disposable income on

consumption. Hence the domestic demands are closely related to distribution of income.

Even the adherents of finance capitalism in western world are found to give thoughts on what Marx has written about periodic capitalist crisis, but it is doubtful that they will take any lesson from Marx. Marx has written: The real barriers of capitalist production is capital itself. The limit within which the preservation and self-expansion of value of capital rests on the expropriation and pauperization of great mass of producers can alone move these limit come continually into conflict in the method of production employed by capital for its purposes which drive towards unlimited extension of production towards production as an end in itself towards unconditional development of the productive forces of society come continually into conflict with the limited purpose the self-expansion of the existing capital. Those apologists of neo-liberalism, who open today Marx *Capital* to get themselves acquainted with the reasons for present crisis, should know that Marx has unvaguely illustrated: "The ultimate reason for all real crisis always remains the poverty and restricted consumption of the masses as supposed to the drive of capitalist production to develop the productive forces as though only the absolute consuming power of society constituted their limits."⁸

The key element that explains the whole dynamics is to be found in the falling ratio of wages and salaries, as a percentage of national income of the countries which are hit by the crisis. A single figure can explain the dynamics of developing income inequality in the US. In US the top 1 percent of wealth holders in 2001 together owned more than twice as much as the bottom 80 percent of the population. In the United States

between 2003 and 2007 executive managers pay grew in real term by a total of 45 percent in the average of American workers. Hence by 2007 the average executive manager in 15 largest US firms earned more than 500 times the average employee compared with over 300 times in 2003.⁹ In the report, prepared by the International Institute for Labour Studies, ILO for 2008, it was categorically stated that from early 1990's, during the period of expansion, labour share of income has been declining and the expansion went hand in hand with wider income inequality and any growth with income inequality was unable to produce rapid economic advance for any length of time and was unsustainable.¹⁰

In 2008 a bail out package was introduced mainly with the purpose to bail out financial institutions and socialization of losses with tax payers money. When no restriction seemed to be apparent some more packages were introduced to bail out financial institutions like Fannie Mae, Freddie Mae, AIG and Bear Stearns.

In India Manmohan Singh government, following the pattern of America and other European countries, is taking steps to socialization of the losses incurred and to bail out the companies and financial sector by extension of economic packages from tax payers money. This sort of devices will never ameliorate the causes of the crisis. Even the 1930's example of depression shows that huge work programme that provided employment with fair wages that involved huge expenditure by American government bailed out the economy. When Roosevelt administration, with first phase of New Deal, tried to balance the budget the recovery that had been taking place since 1933, suddenly came to a

halt prior to full recovery. In fact, world war second saved the situation, not Roosevelt's too timid approach to deficit financing in the New Deal.

Therefore, to restrict the crisis what is demanded today is not the financial package to bail out the financial oligarchy by providing the financial system with tax payers money but the Keynesian demand management policy that is expansionary fiscal and monetary policies. The problem for US started in 2008-09 with chronic indebtedness. The US debt now stands at 11.5 trillion dollar and interest payment on the debt costs 45.2 billion dollar. The US budget deficit has topped 1 trillion dollar for the first time and could go to 2 trillion dollar by this fall. The costs of war in Iraq and Afghanistan are major factors to add to this deficit. The investors from China and other countries have now, started to have concern about not only the value of dollar but also that how safe their investments will be in the long run. This problem is exacerbated by ideological reluctance on the part of some vested interests, who oppose expenditure by government on welfare programmes. The rapid paces with which employees in India are retrenched, new employment opportunities have been sacked and companies are rationalizing their production affairs by closing their production units are symptom of giving the crisis a new boost. Recently India has received a large amount of loan from IMF and the objective behind it being to assist the system to bring it on right track but it will worsen the condition more because the payment of interest etc. will impose financial limitation on govern to take even the small measures for amelioration of conditions that have caused the crisis.

The growing price rise in India has been caused not due to scarcity

of commodities but due to a nefarious mechanism through which big capital seeks to obtain profit by the sell of lesser goods and commodities. This is a clear indication that the reduction in purchasing power of the common people will adversely affect the market and aid to recessionist factors to appear in greater and wide form. Those who see in the crisis avenues or opportunities to make the economy stronger are mistaken people as the only thing that the recession has brought is financial and economic odd. To come out of this recession there is only way out and that is to increase the financial capabilities of common people by the imposition of restriction on accumulation of capital and wealth in a few hands and the moulding of the system in direction of getting it transformed into a system based on the principled growth with social justice. All sorts of packages granted to save the financial oligarchy would add to the crisis and create condition for a more severe crisis in future.

References:

1. Samir Amin, *Capitalism in the Age of Globalization*, Madhyam Books, 1997, p.14.
2. Sal, Keynes, *General theory of Employment*, 1936.
3. Sal, Keynes, *General theory of Employment*, 1936.
4. Y.V. Reddy, *India and the Global Financial Crisis*, p.340.
5. For details worthreading is : Paul N. Sweezy and Paul A. Baran, *Monopoly Capital*.
6. Joseph Steindle, *Maturity and Stagnation in American Capitalism*.
7. Joseph Steindle, *Maturity and Stagnation in American Capitalism*.
8. K. Marx, *Capital*, Vol. 3.
9. International Institute for Labour Studies ILO, *World of Work Report*, 2003.
10. International Institute for Labour Studies ILO, *World of Work Report*, 2003.

Dean & Professor, Faculty of Commerce, Patna University, Patna

Ethics in Small Business

A.R. Shafi

Business ethics set the standard for how your business is conducted. They define the value system of how your operate in the marketplace and within your business. With legal scandals concerning insider trading and employee theft making the news, it is no wonder that businesses are increasingly giving attention to the ethical basis of their business and how to lead in an ethical way.

While the examples above seem to be clear cut breaches of ethics, many ethical dilemmas that not so clear cut are faced on a daily basis in business. In fact, there may not even be a “right” or “wrong” answer to the dilemma, but how you deal with it will say much about you and your business. These decisions are often referred to as being in the “gray” area. They are not black-or-white, but could be argued appropriately either way.

Here is an example. Jane has been operating a consulting business for about a year and has been doing very well. About a month ago, she decided she needed to hire someone to help her. After interviewing several candidates, she decided to hire the best one of the group, Sara. She called Sara on Monday to tell her she had gotten the job. They both agreed that she would start the following Monday and that Sara could come in and fill out all of the hiring paperwork at that time.

On Tuesday, of the same week, a friend of Jane’s called her to say that she had found the perfect person for Jane. Jane explained that she had already hired someone, but the friend insisted. “Just meet Kim. Who knows, maybe you might want to hire her in the future!” Rather reluctantly, Jane consented. “All right, if she can come in tomorrow, I’ll meet with her, but that’s all.” “Oh, I’m so glad. I just know you’re going to like her!” Jane’s friend exclaimed.

And Jane did like her. She like her a lot. Jane had met with Kim on Wednesday morning. She was everything that Jane had been looking for and more. In terms of experience, Kim far surpassed any of the candidates Jane had previously interviewed, including Sara. On top of that, she was willing to bring in clients of her own which would only increase business. All in all, Jane knew this was a win-win situation. But what about Sara? She had already given her word to Sara that she could start work on Monday.

And yet she only had the resources to hire one person

at this point. Clearly, the best business decision was to hire Kim. But what about the ethical decision? If her business did poorly or Sara couldn’t provide enough support, the business would suffer. As a result, her family would suffer. Money was already tight, what with two boys in college. And yet she knew Sara also had a family she was supporting. Plus, she had been so enthusiastic about starting to work.

Obviously, Jane had a problem-an ethical problem. Should she hire Sara (whom she’d already given her word) or Kim (who was obviously the best person for the job)? Questions like these touch on our deepest values. Depending on who you would ask, you would get strong arguments for both decisions. This is what we mean when we talk about “gray” area. So what is the answer?

According to Kenneth Blanchard and Norman Vincent Peale, authors of *The Power of Ethical Management*, there are three questions you should ask yourself whenever you are faced with an ethical dilemma.

- *Is it legal?* In other words, will you be violating any criminal laws, civil laws or company policies by engaging in this activity?
- *Is it balanced?* Is it fair to all parties concerned both in the short-term as well as the long-term? Is this a win-win situation for those directly as well as indirectly involved?
- *Is it right?* Most of us know the difference between right and wrong, but when push comes to shove, how does this decision make you feel about yourself? Are you proud of yourself for making this decision? Would you like others to know you made the decision you did?

Most of the time, when dealing with “gray decisions”, just one of these questions is not enough. But by taking the time to reflect on all three, you will often times find that the answer becomes very clear.

Many businesses are developing an Ethics Policy to clearly state what employees and customers should expect. This not only defines for your employees what you consider to be inappropriate actions, but also sends a clear message about who you are and what is important to you. A number of the resources listed below in the “Related” section provide further information about training in ethics, setting

up ethics policies, and ethical dilemmas faced by others and how they handled them.

Research indicates that the integrity demonstrated by your business can have a positive effect on your bottom line. The challenge is to not only believe and voice your ethical principles, but to also practice them in all your business transactions. When the world knows that your business can be trusted to act ethically, you will see the results in lower employee turnover and better customer relations-both well-documented as being critical to business survival. The old adage that “what you sow, you will reap” also supports this premise. Sow the seeds of ethical values in your business and you will see it return in value to your business.

Objectives of Small Business

When a sole trader sets up they may have some unstated aims or objectives-for example to survive for the first year. Other businesses may wish to state exactly what they are aiming to do, such as Amazon, the Internet CD and bookseller, who wants to “make history and have fun”. An aim is where the business wants to go in the future, its goals. It is a statement of purpose, e.g. we want to grow the business into Europe. Business objectives are the stated, measurable targets of how to achieve business aims. For instance, we want to achieve sales of •10 million in European markets in 2004. A mission statement sets out the business vision and values that enables employees, managers, customers and even suppliers to understand the underlying basis for the actions of the business.

Business Objectives

Objectives give the business a clearly defined target. Plans can then be made to achieve these targets. This can motivate the employees. It also enables the business to measure the progress towards to its stated aims.

The most Effective Business Objectives meet the Following Criteria:

- *S-Specific*—objectives are aimed at what the business does, e.g. a hotel might have an objective of filling 60% of its beds a night during October, an objective specific to that business.
- *M-Measurable*—the business can put a value to the objective, e.g. •10,000 in sales in the next half year of trading.
- *A-Agreed* by all those concerned in trying to achieve the objective.
- *R-Realistic*—the objective should be challenging, but it should also be able to be achieved by the resources available.
- *T-Time specific*—they have a time limit of when the objective should be achieved, e.g. by the end of the year.

The main Objectives that a Business might have are:

- *Survival*—a short term objective, probably for small business just starting out, or when a new firm enters the market or at a time of crisis.
- *Profit maximization*—try to make the most profit possible—most like to be the aim of the owners and shareholders.
- *Profit satisficing*—try to make enough profit to keep the owners comfortable—probably the aim of smaller businesses

whose owners do not want to work longer hours.

- *Sales growth*—where the business tries to make as many sales as possible. This may be because the managers believe that the survival of the business depends on being large. Large businesses can also benefit from economies of scale.

A Business may find that some of their Objectives Conflict with one and other:

- *Growth versus profit*: for example, achieving higher sales in the short term (e.g. by cutting prices) will reduce short-term profit.
- *Short-term versus long-term*: for example, a business may decide to accept lower cash flows in the short-term whilst it invests heavily in new products or plant and equipment.
- Large investors in the Stock Exchange are often accused of looking too much at short-term objectives and company performance rather than investing in a business for the long-term.

References

- The Small Business Economy - A Report to the President: 2001.
- The Small Business Economy - A Report to the President: 2008.
- Longenecker, Justin G.; Carlos W. Moore, J. William Petty, Leslie E. Palich (2008) (Casebound). Small business management : launching and growing entrepreneurial ventures. (14th ed.). Cengage Learning
- Small Business and Self-Employed One-Stop Resource
- Characteristics of Small Business Employees and Owners 1997.

**PG Dept of Commerce,
Rajendra College, Chapra**

Entrepreneurism During a Recession

Nitishwar Prasad

When people are out of work and jobs are scarce, interest in starting your own business rises. If there are no jobs, one solution is to make one. But, what is the best one to start where you can have an income flow immediately and not be burdened with too much monetary outlay up front? For starters, don't respond to the "make executive pay at home" or similar ads. These are almost always scams that will take whatever financial resources you have and give you nothing in return. The Federal Trade Commission keeps an extensive list of scanners. If you are tempted by one, search online to see what people are saying about it or search on the keywords "work-at-home" scams. It is appalling how many people are trying to take advantage of ordinary folks who are desperate. Here are some better ways to get some cash flow during tight economic times.

Freelance at your Old Job

The most obvious choice is to become an independent contractor or consultant in an area that you have some expertise. There are numerous freelance websites that link independent contractors with job opportunities. One outcome of tight budgets is that many businesses are closing whole departments and outsourcing many of their standard needs to avoid the overhead of office space and benefits for employees.

If you do decide to go the freelance, independent contractor route, do it professionally. You are a small business owner with one employee-you. That means setting a price for your time and/or setting fees for services and expecting a formal, written contract for the work. Do your research so that you are competitive in the market and know what businesses are hiring out what types of work. Have business cards that you hand out to everyone you meet, especially folks like your banker. Try to get yourself known to a diverse community of potential contractors. That way, if one business gets hit by recession problems, you have others that are still giving you work.

Meet a need in the Marketplace

Maybe, however, you want to take this setback in the

economy as an opportunity to finally dive into your dream of owning your own business. But how do you choose which one to start? The Internet abounds with endless advice about which businesses are doing well and which are not doing well in this economy. One website will tell you that you need to start with a franchise because they know what is working and what isn't. Another will tell you that franchises are exactly where you don't want to be because many are over-extended and close to folding themselves. Even the national lists from professional surveys are only generalities and not focused on your particular market.

Your best bet is using your common sense, reading your local newspaper, and searching the Internet for consumer trends.

- Addressing problems being faced in the down economy may offer opportunities for new businesses. Consider maintaining foreclosed houses for banks, debt collection, providing financial or legal advice to help people with their debt, helping write good resumes, and selling items on the Internet for folks who need money, but are not computer savvy.
- No matter what is happening in the economy people are going to need food and health care; people will still be dying, having babies, and getting married; and people still want entertainment and to travel, albeit in much more economical ways.
- Many people are looking for training in other work skills. What skills do you have that you can teach?
- Historically, some of the most successful businesses were started during a recession to meet a new challenge. Find out what businesses thrived during down times.
- In challenging times, what people choose to buy with their limited income changes. Research consumer spending habits to find out what people are buying.
- Sometimes reading lists helps spark an idea. Scan lists of Business Possibilities to learn what others are doing.

Startup Financing

Finding the right financing that fits with a business' goals is a continuing challenge for almost every small business. For startup businesses this can be one of the biggest hurdles in getting off the ground.

Some entrepreneurs can be incredibly creative in finding ways to fund their ideas. Many work another job as a way to fund their personal business. Others finance their enterprises by going back to school. Business schools often can give you the tools and connections to get a business off the ground. Your classmates may be good business partners or the school may have a business plan competition with a prize of start-up funding for the business.

Most companies, however, find their start-up funding in more conventional ways. The most common sources are:

- 72% Personal Savings.
- 45% Banks.
- 28% Friends/Relatives.
- 10% Individual Investors.
- 7% Government-guaranteed Loans.
- 1% Venture Capital Firms.

Using personal funds is very common, partly because few banks will loan to people who not risked some of their own personal funds. However, in the long run, most businesses will need external funding of some type.

The conventional wisdom in starting a business is that it is no one will loan money to a startup. With no history and no assets, one either needs to have savings, friends and family who are willing to help or an angel. While it is impossible to deny the challenges, loans do exist and with

good preparation are even relatively easy to get.

Being prepared has to be first step in seeking external funding. Write a business plan, prepare financial statements, line up references, develop a clear definition of what the business enterprise is, get introductions, and look at how you rate on other factors such as your credit rating, financial history, and business planning that lenders consider in awarding loans. Learn the lingo. It can be embarrassing to misuse terms. That immediately labels you as someone who has not done their homework- and consequently is not a good investment candidate. The Small Business Glossary lists a large number of terms you should know before talking with any person you may seek funding from.

Find out which are the right banks to approach if you want to go that route. The Small Business Administration has put together a list of commercial banks that scores the banks on how aggressive they are in small business lending. You can find which banks are business friendly in your area through their search mechanism.

One of the toughest questions is how much capital is enough. A quick model for cash needs suggests determining how much capital is needed for one year of operation. That first year, keep your initial capital separate from your income. That income should then be the initial capital for the second year. Amounts you will need to finance are that initial capital and any growth you want to introduce above and beyond the initial model. Many companies that are successful today have started that simply.

Startup Checklist

Starting your business is a busy time in any entrepreneur's life. Critical steps can be easily overlooked until you are well into the process. To help budding entrepreneurs in getting their businesses set up efficiently, legally, and soundly, here is a checklist of primary steps that every business needs to include.

This checklist assumes that you already have an idea for a business and are ready to make it real. If you are still at the stage of looking for the right business, take a look at Choosing the Right Business. Given everything else is in place, here is a checklist of the basic areas you need to cover before opening your business:

Each of these areas needs careful consideration if your business is to become a reality and prosper. You may feel comfortable with managing some of these areas, but not others. Check out the links above for any of the areas that you are unsure about to learn more about how to handle that area of operating a business. The goal is to have a solid base for your business so that it can grow and you can be freed from unexpected problems in the future.

References

- Deakins, D. And Freel, M. (2009) 'Entrepreneurship and small Firms', McGraw Hill.
- Venkataraman, S., and Shane, S., (2000) "The Promise of Entrepreneurship as A Field of Research", Academy of Management Review.
- Ucbasaran, D., Westhead, P., and Wright, M., (2001) "The Focus of Entrepreneurial Research: Contextual and Process Issues", Entrepreneurship Theory and Practice, Summer 2001.
- Sullivan, arthur; Steven M. Sheffrin (2003). Economics: Principles in action. Upper Saddle River, New Jersey.

Capital Management and Capital Budgeting

Fazal Ahmad

Types and Sources of Capital

Capital management and capital budgeting to finance a business has two major forms: debt and equity. Creditor money (debt) comes from trade credit, loans made by financial institutions, leasing companies, and customers who have made pre-payments on larger-frequently manufactured orders. Equity is money received by the company in exchange for some portion of ownership. Sources include the entrepreneur's own money; money from family, friends, or other non-professional investors; or money from venture capitalists.

Debt capital, depending upon its sources (e.g., trade, bank, leasing company, mortgage company) comes into the business for short or intermediate periods. Owner or equity capital remains in the company for the life of the business (unless replaced by other equity) and is repaid only when and if there is a surplus at liquidation of the business-after all creditors are repaid.

Acquiring such funds depends entirely on the business's ability to repay with interest (debt) or appreciation (equity). Financial performance (reflected in the Financial Statements) and realistic, thorough management planning and control (shown by Pro Forms and Cash Flow Budgets), are the determining factors in whether or not a business can attract the debt and equity funding it needs to operate and expand.

Business capital can be further classified as equity capital, working capital, and growth capital. Equity capital is the cornerstone of the financial structure of any company.

Equity is technically the part of the Balance Sheet reflecting the ownership of the company. It represents the total value of the business, all other financing being debt that must be repaid. Usually, you cannot get equity capital at least not during the early stages of business growth.

Working capital is required to meet the continuing operational needs of the business, such as "carrying" accounts receivable, purchasing inventory, and meeting the payroll. In most businesses, these needs vary during the year, depending on activities (inventory build-up, seasonal hiring or layoffs, etc.) during the business cycle.

Growth capital is not directly related to cyclical aspects of the business. Growth capital is required when the business is expanding or being altered in some significant and costly way that is expected to result in higher and increased cash flow. Lenders of growth capital frequently depend on anticipated increased profit for repayment over an extended period of time, rather than expecting to be repaid from seasonal increases in liquidity as is the case of working capital lenders. Every growing business needs all three types: equity, working, and growth capital. You should not expect a single financing program maintained for a short period of time to eliminate future needs for additional capital. As lenders and investors analyse the requirements of your business, they will distinguish between the three types of capital in the following way:

- (1) fluctuating needs (working capital);
- (2) needs to be repaid with profits over a period of a few years (growth capital); and
- (3) permanent needs (equity capital).

If you are asking for a working capital loan, you will be expected to show how the loan can be repaid through cash (liquidity) during the business's next full operating cycle, generally a one year cycle. If you seek growth capital, you will be expected to show how the capital will be used to increase your business enough to be able to repay the loan within several years (usually not more than seven). If you seek equity capital, it must be raised from investors who will take the risk for dividend returns or capital gains, or a specific share of the business.

Borrowing Working Capital

Working capital is defined as the difference between current assets and current liabilities. To the extent that a business does not generate enough money to pay trade debt as it comes due, this cash must be borrowed. Commercial banks obviously are the largest source of such loans, which have the following characteristics:

- The loans are short-term but renewable;
- they may fluctuate according to seasonal needs or follow a fixed schedule of repayment (amortization);
- they require periodic full repayment ("clean up");

- they are granted primarily only when the ratio of net current assets comfortably exceeds net current liabilities; and
- they are sometimes unsecured but more often secured by current assets (e.g., accounts receivable and inventory).

Advances can usually be obtained for as much as 70 to 80 percent of quality (likely to be paid) receivables and to 40 to 50 percent of inventory. Banks grant unsecured credit only when they feel the general liquidity and overall financial strength of a business provide assurance for repayment of the loan.

You may be able to predict a specific interval, say three to five months, for which you need financing. A bank may then agree to issue credit for a specific term. Most likely, you will need working capital to finance outflow peaks in your business cycle. Working capital then supplements equity. Most working capital credits are established on a one-year basis.

Although most unsecured loans fall into the one-year line of credit category, another frequently used type, the amortizing loan, calls for a fixed program of reduction, usually on a monthly or quarterly basis. For such loans your bank is likely to agree to terms longer than a year, as long as you continue to meet the principal reduction schedule.

It is important to note that while a loan from a bank for working capital can be negotiated only for a relatively short term, satisfactory performance can allow the arrangement to be continued indefinitely.

Most banks will expect you to pay off your loans once a year (particularly if they are unsecured) in perhaps 30 or 60 days. This is known as “the annual clean up,” and it should occur when the business has the greatest liquidity. This debt reduction normally follows a seasonal sales peak when

inventories have been reduced and most receivables have been collected.

You may discover that it becomes progressively more difficult to repay debt or “clean up” within the specified time. This difficulty usually occurs because:

- Your business is growing and its current activity represents a considerable increase over the corresponding period of the previous year;
- you have increased your short-term capital requirement because of new promotional programs or additional operations; or you are experiencing a temporary reduction in profitability and cash flow.

Frequently, such a condition justifies obtaining both working capital and amortizing loans. For example, you might try to arrange a combination of a \$ 15,000 open line of credit to handle peak financial requirements during the business cycle and \$20,000 in amortizing loans to be repaid at, say \$4,000 per quarter. In appraising such a request, a commercial bank will insist on justification based on past experience and future projections. The bank will want to know: How the \$15,000 line of credit will be self-liquidating during the year (with ample room for the annual clean up); and how your business will produce increased profits and resulting cash flow to meet the schedule of amortization on the \$20,000 portion in spite of increasing your business’s interest expense.

Borrowing Growth Capital

Lenders expect working capital loans to be repaid through cash generated in the short-term operations of the business, such as, selling goods or services and collecting receivables. Liquidity rather than overall profitability supports such borrowing programs. Growth

capital loans are usually scheduled to be repaid over longer periods with profits from business activities extending several years into the future. Growth capital loans are, therefore, secured by collateral such as machinery and equipment, fixed assets which guarantee that lenders will recover their money should the business be unable to make repayment.

For a growth capital loan you will need to demonstrate that the growth capital will be used to increase your cash flow through increased sales, cost savings, and/or more efficient production. Although your building, equipment, or machinery will probably be your collateral for growth capital funds, you will also be able to use them for general business purposes, so long as the activity you use them for promises success. Even if you borrow only to acquire a single piece of new equipment, the lender is likely to insist that all your machinery and equipment be pledged.

Instead of bank financing a particular piece of new equipment, it may be possible to arrange a lease. You will not actually own the equipment, but you will have exclusive use of it over a specified period. Such an arrangement usually has tax advantages. It lets you use funds that would be tied up in the equipment, if you had purchased it. It also affords the opportunity to make sure the equipment meets your needs before you purchase it.

Major equipment may also be purchased on a time payment plan, sometimes called a Conditional Sales Purchase. Ownership of the property is retained by the seller until the buyer has made all the payments required by the contract. (Remember, however, that time payment purchases usually require substantial down payments and even leases require cash advances for several months of lease payments.)

Long-term growth capital loans for more than five but less than fifteen years are also obtainable. Real estate financing with repayment over many years on an established schedule is the best example. The loan is secured by the land and/or buildings the money was used to buy. Most businesses are best financed by a combination of these various credit arrangements.

When you go to a bank to request a loan, you must be prepared to present your company's case persuasively. You should bring your financial plan consisting of a Cash Budget for the next twelve months, Pro Forma Balance Sheets, and Income Statements for the next three to five years. You should be able to explain and amplify these statements and the underlying assumptions on which the figures are based. Obviously, your assumptions must be convincing and your projections supportable. Finally, many banks prefer statements audited by an outside accountant with the accountant's signed opinion that the

statements were prepared in accordance with generally accepted accounting principles and that they fairly present the financial condition of your business.

Borrowing Permanent Equity Capital

Permanent capital sometimes comes from sources other than the business owner/manager.

Venture capital, another source of equity capital, is extremely difficult to define; however, it is high risk capital offered with the principal objective of earning capital gains for the investor. While venture capitalists are usually prepared to wait longer than the average investor for a profitable return, they usually expect in excess of 15 percent return on their investment. Often they expect to take an active part in determining the objectives of the business.

These investors may also assist the small business owner/manager by providing experienced guidance in marketing, product ideas, and

additional financing alternatives as the business develops. Even though turning to venture capital may create more bosses, their advice could be as valuable as the money they lend. Be aware, however, that venture capitalists are looking for businesses with real potential for growth and for future sales in the millions of dollars.

References

- Siconolfi, Michael; Pacelle, Mitchell; Raghavan, Anita (1998-11-16). "All Bets Are Off: How the Salesmanship And Brainpower Failed At Long-Term Capital". Wall Street Journal.
- Prospective Analysis: Guidelines for Forecasting Financial Statements, Ignacio Velez-Pareja, Joseph Tham, 2008
- MacKenzie, Donald (2006). An Engine, not a Camera: How Financial Models Shape Markets. The MIT Press.
- Capital Budgeting
- MacKenzie, Donald (2003). "Long-Term Capital Management and the Sociology of Arbitrage". Economy and Society.
- Long-Term Financial Statements Forecasting: Reinvesting Retained Earnings, Sergei Cheremushkin, 2008

Dept. of Commerce, Shri Guru Govind Singh College, Patna City

States of India Series

States of India : Uttarakhand
States of India : Rajasthan
States of India : Bihar
States of India : Himachal Pradesh
States of India : Delhi
States of India : Punjab
States of India : Mizoram
States of India : Nagaland
States of India : Gujarat
States of India : Tripura
States of India : Andhra Pradesh
States of India : Sikkim
States of India : Karnataka
States of India : Meghalaya
States of India : Jammu & Kashmir

States of India : Uttar Pradesh
States of India : Jharkhand
States of India : Chhattisgarh
States of India : Haryana
States of India : Madhya Pradesh
States of India : Maharashtra
States of India : Manipur
States of India : Orissa
States of India : Assam
States of India : Goa
States of India : West Bengal
States of India : Tamil Nadu
States of India : Kerala
States of India : Arunachal Pradesh

To Order Please Write to :

PUSHPANJALI PRAKASHAN

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053, Phone : 9811710900

Music : As an Art

Dr. Manisha Singh

Abstract

“Art may be experienced at many levels, from that of a simple cartoon to that of a great painting, from a pop tune to a symphony, from a folk dance to a ballet, or from a farical comedy to a profound drama. The experience may be perceived in a purely emotional or purely intellectual manner, or a combination of both. This depends entirely upon the individual who is perceiving. Whatever the level and whatever the manner of perception, practically every human has been involved with some form or medium of art, even if it is nothing more than noticing a mural on a building or hearing music that has been piped into a room. The arts impinge themselves on the human consciousness and cause reactions. The arts provide numerous and continuous possibilities for involvement and interaction.”

Key words : Art, process and the perception of music.

Introduction

Art in its broadest sense is the answer to a universal request. It is in the essence, the shaping of the aural (words and sounds) or the visual (motions, paints etc.) into a creation through which people can experience some sense of gratification, emotional release or pleasure. Art separates itself from nature at this point, for art is created by a human expressly for the purpose of engendering aesthetic gratification and pleasure in the beholder. Obviously, one can find these experiences elsewhere, but only art is created primarily for that purpose.

The media of art include the results of many diverse creative activities—painting, drawings, sculpture, buildings, poems, plays, novels, dances, photographs, movies and many types of music. The involvement and interaction people have had with the arts over the centuries have led them to seek certain qualities in art. These qualities are reflected in styles, forms, and certain treatments of subject matter, and in the inclusion in the work of art of visual or aural aspects considered emotionally expressive, such as tension and release, lightness and darkness, motion and stillness, and agitation and quietness. It is through the inclusion of all these qualities by the creator, and the perception of them by the perceiver, that art becomes communicative.

Art is thus a process, a communication, an emotional contact between human beings. In this process, the creation

and perception of the expressive and intellectual qualities in the work of art (all of which aestheticians refer to as “the beautiful”) are the primary goals, although there can be others as well. The creator may wish to show something once seen, communicate an emotional reaction to an experience, comment on a social or moral issue, or solve as emotional or aesthetic problem by exposing it or sharing it. The creator may also try to contribute to an environment by designing a building, or solve an emotional or by changing and decorating rooms, or by making and decorating rooms, or by making a tool that is both useful and interesting to look at. Some artist that they have no conscious goal, not even that of aesthetic communication. Aestheticians argue that this cannot be, for if there is some sort of self-gratification as a result of the creative experience, then that is, in a way, aesthetic communication.

Music : As an Art

Music is, by its aesthetic nature, related to its sister arts, but it is distinct from most of them in that it exists in time rather than in space. It is also considered by some aestheticians to be completely abstract, in that it conjures or depicts no absolute image. It has been argued that music is therefore a superior art, since nothing visual can impede the communication and perception of the so-called true meaning of music. Such statements are rather useless, for perceivers can enjoy equally deep aesthetic experiences in any of the arts. This paper does not claim that music is superior to any other art. Rather, it is committed to the belief that if a perceiver can have a satisfying aesthetic experience in one of the arts, that type of experience is likely to be repeated in one or more of the other arts.

The Perception of Music

As with other works of art, the perception of a musical work is extremely personal. Further, a musical composition (as any work of art) may be appreciated at several levels. Usually, the listener’s response to music heard for the first time is an emotional one, stimulated by the overall impact of such qualities as loudness, tone colour, speed, rhythm, accent, melodic contour, and other aspects of sound that may be immediately obvious.

Awareness and depth of understanding of both live and recorded music come best from repeated exposure, for musical and extra-musical meanings are not always easily

detected and comprehended at first. Thus, subsequent hearing may result in a better grasp of more subtle musical techniques, such as repeats of melodies, changes in texture, or variations and manipulations of expressive materials. This increased awareness of the craft of the composer and of the communications and meanings embodied in his work very often results in more pleasurable or significant emotional response and is one of the rewards of repeated listening.

This ultimate combination of understanding and emotional receptivity—total appreciation, in other words—is the goal of the sophisticated listener. To attain it, there must be a commitment to the idea that involved, active listening requires some sort of preparation. Basic to this must be a knowledge of the styles, traditions, and philosophies that have influenced composers to write in their various ways and a familiarity with a repertoire of compositions of varying structure and style.

The reader might practice listening to the records accompanying this paper, thereby becoming familiar with each work, and might note the highly individual qualities in the music of each composer. During the listening experience, the following questions might be considered :

Was there emotional, meaningful communication ?

Was more than one kind of emotion communicated ?

What devices created this sort of communication ?

What passages were the most moving or exciting ?

Were the melodies ingratiating ? harsh ? gentle ? fragmented ?

Were the melodies repeated in any

way ? What sort of structure did the composer employ ?

How did contrasts (loud and soft, slow and fast, high and low, tension and release) contribute to the nature of the musical ideas ?

What gave the music cohesion ? climax ? balance ?

If possible, the reader should listen to recordings of the complete works from which the excerpts were taken, so that the excerpts may be heard in context.

Conclusion

One need not know a great deal of music literature to be a music lover. A person's treasury of art is essentially a treasury of the familiar and it does not have to be huge in order to be enjoyable and enriching. The greatest rewards come from reliving the emotional and intellectual experiences

effected by a piece of music and these rewards can be gained simply by listening to the piece again and again.

References

1. APEL, WILLI, ed., *Harvard Dictionary of Music*, 2nd ed., rev. and enl. Cambridge, Mass : Harvard University Press, Belknap Press, 1969.
2. BACKUS, JOHN, *The Acoustical foundations of music*, New York : Norton, 1969.
3. BARRELL, R.D., *Schirmer's Guide to Books on Music and Musicians*, New York : G Schirmer, 1951.
4. DEMUTH, NORMAN, *Musical Forms and Textures : A Reference Guide*, 2nd ed. London : Barrie & Rockliffe, 1964.
5. SACHE, JACK, ed., *Music A to Z*. New York : Grosset & Dunlap, 1963.
6. TOVEY, DONALD F., *Essays in Musical Analysis*. New York : Oxford University Press, 1935-39.

Adhoc-Lecturer, Deptt. of Music, Magadh Mahila College, Patna (Patna University)

Some Outstanding Books on Health Care :

Healthy Baby	Dr. P.K. Singh	200.00
Pregnancy Planning, Care & Delivery	Dr. P.K. Singh	300.00
Children's Health	Dr. P.K. Singh	250.00
Working Life	Dr. Devendra Sengar	300.00
Women's Health	Dr. Devendra Sengar	300.00
Men's Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Senior Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Allergy	Dr. P.K. Singh	150.00
Common Diseases	Dr. P.K. Singh	300.00
Alternative Medicine	Dr. P.K. Singh	250.00
First AID : The First Medical Requirement	Dr. Devendra Sengar	200.00
Weight Loss	Dr. P.K. Singh	200.00
Stress	Dr. Devendra Sengar	300.00
Food and Nutrition	Dr. Devendra Sengar	200.00
Fitness : How to be Fit	Dr. Devendra Sengar	300.00
Teen's Health	Dr. P.K. Singh	250.00

To Order Please Write to :

PUSHPANJALI PRAKASHAN

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053

Phone : 9811710900

Narratives of Climate Change : Introduction

Md. Ehteshams Siddique

Abstract

This paper introduces a special feature on narratives of climate change, containing papers by Richard Hamblyn, Sverker Sorli, Michael Bravo and Diana Liverman. The feature reflects the rising cultural profile of climate change in the public sphere, as represented, for example, by Al Gore's documentary film, *An Inconvenient Truth*, and art exhibitions devoted to the subject.

Climate change is presently a Big Story, as both a worldwide chronicle of rising cultural consciousness political elites and the population at large, as well as the grand, often crisis narratives of environmental change itself, notably aligned to the graphic rising curves of global warming. Like another major scare story early this century—that of global terrorism—climate change appears millennial in a cultural as well as chronological sense, its moral imperatives assuming an evangelical urgency. It is, then timely to consider climate change narratives of all kinds in historical-geographical perspective, as forms of knowledge produced and distributed in particular periods and places, which propose powerful imaginative worlds in the form of past scenarios as well as future prospects.

Climate change narratives, at various geographical scales, can be situated within a wide repertoire of environmental stories. Sceptical of modern anthropogenic theories of climate change after the Second World War, and cleaving to chronicle of enduring continuities, of 'secular variations' and 'periodicities'. Gordon Manley, President of Royal Meteorological Society, explored the shaping influence on temperate climate on the landscape and livelihood of the British Isles in *Climate and the British Scene* (1952). In contrast to the extreme climatic and social regimes of the 'Russian plains or American prairies', a benign British climate, according to Manley, encouraged a cultural and topography of small scale individual effort and enterprise¹ an ideal type evident in anti-modern plot lines of other patriotic landscape histories of the time, including WG Hoskins' *The Making of the English Landscape* (1955). In his influential essay 'A place for stories: nature, history and narrative', William Cronon focused on the environmental histories of one region, the American Great Plains, during the early twentieth century, identifying a range of sometimes contradictory plot lines of desiccation, often drawing on the same factual evidence. As one label among

many. 'The Dust Bowl' implied 'a different possible narrative... and different possible endings' with contrasting judgments on cultural meaning of the event including New Deal planning for the region's reconstruction." The stories were carried by pictures as well as words, panoramic diagrams of historical progress and iconic photographs of farmers and land. These picture are part of the historical sequence of crisis images charted in Denis Cosgrove's recent essay on 'Images and imagination in twentieth-century environmentalism' as the locus of western moral concern moved (and not for the first time) from temperate to tropical and polar geographies, and the threatened worlds of other species of plant and animal as sigh for life on earth as a whole.³ Climate stories are of course articulated in many ways, by communities who make a livelihood from the land as well as experts who pronounce on it, in the making of traditional practice. The social memory of droughts, floods, and other extreme weather events and their impacts has conditional the ways communities have conceptualised and dealt with the problems of climate uncertainty, risk and preparedness, and prompted a variety of remedial or mitigating actions, coping strategies and adaptations, creating conflict as well as fostering co-operation.⁵ Such Climate narratives are as much about the spatially and temporally subtle patterns of the social effects of climate variability as climatic crisis.⁶

Some key historical-geographical questions on environmental narrative are addressed by the papers in this special feature, which were first presented at a JHG-sponsored plenary session at the RGS-IBG Annual conference in 2006. How have the truths of climate change been told as situated stories, plotted in space and time? How has casual agency been distributed within and between the human and non-human world? What are the relations between global, sometimes long term, narratives of climate and more local, sometimes episodic and anecdotal narratives of weather? what are the canonical sites and spaces for climate stories, including research arenas of field and laboratory? How are climate change scenarios envisaged, pictured in terms of maps, diagrams and landscape images? What are the ideologies of such images, and what do they reveal and conceal? what do climate change narratives mean for publics in species places and what are their effects; how do they matter? The papers consider a range of, often overlapping, forms of climate

knowledge and citizenship, professional, popular, academic, indigenous, commercial and religious, and their relation to various forms of experience on the ground. As a discursive field this includes many narrative forms, social memory, scientific modelling, economic forecasting and apocalyptic prophecy. The contributors consider multiple and contested narratives, relations between stories told by people in the past and ones told now.

In a keynote address on 'fables of climate change', Bills Cronon focused on the history of global warming narratives, their currency in present scientific and policy discourses and implications for generating action in the public realm. A series of earlier twentieth-century observations on CC_2 emissions, some of which attracted relatively little attention in their time, were configured late in the century as portents, canonical episodes in a moral narrative frame of global warming, at a time of growing public concern about human induced environmental harm and the deployment of increasing computational power to plot discernible rises in global temperature and extreme climatic events. In process the story line enlisted a wider array of fears about environmental apocalypse, including nineteenth-century concerns about resource exhaustion (which had receded as they had advanced) in an archetypal fable of threats to the foundation of civilization. Events were placed in a framework of moral, sometimes millennial, imperative, prediction converted into prophecy. To illustrate analytical purchase on the arguments of global climate change deniers as well as evangelists, Cronon focused on the intersections of various axes of global warming: methodological and metaphysical, macrocosmic and microcosmic, normally maximal and minimal. This was not to adjudicate between them, but to lay out their

salient characteristics, note the political implications of their claims and rhetorical strategies, their likely motives and impact, including drawing some tentative moral lessons from his stories about stories, about which ones matter and mean most. As well as recognizing that charting carbon dioxide is now fundamental to plotting climate narrative whereas blaming shorter term agents like George W. Bush is not, this also places a premium on stories which describe human resourcefulness of reckoning with climate change, in particular circumstances, drawing on vernacular knowledge as well as professional expertise. Cronon compared the diminishing public impact of some dramatic crisis narratives, such as the various sermons on Hurricane Katrina, when they enter a cycle of repetition in western news and media, falling on defeated ears, with the cumulative power of apparently minor anecdotes, from an account of an Inuit adjusting his daily hunting routine to garden talk about British butterflies, synecdochal stories about fellow humans figuring out impersonal in familiar places.

In his paper, 'The whistleblower as the canary: rhetorical constructions of climate change', Richard Hamblyn highlights how historical episodes or 'signal moments' of 'disclosure and revelation' have in themselves helped shape and frame contemporary climate change debates. Figures like Calendar, an engineer and amateur climatologist, who undertook research into the human enhanced global warming of the 1930s, ironically around the same time as Milankovitch proposed orbital changes as the cause of ice ages, have tended to remain 'lone whistleblowers' in a predominantly scientific arena, but equally have provoked scientists to investigate the climate change problem, supported by injections of government funding, and as Sverker Sorlin suggests in his paper, 'Narratives and counter-narratives of

climate change: North Atlantic glaciology and meteorology, c. 1930-1955', financial support from military agencies with openly geopolitical concerns. Hamblyn also illustrates how climate change 'canaries', indicators of the reality of climate change and its impacts upon individual species, ecosystems or communities, as well as graphical representations of scientific data which arguably confirm the reality of climate change, have also significantly shaped modern climate change narratives. Sorlin explores the early history of global warming narratives by tracing the distinctive genealogies of North Atlantic Glaciology and Meteorology. Both academic fields, and particularly the spaces in which they were practiced, he argues, have played significant roles in establishing climate change as a scientific and policy problem, but were to some extent positioned as 'stylised antagonists' in debates over the existence of global warming and its link to anthropogenic forcing. Through these genealogies, Sorlin highlights that the development of climate change science should not be viewed as 'a cumulative affair' where ever more precise, scientific knowledge is amassed. Rather, he argues that there is 'a broader, much more complex narrative to be told' in which the disciplinary cognitive structures and associated epistemic communities, and the prevailing geopolitical context, were fundamental to the development of scientific attitudes towards climate change as it was understood in the middle of the twentieth century.

The production and the reception of climate science can be considered in relation to recent work on the 'local' nature of scientific knowledge—its making, reception and mobility.⁷ As Michael Bravo indicates in his paper, 'Voices from the sea ice: the reception of climate impact narratives' the public spaces in which information is promoted, circulated and read can in

fact be central to the production and interpretation of climate knowledge. The Inuit, as Bravo suggests, are often described as ‘as early warning system’ of environment change, while images of retreating glaciers and of melting sea ice in the Arctic are being used as vehicles or exemplars not only to demonstrate the increasing vulnerability of ice-dependent species, but also to legitimize claims for rapid anthropogenic change. Indeed, various media sources have seized upon such powerful rhetorical and representational tools and visual strategies in order to frame discussion about the reality of climate change, epitomised in the Arctic Climate Impacts Assessment of 2005 as well as the most recent IPCC report (2007). Drawing on his recent visits to Inuit communities in and around Nunavut, in northern Canada, as well as recent surveys on Inuit views of climate change, Bravo’s paper refocuses attention on ‘self-representation, as well as representation by others’, in such crisis narratives. He addresses the little-explored arenas of citizenship, public participation and policy making with respect to climate change actually within the Article, and explores how public narratives represent a shared means through which climate change knowledge is received and discussed.

Climate change is a problem in which the stakes are high and political decisions may well be necessary⁷, but in which facts are still very uncertain and values very much in dispute, so much so that “traditional science is not always able to legitimize”-and governments unable or unwilling to take-the drastic steps that may in fact be needed to deal with the climate change ‘problem’. Accountability remains a central political question, the allocation of responsibility for anthropogenic climate being, as Diana Liverman has suggested, ‘variously assigned to the global collective, to nation states, to economic sectors and to individuals’. Just how knowledge

about climate change is represented also plays a key role in shaping the public awareness and discussion of climate change and has important implications for assessing public and governmental responses to climate change.⁹ The way in which information about the relative ‘danger’ of climate change is received, interpreted and understood ultimately affects which actions are taken.¹⁰ In her paper, ‘Conventions of climate change: constructions of danger and the dispossession of the atmosphere’, Diana Liverman address three narratives which have become embedded within climate change policy at the international level-the need to avoid ‘dangerous’ climate change, the common but differentiated responsibility for climate change and, finally, market-based solution as means of reducing the climate change problem. Tracing the origins of these narratives, Liverman illustrates how the powerful rhetorical and representational strategies adopted by scientists, media and governments today masks the historical geographies of anthropogenic climate change, oversimplifying and generating largely response to the problem. Moreover, the visual imagery designed to alert policy and popular audiences has served to obscure the distinctive geographies of climate change. Two of the most powerful images which have been used to define and communicate ideas about ‘dangerous’ climate change, are the so called ‘Burning Embers’ image and the Tipping points map. As Liverman Suggests, the first image ‘tends to conceal the geographical of climate change¹, offering only a weak analysis of the spatial variations in climate change impacts which draws which draws on relatively narrow perspectives and value judgments regarding unique and vulnerable ecosystems and cultures and fails to engage with the uncertainties inherent in climate change predictions and

differential variability in adaptation and vulnerability. The Tipping Points figure, designed to illustrate where global warming could trigger abrupt climate change, is no less biophysical in its orientation. Both images, Liverman argues, lean towards an environmental deterministic scientific interpretation of climate change impacts, glossing over the ‘particular geographies of inequality’ which are in fact pivotal to understanding the impacts and response engendered by predicated climates.¹¹ Market solutions to climate mitigation have, Liverman argues, done little to address this differential social vulnerability, but have fostered a new commodity in carbon reductions, which though a Victory¹ for market environmentalism and neoliberalism, is of ‘questionable value to the poor’.

The conference session at which these papers were first presented coincided with a key moment in the rising cultural profile of climate change in the public sphere, as represented by two events: the release of Al Gore’s documentary film *An Inconvenient Truth* and the opening of the exhibition. The ship at the Natural History Museum in London. What is striking about both film and exhibition, and their accompanying publications, is the way individual life stories are woven into longer term narratives of climate change, reaching beyond human history. These projects renovate powerful conventions in the cultural history of climate, which had a strong currency in enlightened circles of eighteenth-century Europe and its dominions. The global schema of climate, the longitudinal zones of frigid, temperate and tropical, framed grand theoretical narratives on the course of social development, and became a key conceptual resource for dealing with human and natural development, including that of imperial possessions.¹³ As well as documenting the influence of climate on the process of decline of civilization, observers watched for

signs that large scale, human induced environmental transformations such as clearing forests and draining marshes, and building large industrial cities changed climate for better or worse, and with it the trajectory of natural and human history.¹⁴ Local, chorographic annals of weather were charted alongside the global, geographic narratives of climate, by a broad constituency of amateur enthusiasts.

Landscape stories, from parish histories to the weather-conscious scenes of passing time painted by John Constable, geared sometimes hourly observations in the idiom of modern natural history and philosophy with providential narratives of the Bible, spectacular events like rainbows conjoining the real and symbolic, the epic and the everyday.¹³ Jan Golinski has descried how the keeping of weather diaries was a popular accomplishment in polite society, for which magazines provided a template and common calendar and brought local, private weather watchers into a public sphere of observance.

Noting extraordinary 'meteoric' events, as well as normal, expected ones, and their actual or portentous bearing on livelihood, including such fundamentals as crop yields and dwelling, such diaries brought weather and climate into the sphere of news, current affairs, as well as history, including a history that included the waters of the Noachian Flood and the fires of the Apocalypse. Like all diaries, they were also a form of life writing, a cognitive instrument, supported by thermometers and barometers, for recording the course of relations of individuals to their environment. These diaries, so often kept by clergymen, represent a reformation of an older, more communal and flexibly chronological culture of weather lore in which church bells were tolled and prayers offer to appease God's wrath during

storms and drought, if the magic of omens and prognostications, of saints days and astrological conjunctions, persisted in popular culture, including mass circulation almanacs.

An Inconvenient Truth updates a popular form of enlightenment entertainment, a travelling lecture show, with spectacular special effects, and rapt audience, with elements of evangelical sermons in which confessional, autobiographical anecdotes focus longer histories of revelation and prospects of salvation. The film establishes the graph as a compelling form of public knowledge and reckoning, show singly, with animated lines, or in combination with other visual forms such as world maps and scenic and aerial landscape images, particularly those which show the insignia of climate change, from shrinking lakes to collapsing ice walls. Panoramic in scope, running the length of the lecture stage, the graphs plot various indices of climate change over various time-scales, their local topography of peaks and troughs telling an overriding story which comes to a climax in the lecture's lifespan, with a marked acceleration of human induced global warming and projections of worse to come if humankind in general, and the Bush Administration in particular, does not confess its responsibility and change its ways. The film's narrative, both personal and public, starts with a graph, that first drawn by one of Gore's teachers at Harvard, Roger Revelle, showing trends in atmospheric CO₂, projecting serious implications for humanity: 'He saw where the story was going after the first few years of data' (the professor's prophet stature contrasts with Gore's geography school teacher who chastised a smart pupil for observing that the world map showed evidence of continental drift). A theologically tintured natural agency has a key place in the narrative, in particular the contemporary version of sermons in stones; 'the ice has stories to tell us',

the lecture announces, including ice cores which told of the recent episode where the clean air policy authored by vice-president Gore came into effect, Extreme events in Gore's life, the death of his sister, the near death of his son, the false reckoning of the Florida recount, which stopped his election to the presidency in 2000, are woven into the climate story, in the process recapping Gore's own life-path, in many way a conventional one for a southern senator's son, long on law and divinity, rather than science, as one of pilgrimage prophecy.

The Ship: The art of Climate Change displayed the work of 16 artists in the Jerwood Gallery of the Natural History Museum. All were alumni of Cape Farewell project, that with major public funding from the Arts Council of England sends British artists and writers (notably international famous ones like Rachel Whiteread and Ian McEwan), educators, journalists with scientists on month long schooner voyages to the Arctic. The project follows the recent shift in canonical climate change geography, from the tropical rain forest to the polar ice fields, and with the activation of a long standing polar imagination in temperate British culture. Cape Farewell also renovates a tradition of artist-accompanied British exploratory voyages, including those of Captain Cook and Scott, and the ocean as an arena in which climate is encountered and codified. British artists were challenged by Cape Farewell to look beyond domestic images of climate change, the 'parched English landscape with dying beech trees', to make sense of the thermal front line of global warming where the Gulf Stream: meets the North Atlantic current, a space of lines and points (tipping, turning and pivoting)-of many of the artists engaged with board wilderness landscape conventions rather than the specific of climate change. In the tradition of ships logs, some participants kept diaries. The artists

who have travelled as part of the Cape Farewell expedition have told personal stories of change', notes Buckland, 'they made works on a human scale about what is a global problem'. The exhibition included a film about the 2005 voyage and was accompanied by a book *Burning Ice* created by the project's director, skipper and participant artist David Buckland which has contributions from climate scientists who did not come aboard (including geographer Diana Liverman who shifted the locus of attention to Mexico and Bangladesh, and the implication of the recent global story of neo-liberalism with that of climate change).

The name Cape Farewell, Buckland explains, combined the idea of parting with the idea of turning, and was as much about 'saving a place in our imagination', the ice fields of the polar environment, as about a portion a living planet. Buckland's *Ice Texts* are photo works which project apocalyptic messages, 'Black Abyss' and 'Burning Ice' among them, on the wall of a crumbling glacier.¹⁷

The following papers contribute precise historical-geographical enquiry integral to the reconnection of climate and culture that Mike Hulme has called for in a series of recent interventions on current academic and policy thinking on climate change, particularly the common framing of human predicament in terms of a fix-it problem-solution binary, and the attendant reduction of human motivation and conduct to an issue of social engineering.

As the contributors show, what people make of climate change, and what they do about it, are complex cultural matters, with a matrix of narratives, specific meanings emerging in and from particular times and places; they draw attention to a continuing, if troubled, and fractious, history of human-environment relations.

References

1. G. Manley. *Climate and the British Scene*. London. 1952. 296. On Manley's views on the wider debates about climate change see Sorlin, this issue.
2. W. Cronon. A place for stories: nature, history, and narrative. *Journal of American History* 78(4) (1992) 1347-1376.
3. 'D. Cosgrove. Images and imagination in the twentieth-century environmentalism: from the Sierras to the Poles. *Environment and Planning A* 40(8) (2008) 1862-1880. F. Hassan. Environmental perception and human response in history and prehistory, in: R.J. McIntosh, J.A. Tainter and S.K. McIntosh (Eds). *The way the Wind Blows: Climate, History and Human Action*, New York, 2000, 121-140.
4. G.H. Endtled. *Climate and Society in Colonial Mexico: Study Mixico: Study in Vulnerability*, Blackwell, 2008. See also C. Pfister, *Natural disasters-catalysts for fundamental learning*, in: C Pfister and C. Mauch (Eds.), *Natural Hazards [Cultural Responses in Global Perspective*. Lexington. in press; W.N. Adger, *Social capita, collective action and adaptation to climate change*. *Economic Geography* 79(4) (2003) 387-404; W.N. Adger, N.W. Arnese and E.L. Tompkins, *Successful adaptation to climate change across scales*. *Global Environmental Change* 15(2) (2005) 77-86; A Oliver-Smith and S.M. Hoffman (Eds), *The Angry Earth; Disasters in Anthropological Perspective*, London, 1999. L. Ohlsson, *Livelihood Conflicts-Linking Poverty and Environment as Causes of Conflict*. Stockholm, 2000.
5. See, for example C Pfister and R. Brazdil, *Climatic variability in sixteenth century Europe and its social dimension*. *A Synthesis*, *Climatic Change* 43 (1999) 5-33; R. Brazdil, C. Pfister, H. Wanner, H. von Storch and J. Luterbacher, *Historical climatology in Europe-the state of the art*, *Climate Change* 70 (2005) 363; M Barriandos, *Climatic variations in the Iberian peninsula during the Late Maunder Minimum (AD 1675-1715). An Analysis of data from rogation ceremonies*, *Holocene* 7 (1997) 105-111; P.O. Jones A.E.J. Ogilvie, T.D Davies and K.R. Briffa (Eds), *History and Climate: Memories of the Future*; 2001./.
6. D.L. Livingstone, *Putting Science in its Place: Geographies of Scientific knowledge*, Chicago, 2003; S. Naylor, *Introduction historical geographies of science-places, contexts, cartographies*, *British Journal for the History of Science* 38(1) (2005) 1-12; C.J.W. Withers, *Placing the Enlightenment: Thinking Geographically About the Age of Reason*, Chicago, 200; I. Lorenzoni and N.F. Pidgeon, *Public views on climate change: European and USA perspectives*, *Climate Change* 77(1-2) (2006) 73-95.
7. P. Koloprogge and J. van der Sluijs. *The inclusion of stakeholder knowledge and perspectives in integrated assessment of climate change*. *Climatic Change* 75 (2006) 359-389, 364.
8. A. Carvalho, *Ideological cultures and media discourses on scientific knowledge: reading news on climate change public Understanding of Science* 16(2) (2007) 223-243.,
9. Lorenzoni and Pidgeon, *Public views on climate change* (note 7).
10. E.L., Tompkins and W.N. Adger. *Does adaptive management of natural resources enhance resilience to climate change?* *Ecology and Society* 9(2) (2004).
11. On geographical life stories see S. Daniels and C. Nash, *Lifepaths: geography and biography*, *Journal of Historical Geography* 30(2004)449-458 and the special issue it introduces.
12. F. Driver and L. Matins (Eds). *Tropical Visions in an Age of Empire*, Chicago, 2005.
13. J. Golinski, *British Weather and the Climate of Enlightenment*, Chicago, 2007, 170-202; R. Hamblyn, *The Invention of Clouds: How an Amateur Meteorologist forged the Language of the Skies*, London, 2001. See also V. Jankovic, *Reading the Skies: A Cultural History of English Weather, 1650-1820*, Manchester, 2001.
14. E. Morris (Ed.) *Constable's Clouds: Paintings and Cloud Studies* by John Costable, Liverpool and Edinburgh, 2000.
15. Golinski, *British Weather* (note 14). 77-136.
16. D. Buckland, A. MacGilp and S. Parkinson (Eds.), *Burning Ice: Art and Climate Change*, London, 2005. See also *Boulder Museum of Contemporary Art*. *Weather Report: Art and Climate Change*, Boulder, 2007.
17. M. Hulme, *The conquering work at the boundaries of climate change*, *Transactions of the Institute of British Geographers* 33(2008) 5-11; *Three meanings of climate change: lamenting Eden, presaging Apocalypse, constructing Babel* seminar paper, Farada Institute for Science and Religion, University of Cambridge 30 October 2007.

Asst. Teacher, Govt. Girls High School (+2), Gulzarbagh, Patna City, Research Scholar, Deptt. of Geography, Patna University, Patna

Non-formal Education

Md. Nurul Huda

Education was the privilege of a few, belonging to the—upper classes, in early days. Only Brahmans had the right to be 'Gurus' and no 'Sudra' or 'Vaishya' was allowed to learn the alphabets. The 'Kshatriyas' who were the rulers of those days had to be in the 'Gurukula' for their education under reputed 'Gurus'. 'Gurudakshina' was a must in those days. The story of Ekalavya who had to cut off his finger to please his Guru, in the guise of 'Gurudakshina' to indirectly safeguard 'Arjuna' who learnt lessons at the Guru's feet while Ekalavya, belonging to a lower caste learnt it hiding in the bushes.

The Gurukula system of education of the past is nothing but a system of non-formal education prevalent in those days. There was no fixed curricula, duration, etc. but only the Guru was to declare that his disciple has mastered everything needed for life. At the Gurukula one had to live with the Guru's family and do all sorts of jobs (good and bad) for them for the sake of learning the alphabets and many other arts. Vedas and Upanishadas were also taught at this level. Lord Krishna was no exception to the Gurukula system. He learnt with 'Kuchela' just because he was a Brahman (Poverty was not a problem, as Kuchela belonged to the uppermost caste).

The Guru used to identify the hereditary interests and innate abilities and then offer the disciple whatever suits him. The education was life oriented as well as client centred. The system was not loaded with teaching learning materials, as we find now-a-days. Examinations were not thrust upon them. The Guru was the only examiner certify the mastery of a disciple. The aim of all education was to promote better life.

The Monitorial Systems

In the absence of the Guru, 'monitors' were authorised to control the class. He is usually next in rank to the 'Guru', his confidant and deputy. He is also called 'Chattampi' (or a villain) who has physical stamina and will power to control the batchmates. This monitor system is even now prevalent in the formal system in some form.

Maintaining discipline in the class in the absence of the teacher, listing late comers and mischief makers,

collecting and distributing materials, serving the teacher as a messenger or representative are among the current duties of monitors. In the early schools (Pre-primary, Nursery, Creche, Balawadi or Kudippallikkoodam as we call them) alphabets are to be drilled very often.

This duty also is given to the monitor or the leader. Class and school leaders are 'elected' now-a-days and not nominated. This is due to the democratisation of such procedures and systems. Thus monitorial system came to the formal schools from the early non-formal system.

Formal Vs. Informal

Even upto the middle of the twentieth century we had only two types of education—formal and informal. All that is institutionalised, having so many rigidities by way of age of admission, syllabus, time table, text-books, duration, examination, teaching techniques, teachers qualification, school plant, etc. come under the heading 'formal' and all other types of education were designated as 'informal'. Actually informal is that which is not formal, that which is accidental, that which is not purposive, that which is flexible etc.

This could be the early lessons that a child gets at home to the tricks and trends that an old man acquires towards the fag end of his life. It could be short term courses of an academic or vocational nature. It could be a course in a foreign or Indian language, on human relations, tourism, banking etc. or for updating ones' own knowledge and abilities in a specialised field or in an allied one. Thus the facets are many in informal education.

Emergence of Non-formal Education

However, in the sixties of the 20th century people witnessed the emergence of a new concept 'non-formal education' to represent any educational activity carried on outside the four walls of the institution in an organised way and with specific purposes. Whatever is not included in this category and previously belonged to the informal sector remain in the same name. So confusion has arisen in the minds of people as to what is non-formal education and what remain still as informal education. Watertight compartmentalisation, however, is not possible even

between formal and non-formal system of education, not to speak of the distinction between informal and non-formal education.

Flexibility is the main attribute of non-formal education. People of different age levels, varying abilities, having different occupations or without any occupation, from different geographical having different areas, values of life and aspirations assemble at a place for short periods to achieve some common aims and objectives. This gathering is non-formal in many ways. No one will insist on regular attendance. The learner or participant is well motivated and experienced and hence problems are very few unlike in the cases of children in formal schools.

Non-formal Education is not only Adult Literacy Work

The major aim of all non-formal education is to improve the living conditions of people, especially of the downtrodden and depressed sections of the society. Hence a major part of non-formal education in India is geared to the provision of literacy and numeracy. In India even after 38 years of independence, the number of illiterates is on the increase. As against 28.5 crores of illiterates in 1951, in 1981 their number has risen to 44 crores, though there is marginal increase in terms of percentage of literacy. That too is not much consoling. The percentage of literacy rose of 16 in 1951 to 36, in 1981, keeping the average annual increase to the tune of 0.66%. It has been estimated that by the year 2000 A.D. India will have more than 50% of the world illiterate population in the age group 15-35. It is also estimated that India will be the only country having

illiterates, in the 21st century. The number of illiterates in the age group 15-35 was estimated at 11.0 crores in 1981. The statistics available from the Government of India, Ministry of Human Resources Development shows that only 2.3 crores could be approached during the period 1981-86; leaving 8.7 crores to be tackled in the coming 4 years if the declared target of ensuring 100% literacy at the 15-35 age level before 31st March 1990 could be achieved. This gigantic task has attracted the attention of almost all concerned and hence the main thrust of non-formal education is on eradication of illiteracy and consequent conscientisation.

The NAEP and After

On October 2, 1978, a massive time bound ambitious programme for the eradication of illiteracy was put forth by the Government of India. It aimed at helping 5 crores of illiterates in a time span of 5 years. The programme called NAEP (National Adult Education Programme) had literacy, functionality and conscientisation as its major objectives. The attempts could not bear fruit due to relapses on many sides. An interim evaluation committee headed by Dr. Kothari suggested changes in the modalities of NAEP. Consequent on this and the changes in regime at the centre, the programme had an untimely death. However, there came an alternative in item 16 of the new 20 pt. economic policy of the Government of India. According to a three pronged approach was suggested. (1) ensuring 100% enrolment in schools at the specified age 5+. (2) prevention of dropping out from the primary classes through appropriate measures (3) provision of non-formal

education for the adults and aged. If there three are simultaneously attempted and ensured the literacy rate can be considerably increased. Adult Education Centres have been started with this aims in view. But the centre based approach has its own advantages but limitations outweigh them. Hence the current thinking is on a mass programme for functional literacy (MPFL). This is again a non-formal approach.

College and University students and teachers have been requested to identify one to five adult learners from their locality or their neighbourhood and help them becomes literacy in about 6 months. The reduction in duration and multiplication in the number of volunteers are expected to solve the problems earlier than envisaged. Here identification of learners, implementation of the programme, their certification after the duration etc. are all non-formal. Hence at the moment *i.e.* from May 1, 1986, the MPFL is the most important non-formal education programme in India.

NFE for 6-14

Dropping out of the formal schools, especially at the primary level is a strange phenomenon in all Indian states. These dropped outs, in due course, relapse into illiteracy even if they were semi-literates at the time of their discontinuing studies. They add to the number of illiterates in India. Reasons are many for this dropping out. Socio-economic, cultural and health reasons are generally attributed. Suggestions have put forth for preventing this wastage. An alternative suggested is the provision of non-formal education for dropped outs *i.e.* of the age range 6 to 14. This is mostly

done in the schools, after school hours, with the cooperation of school teachers and voluntary workers. The main intention of this kind of non-formal education is to bring them back to the main stream at appropriate levels. At least relapsing into illiteracy can be prevented through this approach.

Children are allowed to pursue their studies at their pace and convenience and then enter the formal system at relevant stages. They are permitted to sit for class IV, VII and X examinations as private candidates along with the normal stream of regular students. This preparation whether done in schools or in non-formal education institutions or in small groups of tuition classes, can be formed 'non-formal'.

A system of parallel colleges have come to stay in Kerala to cater to the needs of all SSLC holders who could not get admission in the regular colleges. Further private registration is also allowed by most universities through their correspondence courses or direct. This kind of study also come under the title 'non-formal education', 'out of school education', 'own time education', 'continuing education', 'further education' etc.

Open University System

At the top of the educational pyramid is the University system. Indira Gandhi National Open University has been established at the Centre. In many states open universities have been established or are being established. This multimedia education system is partly non-formal and partly formal. But non-formality is more and hence is

listed under non-formal sector, at its climax. Irrespective of age and even without any previous entry qualification, one can register for Universities Degrees and work at his/her pace and obtain Degrees as and when they feel confident to take the test. This study can go along with one's occupation search for a job 'learn while you earn' can be practised here. In the formal system the slogan is just the reverse *i.e.* earn while you learn and children are persuaded to take up some socially useful productive activity (SUPVV).

Extension as Third Function

During 1981-86, non-formal education gained more acceptance and respectability in India consequent on the UGC's accepting extension as a third and equally important responsibility of the institutions of higher learning, along with teaching and research. By now 98 universities in India have established Departments/Centres for Adult, Continuing Education and Extension.

There are really non-formal education centres catering to the diverse needs of the community starting with literacy, going upto para professional and specialisation courses. Population education, Continuing education, Planning Forum, 'Legal literacy, Environmental education, Science for the Masses, National Integration and Peace Education are certain: allied programmes coming under the big umbrella of adult and continuing education. These are nothing but non-formal education, especially for the masses. In the teacher preparation programmes, especially at B. Ed. level, working with the Community has become one of the practical activities.

Thus non-formal education has come to stay even in the formal sector.

Non Academic Non-formal Sector

This does not mean that non-formal education is only for; academic subjects and as a substitute for formal education. It can be preparation for life through apprenticeship or practice in any vocation of one's choice. It can be training in occupation through one can improve his/her economic status. Extension lectures on various topics of contemporary relevance on science, literature, democracy etc. also can form part of non-formal education. The rural library service extended to the masses, helping them to ensure 'life long education' are also non-formal institutions. The 'community centres' envisaged in the 'new education policy' also are likely to cater to the Non-formal education needs of people.

References

- Carras, Mary C. : *Indira Gandhi in the Crucible of Leadership*, Boston, Beacon Press, 1979.
- Cenknor, William : *A Tradition of Teachers: Sankara and the Jagadgurus Today*, Delhi, Motilal Banarsidass, 1983.
- Chaklader, Snehamoy : *Sociolinguistics: A Guide to Language Problems in India*, New Delhi, Mittal, 1990.
- Chumbow, B.S. : *The Place of Mother Tongue in the National Policy of Education*, Port Harcourt, Nigeria, 1990.
- Das, Kamal Kishore : *Economic History of Moghul India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.
- Dent, K.S. : *Informal Agencies of Education: Proceedings of the 1977 Annual Conference of the History of Education Society of Great Britain*, Leicester, History of Education Society, 1979.

**Dept. of Education
Asst. Teacher, High School
Dhamdaha (Purnea)**